१०८ उपनिषद्

(साधना-खण्ड)

सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य,

चारों वेदों के भाष्यकार, गायत्री महाविद्या के
विशेषज्ञ तथा हिन्दी के लगभग
१५० ग्रन्थों के रचयिता

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान, बरेली

(उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक :
संस्कृति-संस्थान,
बरेली (उ० प्र०)

*

प्रथम संस्करण :
नवम्बर, १९६१

*

मुद्रक :
पं० पुरुषोत्तमदास कटारे
हरीहर प्रेस,
मथुरा

*

मूल्य :
सात रुपया

*

साधना खण्ड की—

उपनिषद्-सूची

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

इन सिद्धियो से भी मन हटा लेने पर दोषो का बीज नाश होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

यदि तत्रापेक्षास्यात् तदा मोक्षाद् भ्रष्ट
कथ कृतकृत्यताभियात्

—योग सुधाकर

यदि इन सिद्धियो की आकाक्षा रही तो साधक मोक्ष-पथ से भ्रष्ट हो जायगा । फिर उसे लक्ष्य प्राप्ति कैसे होगी ?

मन को भटकने न दिया जाय

साधना द्वारा आत्म-कल्याण की आकाक्षा करने वाले श्रेय-पथिको के लिए यह आवश्यक है कि वे वासना और तृष्णा के प्रति दिन-दिन उदासीन होना सीखे और आत्मिक सम्पदाओ का महत्व समझते हुए उनकी ओर अपना प्रेम बढावे । जिसके मन मे लोभ, मोह की जितनी प्रबलता रहेगी, वासना और तृष्णा मे जो जितना ही डूबा रहेगा, उसका मन भगवान मे उतना ही कम लगेगा । इसलिए उपनिषद् स्थान-स्थान पर यह कहते है कि मन को सासारिक प्रलोभनो और आकर्षणो से रोका जाय, उन्हे व्यर्थ और सारहीन वस्तु समझा जाय ।

शरीर आत्मा का वाहनमात्र है । उसे निरोग और प्रसन्न रखने के लिए जितनी अनिवार्य आवश्यकताऐ है उतने मे ही सन्तुष्ट रहा जाय । भौतिक सम्पदाऐ बढाने की अपेक्षा आत्मिक सद्गुणो की सम्पदाऐ बढाना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण है । यदि भौतिक प्रलोभनो मे मन को बहुत आकर्षण रहा तो सारा मनोबल, शरीरबल और समय उसी दिशा मे लगा रहेगा और आत्मिक प्रगति के यह तीनो ही साधन बहुत स्वल्पमात्रा मे बचेगे । फलस्वरूप सफलता भी थोडी सी ही मिलेगी ।

शरीर रक्षा और पारिवारिक व्यवस्था के लिए उचित मनोयोग लगाना, सुव्यवस्थित प्रयत्न करना, श्रम संलग्न होना आवश्यक है। इन कर्तव्यों की उपेक्षा करने के लिए कोई नहीं कहता। लौकिक कर्तव्यों का उचित सीमा में पालन करना आत्म साधना का ही एक भाग है। शरीर और परिवार भी हमारे आत्म कुटुम्ब के सदस्य ही हैं, उनकी उपेक्षा क्यों की जाय? ऐसी उपेक्षा से जीवन का स्वाभाविक और सामान्य क्रम अस्त-व्यस्त होता है तब आत्मिक प्रगति का मार्ग भी अवरुद्ध ही हो जाता है। इसलिए अतिवादियों की तरह जीवन के उचित उत्तरदायित्वों को वहन करने से इन्कार करना किसी भी विचारशील व्यक्ति के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। हमें अपने शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सभी कर्तव्य उचित रीति से पूर्ण करने चाहिए। पर उनमें इतना अधिक लोभ और मोह न हो कि आत्मिक कर्तव्यों की ओर उपेक्षा की जाने लगे और अनिच्छा उत्पन्न हो जाय।

जीवन का वास्तविक उद्देश्य और सच्चा लाभ आत्मिक प्रगति में ही है। उसकी ओर शारीरिक एवं सांसारिक कर्तव्यों की अपेक्षा कम नहीं वरन् अधिक ही ध्यान रहना चाहिए। क्योंकि शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्व निश्चित रूप से अधिक है। लौकिक जीवन सुखपूर्ण हो ऐसी इच्छा होना स्वाभाविक है पर आत्मिक शान्ति का महत्व नगण्य समझा जाय यह उचित नहीं, क्योंकि लौकिक जीवन क्षणिक और आत्मिक जीवन अनन्त है। क्षणिक सुखों के लिए, निस्सार वासनाओं और कभी तृप्त न हो सकने वाली मृगतृष्णाओं के पीछे भटकते हुए इस सुरदुर्लभ मानव जीवन को नष्ट कर देना और आत्मिक प्रगति की ओर से विमुख रहना कोई दूरदर्शिता का

कार्य नहीं है। यह तथ्य जब हम भली-भाँति समझलें तभी भौतिक और आत्मिक लाभों की तुलना करना और उनकी ओर उचित ध्यान दे सकना संभव हो सकेगा।

उपनिषद्कार इस बात पर बहुत बल देते हैं कि मन को सांसारिक कर्तव्यों के उचित मात्रा में पालन करने तक ही सीमित रहने दिया जाय। धन और वासना की जितनी उचित उपयोगिता है उतनी सीमा तक ही उनमें मनको डूबने दिया जाय। अति आकर्षण, अति मोह, अति लोभ में आजकल जन-मानस डूबा पड़ा है। इस स्थिति से ऊपर उठे बिना न तो आत्म-कल्याण का महत्व समझ में आवेगा और न उसमें मन ही लगेगा। फिर चिह्न–पूजा के रूप में कुछ साधना की भी तो उसका प्रतिफल भी वैसा ही नगण्य होगा।

आकर्षण की प्रधान धारा एक ही रह सकती है। यदि लौकिक तृष्णाऐं अधिक होंगी तो आत्म-उद्धार के लिए तत्परता कहाँ से होगी? और यदि आत्मिक लक्ष है तो तृष्णा और वासना में निरन्तर निमग्न रहना कैसे निभेगा? दोनों में से एक को प्रमुखता देनी पड़ेगी। उपनिषदों में आत्मलक्ष्य को प्रमुखता देने और मन को लौकिक आकर्षणों से बचाने का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन हुआ है। इसीको सदाचार, तप, संयम, मनोनिग्रह, कर्मयोग आदि नामों से पुकारा जाता है। साधना-मार्ग में यह महत्वपूर्ण तथ्य है जिसकी उपेक्षा करके आगे बढ़ सकना किसी के लिए भी संभव नहीं होता। मन को पवित्र रखने, इन्द्रियों में आसक्त न होने, अपवित्रता और पाप वृत्तियों में न डूबने का पवित्र कर्तव्य उपनिषदों में जगह-जगह प्रतिपादित हुआ है और आस्तिकता, तपश्चर्या, कर्तव्यनिष्ठा

एवं परमार्थ परायणता की ओर मन को बलपूर्वक प्रेरित करते रहने के लिए बहुत जोर दिया गया है।

ऐसी प्रेरणाओं के कुछ निर्देश इस प्रकार हैं :—

"जब हृदय में रहने वाली कामनाऐं नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य ही अमृत हो जाता है और उसे इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।"

—बृहदारण्यक, अध्याय ४ ब्राह्मण ४

"मन ही संसार है, प्रयत्नपूर्वक इस मन को ही शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा मन होता है वह वैसा ही बन जाता है। शान्त मन वाला व्यक्ति ही आत्मा को तथा अक्षय आनन्द को प्राप्त करता है, यही सनातन रहस्य है।"

—मैत्रेयी उपनिषद्

"इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने के कारण अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होता है। यदि वे ही इन्द्रियाँ भली प्रकार वशीभूत हो जाँय तो वह सिद्धिदायिनी होती है। भोगों का उपयोग करने से विषयों की कामनाऐं कभी शान्त नहीं होतीं। भोग तो घृत द्वारा अग्नि के अधिक प्रदीप्त होने के समान उनकी वृद्धि ही करते हैं।"

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्

"जिनके मन-वाणी में पवित्रता है जो सदा दोष रहित हैं, वे ही मनुष्य वेदान्त को सुनकर उसका पूरा फल पा सकते हैं।"

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्

"तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत ये दश नियम हैं।"

—शाण्डिल्य उपनिषद्

"जो चित् शक्ति, इच्छा और अनिच्छा वाले प्राणियों में विद्यमान है वह मलों से घिरी है और पाशबद्ध चिड़िया की तरह उड़ने में असमर्थ होती है। इच्छा और द्वेष से उत्पन्न द्वन्द्वभाव के कारण ये प्राणी मोह-वश पृथिवी रूपी गढ़े में गिरे हुए कीट पतंगों के तुल्य ही हैं।"

—संन्यास उपनिषद्

"मन ही मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का तथा जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।"

—शाट्यायनीयोपनिषद्

"मन के मैल को त्याग करना ही स्नान है। मन और इन्द्रियों को वश में करना ही पवित्रता है। शारीरिक मलों की शुद्धि मिट्टी जल आदि से होती है। यह तो लौकिक शुद्धि है, वास्तविक पवित्रता तो मोह और अहङ्कार का त्याग करने से ही होती है। ज्ञान रूप मिट्टी तथा वैराग्य रूप जल,में धोने पर जो पवित्रता होती है वही वास्तविक पवित्रता है।"

—मैत्रेयी उपनिषद्

"तप द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान से मन वश में आता है। मन वश में होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और तब संसार से छुटकारा मिल जाता है।.........मनुष्य का चित्त जितना बाहरी विषयों में आसक्त रहता है उतना ही अगर ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो बंधनों से मुक्ति सहज हो

है"। मुनि ने का बताया हुआ यह तथ्य हम सब के लिए विचारणीय और मननीय है ।"

—मैत्रेयी उपनिषद्

"यह पराविद्या सत्य, तप और ब्रह्मचर्य से वेदान्त-मार्ग द्वारा प्राप्त होती है । जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, जिनके दोष क्षीण होगये हैं, वे ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा को देख सकते हैं। माया में फँसे हुए उनको नहीं देख सकते ।"

—पाशुपतब्रह्मोपनिषद्

मन को कम महत्व की निस्सार बातों में भटकने से रोक कर उसे परम कल्याणकारक आत्म-पथ पर अग्रसर करने के लिए उपनिषदों का विशेष आग्रह है। साधना का यही महत्वपूर्ण अङ्ग भी है।

—❀—

जैसा अन्न वैसा मन

आत्म-कल्याण के पथ पर चलने का प्रधान आधार 'अन्न-शुद्धि' को माना गया है, क्योंकि उसी पर मन की शुद्धि निर्भर है। मन को शरीर का ही एक भाग माना गया है, उसे ग्यारहवीं इन्द्रिय भी कहते हैं। शरीर की उन्नति अवनति बहुत कुछ आहार पर निर्भर रहती है । आहार के शरीर-पोषक स्थूल तत्वों को हम सभी जानते हैं। किस वस्तु के खाने से शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है विज्ञान द्वारा इसकी बहुत कुछ खोज हो चुकी है, पर अभी यह खोज होनी शेष है कि किस-किस आहार में कौन-कौन सूक्ष्म गुण विद्यमान हैं और उसका मनोभूमि के उत्थान-पतन पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

अध्यात्म-विद्या के वैज्ञानिक ऋषियों ने आहार के सूक्ष्म

गुणों का अत्यन्त गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था और यह पाया था कि प्रत्येक खाद्य-पदार्थ अपने में सात्विक, राजसिक और तामसिक गुण धारण किये हुए है और उनके खाने से मनोभूमि का निर्माण भी वैसा ही होता है। साथ ही यह भी शोध की गई थी कि आहार में निकटवर्ती स्थिति का प्रभाव ग्रहण करने का भी एक विशेष गुण है। दुष्ट, दुराचारी, दुर्भावनायुक्त या हीन मनोवृत्ति के लोग यदि भोजन पकावें या परसें तो उनके वे दुर्गुण आहार के साथ सम्मिश्रित होकर खाने वाले पर अपना प्रभाव अवश्य डालेंगे। न्याय और अन्याय से, पाप और पुण्य से कमाये हुए पैसे से जो आहार खरीदा गया है उससे भी वह प्रभावित रहेगा। अनीति की कमाई से जो आहार बनेगा वह भी अवश्य ही उसके उपभोक्ता को अपनी बुरी प्रकृति से प्रभावित करेगा।

इन बातों पर भली प्रकार विचार करके उपनिषदों के ऋषियों ने साधक को सतोगुणी आहार ही अपनाने पर बहुत जोर दिया है। मद्य, मांस, प्याज, लहसुन, मसाले, चटपटे, उत्तेजक, नशीले, गरिष्ठ, बासी, बुसे, तमोगुणी प्रकृति के पदार्थ त्याग देने ही योग्य हैं। इसी प्रकार दुष्ट प्रकृति के लोगों द्वारा बनाया हुआ अथवा अनीति से कमाया हुआ आहार भी सर्वथा त्याज्य है। इन बातों का ध्यान रखते हुए स्वाद के लिए या जीवन रक्षा के लिए जो अन्न औषधि रूप समझ कर, भगवान का प्रसाद मानकर ग्रहण किया जायगा वह शरीर और मन में सतोगुणी स्थिति पैदा करेगा और उसी के आधार पर साधना-मार्ग में सफलता मिलनी संभव होगी।

उपनिषदों में इस संबंध में अनेकों आदेश भरे पड़े हैं। जैसे :—

"खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग है वह मल बनता है, जो मध्यम भाग है वह मांस बनता है और जो सूक्ष्म भाग है सो मन बन जाता है। पिया हुआ जल तीन प्रकार का हो जाता है। उसका जो स्थूल भाग है वह मूत्र हो जाता है जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है, जो सूक्ष्म भाग है वह प्राण हो जाता है।...... हे सौम्य! मन अन्नमय है। प्राण जलमय है। वाक् तेजोमय है।"

—छान्दोग्य, अध्याय ६ खंड ५

"अन्न ही बल से बढ़कर है। इसीसे यदि दस दिन भोजन न मिले तो प्राणी की समस्त शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और वे फिर तभी लौटती है जब वह पुनः भोजन करने लगे। तुम अन्न की उपासना करो। यह अन्न ही ब्रह्म है।"

—छान्दोग्य, अध्याय ६ खंड ९

"आहार में अभक्ष्य त्याग देने से चित्त शुद्ध हो जाता है। आहार शुद्धि से चित्त की शुद्धि स्वयमेव हो जाती है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो क्रम से ज्ञान होता जाता है और अज्ञान की ग्रन्थियाँ टूटती जाती है।"

—पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्

"आहार शुद्ध होने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है अन्तःकरण शुद्ध होने से भावना दृढ़ हो जाती है और भावना की स्थिरता से हृदय की समस्त गांठें खुल जाती हैं।"

—छान्दोग्य

तैत्तरीय उपनिषद् में इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डाला गया है और आत्मकल्याण के इच्छुकों को आहार-शुद्धि की विशेष रूप से ध्यान रखने का निर्देश किया गया है।

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवी ँ श्रिताः । अथो अन्ने नैव जीवन्ति । अथैनदपियन्त्यन्ततः । अन्न ँ हि भूतानां जेष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधयमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्तुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते ।

"इस पृथ्वी पर रहने वाले समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। फिर अन्न से ही जीते हैं। अन्त में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं । अन्न ही सबसे श्रेष्ठ है। इसलिए वह औषधि रूप कहा जाता है। जो साधक अन्न की ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं वे उसे प्राप्तकर लेते हैं।"

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्यो॰ऽन्तर आत्मा प्राणमयः ।
तेनैष पूर्णः । सवा एष पुरुष विध एव ।

—तैत्तरीय २ । २

"इस अन्न रसमय शरीर के भीतर जो प्राणमय पुरुष है वह अन्न से व्याप्त है। यह प्राणमय पुरुष ही आत्मा है ।"

अन्नं न निन्द्यात् । तद् व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान भवति । प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान कीर्त्या ।

—तैत्तरीय ३ । ७

"अन्न की निन्दा न करे। यह व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर प्राण पर आधारित्त है । इसलिए वह अन्न में ही स्थित है। जो मनुष्य यह जान लेता है कि मैं अन्न में ही प्रतिष्ठित हूँ वह प्रतिष्ठावान् हो जाता है। अन्नवान् हो जाता है। प्रजावान् हो जाता है, पशुवान् भी । वह ब्रह्मतेज से सम्पन्न होकर महान् बनता है। कीर्ति से सम्पन्न होकर भी महान् बनता है ।"

आगे चलकर अष्टम अनुवाक में और भी निर्देश है—

अन्नं न परिचक्षीत । तद् व्रतम् ।········ अन्नं बहु कुर्वीत तद् व्रतम् ।

"अन्न की अवहेलना न करे । यह व्रत है । अन्न को बहुत बढ़ावे । यह व्रत है ।"

हा३वु, हा३वु, हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो ३ऽहमन्नादो ३ऽहमन्नादः ।

—तैत्तिरीय ३ । १०

"आश्चर्य ! आश्चर्य !! आश्चर्य !!! मैं अन्न हूँ ! मैं अन्न हूँ ! मैं अन्न हूँ ! मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ । मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ ।"

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्थीनां विप्र मोक्ष स्तस्यै मृदित कषायाय तमसस्पादर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ।

"जब आहार शुद्ध होता है तब सत्व यानी अन्तःकरण शुद्ध होता है । अन्तःकरण शुद्ध होने पर विवेक बुद्धि ठीक काम करती है । उस विवेक से अज्ञानजन्य बन्धन-ग्रन्थियाँ खुलती हैं । फिर परम-तत्व का साक्षात्कार हो जाता है । यह ज्ञान नारद को भगवान् सनत्कुमार ने दिया ।"

अथर्ववेद में अनुपयुक्त अन्न को त्याज्य ठहराया गया है । प्राचीनकाल में हर व्यक्ति आहार ग्रहण करने से पूर्व यह देखता था कि यह अन्न किस प्रकार के व्यक्ति द्वारा उपार्जित एवं निर्मित है । उसमें थोड़ा भी दोष होने पर उसे त्याग दिया जाता था । केवल पुण्यात्माओं का अन्न ही लोग स्वीकार करते

थे। किसी के पुण्यात्मा होने की एक कसौटी यह भी थी कि लोग उसका अन्न ग्रहण करते हैं या नहीं।

अथर्ववेद ६। ६। २५ में कहा गया है :—

सर्वौ वा एष जग्ध पाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति।

"अर्थात्, वही व्यक्ति पुण्यात्मा है जिसका अन्न दूसरे खाते हैं।"

आज भी पुरानी वह प्रथा देहाती क्षेत्रों में किसी रूप में प्रचलित है कि जिसके आचरण अनुचित समझे जायँ उसके यहाँ का अन्न जल ग्रहण न किया जाय। जातिच्युत होने में यही दंड मुख्य होता है।

वाल्मीकि रामायण में अन्तःकरण को देवता के रूप में प्रस्तुत करते हुए इसी प्रकार का प्रतिफल किया गया है, लिखा है :—

"यदन्न पुरुषो भवति तदन्ना स्तस्य देवताः।"

"अर्थात् मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसा ही उसके देवता खाते हैं।"

कुधान्य खाकर साधना करने से साधक का इष्ट भी भ्रष्ट हो जाता है और उससे जिस प्रतिफल की आशा की गई थी वह प्रायः नहीं ही प्राप्त होता।

प्राण और उसका निग्रह

ब्रह्म की उपासना में प्राण साधना का अत्यधिक महत्व है। आत्मा ईश्वर का अंश होने से साक्षी, द्रष्टा और निर्लिप्त है। उसकी शक्ति प्राण है और इस प्राण-शक्ति के आधार पर ही जीव का सारा जीवनक्रम संचालित होता है। जैसे निर्लिप्त ब्रह्म की क्रिया-शक्ति माया या प्रकृति है उसी प्रकार जीव की सक्रियता प्राण-शक्ति में सन्निहित है।

जिस प्रकार पंचतत्वों के हेर-फेर से शरीर में विविध प्रकार के परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार आत्मिक क्षेत्र में प्राण की स्थिति में हेर-फेर होने से मनोभूमि में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। चूंकि अनेक जन्मों के संग्रहीत कुसंस्कारों के कारण मन में कितनी ही विकृतियाँ भरी रहती हैं और वे साधक को पथभ्रष्ट करने के लिए निरन्तर दुरभिसंधि करती रहती हैं। मन का उच्चाटन, जहाँ-तहाँ घूमना, निर्दिष्ट लक्ष्य पर स्थिर न होना आदि विघ्नों के शमन का एक महत्वपूर्ण उपाय प्राणों का निरोध है। इसी प्रकार जो कुसंस्कार मन को सन्मार्ग पर चलने से डराते और कुमार्ग की ओर ललचाते हैं उन्हें नियंत्रित करने का सुनिश्चित शस्त्र भी प्राण-संयम ही है। सत्संग, स्वाध्याय, चिन्तन, मनन से कुविचारों को बहुत हद तक शान्त किया जा सकता है, पर अन्तर्मन के प्रसुप्त क्षेत्र में जो कुसंस्कारों की ग्रन्थियाँ जमी होती हैं वे अवसर पाते ही पुनः जागृत हो जाती हैं और सत्संग आदि से संग्रहीत ज्ञान देखते-देखते तिरोहित हो जाता है।

कई बार ज्ञानी और गुरु कहे जाने वाले लोग भी कुमार्गगामी होते देखे गये हैं। इसका कारण यही है कि उनने सद्विचारों को सुना समझा तो बहुत था पर प्राण-निग्रह द्वारा गुप्त मन की संस्कार ग्रन्थियों का शमन नहीं किया था। फलस्वरूप वे अवसर पाते ही सजीव हो उठीं और आँधी-तूफान जिस प्रकार घास के ढेर को उड़ा ले जाता है उसी प्रकार कुसंस्कारों का प्रवाह उस संग्रहीत ज्ञान को उड़ा ले गया।

मनोभूमि को शोधने और चिर संचित कुसंस्कारों का उन्मूलन करने के लिए प्राणायाम का बड़ा महत्व है। उपनिषदों में वर्णित साधना विधान में प्राणायाम को प्रमुख स्थान दिया

गया है। साधना-खंड के अधिकांश उपनिषदों में किसी न किसी रूप में प्राणायाम का वर्णन हुआ है। यद्यपि वह संक्षिप्त है और विविध प्राणायामों का पूरा साधन-विधान जानने के लिए अनुभवी गुरु अथवा तत्संबंधी अन्य विवेचनात्मक ग्रन्थों के पढ़ने की आवश्यकता होती है, तो भी यह निर्विवाद है कि उपनिषदों का साधना-विज्ञान प्राणायाम को अपनी साधना में सम्मिलित रखने के लिए प्रत्येक ब्रह्मपरायण व्यक्ति पर जोर देता है। किस प्रयोजन के लिए, किस विधि विधान के साथ कौन-सा प्राणायाम कितनी मात्रा में, किस समय किया जाय यह प्रश्न साधकों की व्यक्तिगत स्थिति की भिन्नता पर निर्भर है। इसलिए उसकी एक विधि बता देना भी कठिन था। उपनिषद्कारों ने इस कठिनाई को समझते हुए प्राण विद्या की साधना विषयक विविध प्रक्रियाओं की बारीकी में जाना उचित नहीं समझा है और इस कार्य को गुरु शिष्य के परस्पर विचार विनिमय एवं विवेक पर छोड़ दिया है। पर एक बात पर पूरा-पूरा जोर दिया है कि हर साधक किसी न किसी रूप में प्राणायाम की साधना नित्य नियमित रूप से किया करे।

प्राणायाम का प्रभाव कुसंस्कारों के शमन और मन के निग्रह तक ही सीमित नहीं है, वरन् आरोग्य की वृद्धि, मानसिक विकाश, आत्मिक प्रगति तथा अनेकों प्रकार की आध्यात्मिक चमत्कारी सिद्धियाँ भी उससे संबंधित हैं। प्राणायाम करने से अनेकों प्रकार के कठिन रोग दूर हो सकते हैं। षटचक्रों, सूक्ष्म ग्रन्थियों तथा उपत्यिकाओं का जागरण होने से दिव्य सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं, लौकिक सुख सम्पदाओं का द्वार खुलता है और जो बन्धन आत्मा को निविड़ पाश में जकड़े हुए हैं उनका कटना सहज हो जाता है।

इस प्रकार की अनेकों विवेचनाऐं उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती हैं। उनमें से कुछ नीचे देखिए :—

"स्वर्णादि धातुओं का मल उन्हें तपाने से दूर होने के समान ही इन्द्रियों द्वारा प्राप्त दोष प्राणायाम से दूर हो जाते हैं। प्राणायाम से दोषों को और धारणा से पापों को जला डालें।.........जिस साधक का प्राण इस मण्डल को वेध कर मस्तक में पहुँच जाता है उसकी कहीं भी मृत्यु नहीं होती, वह पुनर्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता।"

—अमृतनादोपनिषद्

"प्राणायाम पाप-रूपी ईंधन के लिए अग्निस्वरूप है और संसार-सागर से पार होने के लिए सेतु के समान है। आसन से रोगों का नाश होता है और प्राणायाम से पापों का। योगी के मन के विकार प्रत्याहार से दूर हो जाते हैं। धारणा से मन में धैर्य आता है, समाधि द्वारा अद्भुत चैतन्य की प्राप्ति होती है।"

—योगचूडामणि उपनिषद्

"प्राणायाम का अभ्यास होने से सब रोग दूर हो जाते हैं। हिचकी, खाँसी, श्वास, सिर, कान और आँख की पीड़ा आदि विविध प्रकार के रोगों का कारण वायु का विकार ही होता है। जिस प्रकार सिंह, हाथी, व्याघ्र आदि को धीरे-धीरे वश में किया जाता है उसी प्रकार वायु को भी क्रमशः वश में करना चाहिए।"

—योगचूडामणि उपनिषद्

"इस प्रकार तीन वर्ष तक प्राणायाम करने वाला योग-सिद्ध हो जाता है। वह योगी वायु को जीतने वाला, जितेन्द्रिय,

अल्प आहार, स्वल्प निद्रा वाला, तेजस्वी तथा बलवान होता है। अकाल मृत्यु का भय मिट कर दीर्घ आयु प्राप्त होती है।.........सामान्य प्राणायाम से व्याधि और पापों का नाश होता है। विशेष से महाव्याधियाँ तथा पाप-रोग मिटते हैं, उत्कृष्ट से अल्प मूत्र, अल्प-मल, शरीर की लघुता, अल्प भोजन होता है। इन्द्रियाँ और बुद्धि तीव्र हो जाती हैं और तीनों काल का ज्ञान हो जाता है।

नाभिकन्द में प्राण धारण करने से कुक्षि रोग नष्ट होते हैं। नासाग्र में धारण करने से दीर्घायु और देह की लाघवता प्राप्त होती है। ब्रह्ममुहूर्त में जिह्वा से वायु को खींचकर पीने से वाक् सिद्धि प्राप्त होती है। शरीर का जो अङ्ग रोग पीड़ित हो, उस में वायु को धारण करने से वह निरोग हो जाता है।

जिसका प्राणवायु क्रम से चलता है वह प्राणजित हो जाता है; फिर वह दिन, रात्रि, पक्ष, मास, अयन आदि के काल भेद को अन्तर्मुख होकर जानने लगता है।"

—त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्

"उज्जायी प्राणायाम से मस्तक की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक रोग दूर होते हैं। देह की अग्नि की वृद्धि होती है। इससे नाडी संबंधी जलोदर और धातु संबंधी रोग भी दूर हो जाते हैं। शीतली प्राणायाम से गुल्म, प्लीहा, पित्त, ज्वर, तृष्णा आदि दूर होते हैं। भस्त्रिका प्राणायाम से कण्ठ की जलन मिटती है, शरीर की अग्नि बढ़ती है, कुण्डलिनी जागती है और पुण्यप्रद पाप-नाशक शुभ तथा सुखदायक है।"

—योगकुण्डल्युपनिषद्

"हृदय के पाँच देव सुषि (छिद्र) हैं। जो पूर्व दिशा-वर्ती छिद्र है सो प्राण है। जो उसकी उपासना करता है वह तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। दक्षिण छिद्र व्यान है। जो उसकी उपासना करता है वह श्रीमान और यशस्वी होता है। पश्चिम छिद्र अपान है जो उसकी उपासना करता है वह ब्रह्म-तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। इसका उत्तरी छेद 'समान' है। जो इसकी उपासना करता है वह कीर्तिमान और कान्तिमान होता है। ऊर्ध्वछिद्र उदान है। जो उसकी उपासना करता है वह ओजस्वी और तेजस्वी होता है। यह पाँच प्राण ब्रह्मपुरुष के द्वारपाल हैं, जो उन्हें जानता है उसके कुल में वीर उत्पन्न होता है। उसे स्वर्गलोक प्राप्त होता है।"

—छांदोग्य, अध्याय ३ खंड १३

"जैसे हाथों से इधर-उधर फेंकी हुई गेंद दौड़ती रहती है उसी प्रकार प्राण और अपान वायु के फेंकने से जीव को कहीं विश्राम-स्थान नहीं मिलता। अपान, प्राण को खींचता है और प्राण, अपान को खींचता है उसी प्रकार जैसे रस्सी से बँधा हुआ पक्षी खींच लिया जाता है। इस रहस्य को जो जानता है वह योगी है।"

—ध्यानबिन्दु उपनिषद्

"चित्त की चञ्चलता के दो भाग होते हैं, एक वासना दूसरा प्राण। इनमें से एक के वश में होने से दूसरा वश में हो जाता है। इनमें से पहले प्राण को वश में करना चाहिए।"

—योगकुण्डल्युपनिषद्

"हे सौम्य, जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ पंछी अनेक दिशाओं में घूमकर फिर अपने बन्धन स्थान पर ही लौट आता है, उसी प्रकार यह मन भी अनेक दिशाओं में घूमकर भी कहीं आश्रय नहीं पाता और अन्त में प्राण का ही सहारा लेता है। क्योंकि यह मन प्राण से ही बँधा हुआ है।"

—छान्दोग्य उपनिषद्

'योग वाशिष्ठ' आदि अन्य ग्रन्थों में भी प्राणायाम द्वारा मन का निग्रह एवं आत्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होने का प्रतिपादन किया गया है।

यथाः—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनःप्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ।

—योगवाशिष्ठ ५ । ७८ । ४६

"अभ्यासके द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और तब केवल निर्वाण ही शेष रहता है।"

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिल; ।
प्राणानिल परिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ।

—योगवाशिष्ठ ६ । ६९ । ४१

"जैसे पंखा बन्द कर देने से हवा की गति रुक जाती है वैसे ही प्राण के निरोध से निश्चय ही मन शान्त हो जाता है।"

प्राण शक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते ।
द्रव्यच्छायानु तद्द्रव्यं प्राणरूपं हिनसम् ।

—योगवाशिष्ठ ५ । १३ । ८३

"हे राम, प्राण शक्ति का निरोध होने से मन का निरोध

हो जाता है। जैसे अन्य पदार्थों की अपनी छाया होती है वैसे ही प्राण की छाया मन है।"

राज्यादि मोक्षपर्यन्ताः समस्ता एव सम्पदः।
देहानिलविधेयत्वात्साध्याः सर्वस्य राघव।

—योगवाशिष्ठ ६ । ८० । ३५

"हे राम, प्राणों को वश में कर लेनेसे मनुष्य राज्य-प्राप्ति से लेकर मोक्ष-प्राप्ति तक की समस्त सिद्धि सम्पदाएं प्राप्त कर सकता है।"

द्वे बीजे चित्त वृक्षस्य प्राणस्पन्दन वासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपिनश्यतः।

—योगवाशिष्ठ

"चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं–एक प्राण दूसरावासना। इन दोनों में से एक क्षीण (सूक्ष्म) होने से दूसरा भी वैसा ही हो जाता है।"

चले वाते चलञ्चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

"प्राण वायु चलने से मन चंचल रहता है और प्राण के निश्चल होने पर मन निश्चल हो जाता है।"

निष्कलं तं विजानीयात् श्वासोयत्र लयं गतः।
यन्मनो विलयं याति तद् विष्णोर्परमं पदम्।

"जब श्वास का लय हो जाता है तो वह स्थिति निष्कल कहलाती है। मन का लय होना ही विष्णु का परमपद है।"

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्,
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्।
प्राणोमनोद्वयमिदं विलयं नयेद्यो,
मोक्षं स गच्छति नरो नकथञ्चिदन्यः।

"तब तक ज्ञान कैसे प्राप्त होगा जब तक कि मन न मरेगा ? और मन के साथ-साथ प्राण भी जीवित रहता है। जो प्राण और मन दोनों का विलय कर देता है वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है और कोई नहीं।

पवनोलीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।

"जब प्राणवायु संयम में आ जाता है तब मन भी स्थिर हो जाता है।"

प्राणवृत्तौ विलीनायां मनोवृत्तिर्विलीयते।

—बोधसार

"प्राणवृत्ति के विलीन होने से मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है।"

साधना में गुरु की आवश्यकता और उपयोगिता

यों सभी महत्वपूर्ण विद्याएं गुरु के माध्यम से प्राप्त की जाती हैं, पर ब्रह्मविद्या का प्रवेश-द्वार तो अनुभवी मार्ग-दर्शक के द्वारा ही खुलता है। अक्षरारंभ यद्यपि हमारी दृष्टि में एक सामान्य-सी बात है पर छोटा बालक उस कार्य को अध्यापक की सहायता के बिना अकेला ही पूर्ण करना चाहे तो नहीं कर सकता भले ही वह कितना ही मेधावी क्यों न हो। गणित, शिल्प, सर्जरी, साइंस, यंत्र-निर्माण आदि सभी महत्वपूर्ण कार्य अनुभवी अध्यापक ही सिखाते हैं। कोई छात्र, शिक्षक की आवश्यकता न समझे और स्वयं ही यह सब सीखना चाहे तो

उसे कदाचित ही सफलता मिले । रोगी को अपनी चिकित्सा कराने के लिए किसी अनुभवी चिकित्सक की शरण लेनी पड़ती है, यदि वह अपने आप ही इलाज करने लगे तो उसमें भूल होने की संभावना रहेगी, क्योंकि अपने सम्बन्ध में निर्णय करना हर व्यक्ति के लिए कठिन होता है ।

अपनी निज की त्रुटि, अपूर्णता, बुराई, स्थिति एवं प्राप्ति के बारे में कोई विरला ही सही अनुमान लगा सकता है [जिस प्रकार अपना मुंह अपनी आँखों से नहीं देखा जा सकता, उसके लिए दर्पण की या किसी दूसरे से पूछने की सहायता लेनी पड़ती है तभी कुछ जान सकना संभव होता है, उसी प्रकार अपने दोष-दुर्गुणों का, मनोभूमि का, आत्मिक-स्तर का एवं प्रगति का भी पता अपने आप नहीं चलता, कोई अनुभवी ही इस संबंध में विश्लेषण कर सकता है और उसीके द्वारा उद्धार एवं कल्याण का मार्ग-दर्शन किया जा सकता है] जिसने कोई रास्ता स्वयं देखा है कोई मञ्जिल स्वयं पार की है वही उस रास्ते की सुविधा-असुविधाओं को जानता है, नये-पथिक के लिए उसी की सलाह उपयोगी हो सकती है । बिना किसी से पूछे स्वयं ही अपना रास्ता आप बनाने वाले संभव है मञ्जिल पार करलें, पर निश्चित रूप से उन्हें कठिनाई बहुत उठानी पड़ेगी और देर भी बहुत लगेगी । इसलिए जब तक सर्वथा असंभव ही न हो जाय तब तक मार्ग-दर्शक की तलाश करना ही उचित है । उसीके सहारे आध्यात्मिक यात्रा सुविधापूर्वक पूर्ण होती है ।

भौतिक शिक्षाओं के शिक्षक अपने विषय की जानकारी देकर अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हैं, पर अध्यात्म-मार्ग में इतने से ही काम नहीं चल सकता । वहाँ शिक्षा ही पर्याप्त नहीं, वरन् गुरु द्वारा दिया हुआ आत्मबल भी दान या प्रसाद रूपमें उपलब्ध

करना पड़ता है। जिस प्रकार कोई रोगी चिकित्सक की शिक्षा मात्र से अच्छा नहीं हो सकता उसे चिकित्सक से औषधि भी प्राप्त करनी पड़ती है उसी प्रकार सच्चे गुरु न केवल आत्म-कल्याण का मार्ग बताते हैं वरन् उस पर चल सकने योग्य साहस, बल और उत्साह भी देते हैं। यह देन तभी संभव है जब गुरु के पास अपनी संचित आत्म-सम्पदा पर्याप्त मात्रा में हो। इसलिए गुरु का चयन और वरण करते समय उसकी विद्या ही नहीं आत्मिक-स्तर और तप की संग्रहीत पूंजी को भी देखना पड़ता है। यदि यह सभी गुण न हों तो कोई व्यक्ति अध्यात्म-मार्ग का उपदेष्टा भले ही कहा जा सके पर गुरु नहीं बन सकता। गुरु के पास साधना, तपस्या, विद्या एवं आत्मबल की पूंजी पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए। साधक को ऐसा गुरु तलाश करना पड़ता है और उसी के मार्ग-दर्शन में अपना रास्ता बनाना पड़ता है।

गुरु की महत्ता एवं योग्यता, शिष्य की पवित्रता एवं कुपात्रता, गुरु के प्रति भक्ति-भावना रखना, उनके आदर्श का अनुसरण करना आदि आवश्यक तथ्यों पर उपनिषदों में अनेक प्रसङ्ग मिलते हैं। वे सभी मननीय एवं विचारणीय हैं। देखिए :—

"वेद सम्पन्न आचार्य, ईश्वर-भक्त, मत्सरता रहित, योग-ज्ञाता, योग-निष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मा में विशेष रूप से लीन इन लक्षणों से युक्त गुरु कहा जाता है। 'गु' शब्द का अर्थ है—अन्धकार। और 'रु' शब्द का अर्थ है—रोकने वाला। अन्धकार को दूर करने से गुरु होता है।

"गुरु ही परब्रह्म है। गुरु ही परमगति है। गुरु ही

पराविद्या है। गुरु ही परायणयोग्य है। गुरु ही पराकाष्ठा है। गुरु ही परमधन है । वह उपदेष्टा होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है।"

—अद्वयतारक उपनिषद्

"जो इन्द्रियो को जीतने वाला, ब्रह्मचारी गुरुभक्त हो उसी के सम्मुख यह रहस्य प्रकट करना उचित है।"

—हंसोपनिषद्

"जो शिक्षा प्राप्त करके भी मन, कर्म, वचन से भी गुरुजनो का आदर नहीं करते, उनके अन्न को कोई कल्याण-इच्छुक स्वीकार नहीं करता । न गुरुजन और न यति ही उस कृतघ्नी के अन्न को खाते है। गुरु ही परमधर्म है । गुरु ही परमगति है। जो उनका सम्मान नहीं करता उसकी विद्या, तपस्या सभी धीरे-धीरे ऐसे क्षीण हो जाती है जैसे कच्चे घडे मे जल। जैसी भक्ति देव मे वैसी ही गुरु मे होने से ब्रह्मज्ञानी परमपद को प्राप्त करता है ऐसा वेदानुशासन है, ऐसा ही वेद–विधान है।"

—शाट्यायनीयोपनिषद्

"गुरु जो आदेश दे उसका पालन शिष्य को बिना विचारे संतोषयुक्त भाव से करना चाहिए । इस विद्या को गुरु से प्राप्त करे । गुरु की सदा सुश्रूषा करे इसीसे मनुष्य का सच्चा-कल्याण होता है।·· ···· श्रुति मे कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् हरि है, कोई अन्य नहीं । यह विद्या उसी को देनी चाहिए जो गुरु का सच्चा-भक्त हो, नित्य भक्ति परायण रहे। अन्य किसी को नहीं देनी चाहिए। यदि कोई देगा तो देने वाला नरक को जायगा और सिद्धि भी नहीं मिलेगी।"

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

"इस पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुए महाशास्त्र को चाहे जिस किसी को न देना चाहिए। नास्तिक, कृतघ्न, दुर्वृत्त, दुरात्मा, दाम्भिक, नृशंस, शठ, असत्यभाषी को इसे कदापि न दे। जो सुव्रतधारी, सच्चा-भक्त, शुद्धवृत्ति वाला, सुशील, गुरुभक्त, शमदम वाला, धर्मबुद्धि वाला, ब्रह्मचर्य में चित्त लगाने वाला, भक्ति-भावना वाला हो, कृतघ्न न हो उसी को इसे देना चाहिए। यदि ऐसा न मिले तो किसी को न देकर उसकी रक्षा करनी चाहिए।"

—शरभोपनिषद्

"यह ज्ञान शङ्कर का महान शास्त्र है। उसे जो कोई नास्तिक, कृतघ्नी, दुराचारी, दुरात्मा हो उसको नहीं देना। पर जिसका अन्तःकरण गुरु-भक्ति से शुद्ध हो, ऐसे व्यक्ति को एक महीना, छै महीना या वर्ष भर तक परीक्षा करने के उपरान्त ही इस शास्त्र को देना।"

—तेजोबिन्दु उपनिषद्

"यह ब्रह्म का उपनिषद् उसे नहीं देना चाहिए जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष पास न रहा हो। अनजान कुलशील वाले को भी नहीं देना चाहिए और न सुनाना चाहिए। जिसको परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान ही गुरु के ऊपर परमभक्ति हो उसी के लिए ये वाक्य कहे गये हैं और ऐसी आत्मा को ही ये प्रकाशवान् करते हैं।"

—सुवाल उपनिषद्

अन्य ग्रन्थों में भी इस संबंध में बहुत कुछ कहा गया है। वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। गुरु की महत्ता को प्रायः सभी धर्म ग्रन्थों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! प्राप्यवरान् निरोधत ।

—ऋग्वेद

"उठो, जागो, सद्-गुरुओं द्वारा यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करो।"

गुरुपदेशतो ज्ञेयं नच शास्त्रार्थ कोटिभिः

"केवल शास्त्रों के आधार पर नहीं इस विद्या को गुरु द्वारा ही सीखे।"

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठम् ।

"उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर जावे।"

गुरु वरण करने का तात्पर्य उस व्यक्ति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को जोड़ देना है। जिस प्रकार किसी बड़े तालाबके साथ छोटे तालाबको एक नालीके द्वारा जोड़ दिया जाय तो बड़े तालाब का पानी छोटे में भी आने लगता है और वह तब तक नहीं सूखता जब तक कि बड़ा तालाब भी न सूख जाय।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्म विद्याम् ।

—मुण्डक १ । २ । १३

वह ज्ञानी-गुरु उस श्रद्धा पूर्ण, शान्त चित्त एवं तितीक्षा और साधनानिष्ठ शिष्य को ब्रह्म-विद्या का उपदेश करे जिससे वह अविनाशी सत्य-स्वरूप आत्मा को जानले।

गुरु शिष्य चाहे शरीर से सदा पास-पास न रहें पर यदि यह संबंध उचित अध्यात्म विज्ञान के अनुरूप हुआ है तो शिष्य को गुरु की समीपता उपलब्ध रहेगी और वह उसकी समीपता एवं संगति का फल प्राप्त करता रहेगा। गुरु की क्षमता यह होनी ही चाहिए कि वह शिष्य के अन्तःकरण तक अपनी प्रेरणा पहुँचा सकने में समर्थ हो। इसी शक्ति के आधार पर सद्-गुरु अपने शिष्य का कल्याण कर पाते हैं:—

दर्शनध्यान संस्पर्शान् मत्सी कूर्मी च पक्षिणी।
शिशून् पालयते नित्यं तथा सज्जन संगतिः।

"जिस प्रकार मछली, कछुवी तथा चिड़िया अपने बच्चों का दर्शन, ध्यान और स्पर्श से पालन करती हैं उसी प्रकार सत्पुरुषों की संगति से भी शिष्य का पालन होता है।"

यादृशैः सन्निवसति यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्चभवितुं तादृग्भवति पूरुषः॥

"जो जिसके साथ रहता है, जिसकी सेवा करता है और जो जैसा होना चाहता है वह वैसा ही हो जाता है।"

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वास्तेनमेव।
वासो यथा रंग वशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति।

—महा० शान्ति २६६। ३३

"कपड़े जैसे रंग से रंग जावें वैसे ही हो जाते हैं। ऐसे ही जो व्यक्ति संत, असंत, तपसी, चोर या जैसों का संग करता है वह वैसा ही हो जाता है।"

राजसूय यज्ञ करनेके संबंध में प्रस्ताव पर विचार विमर्श करते हुए युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण जी से कहा—

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थ हेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ।
प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनियद्धितम् ।
एवं प्रायाश्चदृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ।
त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् रागद्वेषौनिरस्य च ।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद्वक्तुमर्हसि ।

—महाभारत

"कुछ लोग सौहार्दवश दोषों को नहीं कहते, अन्य लोग स्वार्थवश केवल प्रिय ही बोलते हैं तथा कुछ लोग अपने विषय में हित एवं प्रिय विषय ही श्रवण करना चाहते हैं, अतः तदनुरूप ही सुझाव देते हैं। प्रयोजन आने पर प्रायः ऐसे ही जनवाद देखे जाते हैं। तात्पर्य यह कि किसी न किसी संकोच, स्वार्थ या भावना के वशीभूत होकर प्रायः लोग यथार्थ की उपेक्षा करके प्रिय ही बोलना जानते हैं, त्रुटियों की ओर वे इंगित नहीं कर पाते। किन्तु भगवन्, तुम तो समस्त हेतुओं से परे रहकर रागद्वेष को दूर भगाकर जो परम समुचित एवं यथार्थ बात है, वही यथावत् बोलते हो। अतः बिना तुम्हारे परामर्श के मैं इतना बड़ा कार्य कैसे कर सकता हूँ ?"

बुद्धिमान व्यक्ति भी कई अध्यात्म प्रसंगों पर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं, तब उन्हें उचित मार्ग दर्शन सद्-गुरु द्वारा ही होता है। युधिष्ठिर इस तथ्य को जानते थे, इसलिए उन्होंने राजसूय

यज्ञ का प्रसंग आने पर श्रीकृष्ण जी से उसके लिए आवश्यक मार्ग दर्शन मांगा। ऐसा ही मार्ग दर्शन अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुरूप सर्व साधारण को भी प्राप्त करना होता है। ऐसे अवसरों पर सुलझे हुए विचारों का तथा अध्यात्म और व्यवहार का समन्वय कर सकने वाला अनुभवी मार्गदर्शक अभीष्ट होता है। उनके सहयोग और परामर्श से शिष्य अनेक समस्याओं को हल करता हुआ अभीष्ट लक्ष्य तक जा पहुँचता है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्

—श्रीमद्भागवत

"जैसे जल में डूबते हुओं को नाव ही एकमात्र सहारा है वैसे ही इस भवसागर में डूबने से बचने के लिए ब्रह्मवेत्ता सन्तों का ही सबसे बड़ा सहारा है।"

दुर्लभो विषयेत्यागो दुर्लभं तत्त्व दर्शनं ।
दुर्लभो सहजावस्था सद्गुरोःकरुणां विना ।

"बिना गुरु कृपा के विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्व-दर्शन दुर्लभ है तथा सहजावस्था का प्राप्त होना भी दुर्लभ है।"

आत्मज्ञान की उपलब्धि, पाप पूर्ण मनोभूमि का परिशोधन, भ्रम संशयों का उच्छेदन, प्रगति के लिए मार्ग दर्शन, यह सब कार्य उनके लिए सरल ही हो जाते हैं जिन्हें अनुभवी सद्-गुरु की प्राप्ति हो जाय। इसके बिना अध्यात्म-मार्ग के पथिक को अन्धकार में ही भटकते रहना पड़ता है।

गुरूपदेशशास्त्रार्थै र्विना चात्मा न बुध्यते ।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी ।

—योगवाशिष्ठ ६ । ४१ । १६

"शास्त्र के अध्ययन और गुरु के उपदेश बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी जिज्ञासु, शास्त्राध्ययन और सद्‌गुरु इन तीनों के संयोग से ही आत्मज्ञान प्रकाश में आता है।

आचार्याद्धैव विद्या विहिता साधिष्ठं प्रापत्

"आचार्य के बिना पराशक्ति स्वरूपा ब्रह्म विद्या स्वधिष्ठित होती ही नहीं।"

मंत्र, साधना, विधान, स्वाध्याय और संयम का जैसा महत्व है वैसा ही गुरु के सहयोग का भी है। उचित मार्ग-दर्शन से आधी कठिनाई तो स्वयमेव हल हो जाती है। इस लिए गुरु को भी एक प्रकार से मंत्र एवं देवता ही माना गया है।

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थ वाचकाः।
तथा मंत्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचकाः॥

"जिस प्रकार घट, कलश, कुंभ एक ही वस्तु के कई नाम हैं उसी प्रकार मन्त्र, देवता और गुरु एक ही तत्व के नाम हैं।"

पन्थानो बहवः प्रोक्ता मन्त्र शास्त्र मनीषिभिः।
स्वगुरोर्मतयाश्रित्य शुभं कार्यं न चाऽन्यथा॥

"बहुत से मार्ग हैं, अनेक मन्त्र एवं शास्त्र हैं पर अपने गुरु के मतानुसार मार्गावलम्बन करने से ही शुभ होता है। इसके विपरीत नहीं।"

अनेक कोटि मंत्राणि चित्त व्याकुल कारणम्।
मंत्रं गुरोः कृपा प्राप्तमेकं स्यात् सर्वसिद्धिदम्॥

"अगणित मन्त्र तो चित्त की व्याकुलता के कारण ही सिद्ध होते हैं। गुरु की कृपा से प्राप्त हुआ एक मन्त्र ही सर्व सिद्धियाँ प्रदान करता है।"

गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकारों ने बताया

है कि सच्चा गुरु वही है जो शिष्य की समस्याओं का समाधान कर सके। देखिए :—

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः
"जो धर्म का उपदेश करे उन्हें गुरु कहते हैं।"
गिरत्यज्ञान मिति गुरुः
"जो अज्ञान को दूर करें वे गुरु हैं।"
अविद्या हृदय ग्रन्थि बन्ध मोक्षो यतो भवेत् ।
तयेव गुरुरित्याहुर्गुरु शब्देन योगिनः ।

—शंकराचार्य

"जो हृदय की अज्ञान ग्रन्थि को खोलें उन्हें गुरु कहते

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ।

—मनु २ । १४२

"जो स्वयं कर्तव्य कर्मों में संलग्न हो और दूसरों को भी वैसा ही प्रेरणा दे ऐसे ब्राह्मण को गुरु कहते हैं।"

आत्मा को अपने ही विचारों और तर्कों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसके लिए सुयोग्य मार्गदर्शक गुरु का होना कितना आवश्यक है, इस सम्बन्ध में 'महोपनिषद्' में वर्णित शुकदेव जी का प्रसंग और कठोपनिषद् का प्रमाण मननीय है—

नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय श्रेष्ठ ।

—कठ १ । २ । ९

"यह आत्म-बुद्धि तर्क से नहीं मिलती। हे श्रेष्ठ, दूसरे के द्वारा कही जाने पर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है।"

शुकदेव जी के अन्तःकरण में स्वतः ही ज्ञान उत्पन्न हुआ था। पर उससे काम न चला। इस सम्बन्ध में 'महोपनिषद्' अध्याय २ में इस प्रकार वर्णन मिलता है :—

> ज्ञात मात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्।
> तेनासौ स्व विवेकेन स्वयमेव महामनाः।
> प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्।

"उन शुकदेव जी को बिना गुरु के उपदेश के ही स्वतः आत्मज्ञान हुआ था। उनकी वासनाऐं स्वतः निवृत्त हो गई थीं। परन्तु वह ज्ञान दृढ़ न होने के कारण उनके मन को शान्ति नहीं हुई। उन्हें अपने ज्ञान में विश्वास नहीं हुआ। इसलिए अपने पिता व्यास जी के आदेश से उन्हें जनक के पास ज्ञान ग्रहण करने जाना पड़ा।"

यह भी ध्यान रखने की बात है कि सत्पात्र श्रद्धालु और विश्वासी शिष्य ही गुरु कृपा का लाभ उठा सकता है। जिसमें यह गुण नहीं उस ऊसर भूमि में किसी भी गुरु का बोया हुआ ज्ञान-बीज नहीं जम सकता है। गुरु के एक पक्षीय प्रयत्न से भी शिष्य का कल्याण नहीं हो सकता। दोनों ही पक्षों की श्रेष्ठता से गुरु-शिष्य संयोग का सच्चा लाभ मिलता है। कहा भी है :—

> गुरुश्चेदुद्धरत्यज्ञमात्मीयात्पौरुषादृते।
> उष्ट्रं दान्तं बलीवर्दं तत्कस्मान्नोद्धरत्यसौ।

—योगवाशिष्ठ ५। ४३। १६

"यदि गुरु किसी अविचारी और पुरुषार्थहीन का उद्धार कर सकते होते तो ऊंट हाथी बैल आदि का उद्धार क्यों न करते?"

आज हर कोई गुरु बनने की फिकर में है। क्योंकि इससे गुरु बनने वाले को शिष्य से पूजा, सम्मान, आदर और दक्षिणा मिलते रहने से धन का लाभ भी होता और अपने अहङ्कार की तृप्ति भी होती है। इसलिए लोगों ने शिष्य मूंडना, कान फूंकना भी एक व्यवसाय बना लिया है। पर वस्तुतः यह कार्य हर किसी का नहीं है। जिसमें इतना चरित्र तथा आत्मबल हो कि अपना ही नहीं शिष्य का भी कल्याण कर सके उसे ही यह महान उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लेने का साहस करना चाहिए। गुरु की योग्यता इस प्रकार की होनी चाहिए :—

मातृतः पितृतः शुद्धः शुद्धभावो जितेन्द्रियः।
सर्वागमानां सारज्ञः सर्व शास्त्रार्थ तत्ववित्॥
परोपकार निरतो जप पूजादि तत्परः।
अमोघ वचनः शान्तो वेद वेदार्थ पारगः॥
योगमार्गानुसन्धायी देवताहृदयङ्गमः।
इत्यादि गुण सम्पन्नो गुरुरागम सम्मतः॥

—शारदातिलक

"जो असली माता-पिता से पैदा हो, सदाचारी हो, शुद्ध भावना वाला हो, इन्द्रियाँ जिसके वश में हों, जो समस्त शास्त्रों के सार को जानता हो, परोपकारी हो, जप-पूजा आदि उपासनाओं में संलग्न हो, जिसकी वाणी अमोघ हो, शान्त हो, वेद और वेदार्थ का पारदर्शी हो, योगमार्ग में जिसकी प्रगति हो, जो हृदय में देवता के समान हो, इस प्रकार के गुण जिसके स्वभाव में हों वही शास्त्र सम्मत गुरु बनने योग्य है।"

ऐसे गुरु ही अपने द्वारा दीक्षित शिष्य का हित-साधन कर सकते हैं। कहा भी है :—

यः समः सर्व भूतेषु विरागो वीत मत्सरः ।
कर्मणा मनसा वाचा भीतेचाभयदः सदा ॥
समबुद्धिपदं प्राप्तस्तत्रापि भगवन्मयः ।
पञ्चकाल परश्चैव पाञ्चा रात्रार्थ वित्तथा ॥
विष्णु तत्वं परिज्ञाय एकं चानेक भेदगम् ।
दीक्षयेन्मेदिनीं सर्वां किं पुनश्चोपसन्नतान् ॥

—तत्वसार

''जो समस्त प्राणियों को समान मानते हैं,राग-द्वेष रहित हैं, मन-कर्म-वचन से दूसरों के दुख को दूर करने में रत हैं, जिनकी बुद्धि सम है, जो भगवन्मय हैं, जो नित्यकर्म में सावधान हैं, भगवत् तत्व को जानते हैं, वे शरणागत अधिकारी शिष्य को ही नहीं सारी पृथ्वी को दीक्षित कर सकते हैं।"

शास्त्रों में दस श्रेणी के व्यक्तियों को गुरु कहा गया है :—

उपाध्यायः पितामाता ज्येष्ठो भ्राता महीपति
मातुलः श्वसुरश्चैव मातामह पितामहो ।
वर्ण ज्येष्ठः पितृव्यश्च सर्वे ते गुरुवः स्मृताः ॥

—कौर्य० उत्तरा० १२ । २६

"उपाध्याय, पिता-माता, बड़ा भाई, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, बाबा, ब्राह्मण, ये दस गुरु कहे गये हैं।"

किन्तु इन सब में आचार्य श्रेणी के गुरु की महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित की गई हैं :—

आचार्यः श्रेष्ठो गुरुणाम्

—गौ० ध० सू १ । ३ । ५६

गुरुओं में आचार्य ही श्रेष्ठ है। आचार्य किसे कहते हैं? उसमें यह लक्षण होने चाहिए :—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ।

—वायुपुराण

"जो शास्त्रों के उद्देश्यों (अर्थों) को जाने, स्वयं सदाचारी हो और जनता को सदाचार में लगावे उसे आचार्य कहते हैं ।"

स्वयंमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेनचोच्यते

—ब्रह्माण्ड० पूर्व ३२।३२

"स्वयं श्रेष्ठ आचरण करे और दूसरों को वैसी ही प्रेरणा करे। शास्त्र के मर्म को जाने, उसे आचार्य कहते हैं।"

इस श्रेणी के सत्पुरुष आजकल नहीं के बराबर हैं।

मनसि वचसि काये प्रेम पीयूष पूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रोणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून पर्वती कृत्य नित्यं
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ।

—भृतृहरि

"जिनका मन, वचन और काया प्रेमरूपी अमृत में भरे हैं, अपने उपकारों की बाढ़ से जो तीनों लोकों को निमग्न करते हैं, दूसरों के छोटे गुणों को भी पर्वत के समान महान मानते हैं, अपने हृदय को विकसित करते रहते हैं, ऐसे सन्त इस संसार में कितने हैं?"

फिर भी प्रयत्न करने से किन्हीं सौभाग्यशाली व्यक्तियों

को सद्-गुरु क्षमता वाले मार्ग दर्शक भी प्रयत्न करने पर मिल जाते हैं। संसार में किसी वस्तु का पूर्ण अभाव कभी नहीं होता। कमी भले ही हो जाय।

शिष्य के भी गुरु के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। उन सब में आवश्यक कर्तव्य है। सच्ची श्रद्धा और भक्ति भावना का होना। यही वह आकर्षण है जिसके बल पर शिष्य गुरु के हृदय में से आवश्यक सहायता और कृपा प्राप्त कर सकता है। यदि बछड़ा थन को चूसेगा नहीं तो गाय उसके मुख में अपना दूध उंड़ेल नहीं दे सकेगी। जिसके मन में भक्ति भावना का अभाव है, केवल चिन्ह पूजा के लिए अथवा प्रयोजन विशेष के लिए किसी गुरु को वरण किया है तो ऐसे लोग वह प्रसाद प्राप्त नहीं कर सकते जो श्रद्धा भावना वाले शिष्य प्राप्त करते हैं।

शिष्य को आरंभ में गुरु-भक्ति की स्थापना हृदय में करनी पड़ती है और यही आगे चलकर ईश्वर-भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। गुरु-भक्ति ईश्वर-भक्ति का ही प्रारंभिक एवं स्थूल रूप है। आरंभिक शिष्यों के लिए इसकी उपयोगिता बताते हुए कहा गया है कि :—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। प्रकाशन्ते महात्मनः।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। २३

"जिसके मन में परमात्मा की भक्तिके समान ही गुरु की भी भक्ति है, उसी महान आत्मा वाले के हृदय में यह ज्ञान प्रकाशित होता है। उसी के हृदय में यह ज्ञान प्रकाशित होता है।"

माता-पिता पूज्य हैं। उनके प्रति संतान का महान कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व है; किन्तु शिष्य का गुरु के प्रति भी कम

उत्तरदायित्व नहीं है, वरन् उससे भी कुछ अधिक ही है। क्योंकि गुरु भी आध्यात्मिक जीवन को प्रदान करने वाला पितर ही है।

गुरुर्गरीयान् मातृतः पितृतश्चेति मे भातिः

—शा० १०८। १७

"माता-पिता से भी गुरु का स्थान ऊँचा है।"

क्योंकि—

माता पितरौ शरीरमेव काष्ठ कुंड्यादि समं जनयतः।
आचार्यस्तु सर्व पुरुषार्थ क्षमं रूपं जनयति ।

"माता-पिता तो लकड़ी के ढोल सरीखे इस देह को ही जन्म देते हैं पर आचार्य सब पुरुषार्थ भरे अध्यात्म रूप को ही जन्म देता है।"

अध्यात्म विद्या का प्रवेशद्वार गुरुदीक्षा है। यों भावना से भी किसी को गुरु माना जा सकता है पर दीक्षा का विशेष विज्ञान एवं महत्व है। कोई स्त्री चाहे तो भावना मात्र से भी किसी को पति मान सकती है पर यदि विधिवत् विवाह संस्कार के साथ देवताओं और गुरुजनों की साक्षी में पति वरण किया जाय तो उसका प्रभाव और महत्व दूसरा ही है। गुरुदीक्षा का भी अपना विज्ञान है। इस संस्कार के माध्यम से गुरु अपनी प्राणशक्ति की चिनगारी शिष्य के हृदय में विधिवत् स्थापित करता है जो उचित शुभ सिंचन होते रहने से एक दिन प्रचंड तेजोमयी दिव्य ज्योति के रूप में प्रस्फुटित होती है। साधन-पथ के पथिकों के लिए यह प्रकृया आवश्यक मानी गई है :—

दीक्षां विना न मोक्ष स्यात् प्राणिनां शिव शासनात्।
सा च न स्याद विनाचार्यमित्याचार्य परंपरा ॥

उपासना शते नापि यां विना नैव सिद्ध्यति ।
तां दीक्षामाश्रयेद् यत्नात् श्रीगुरोर्मन्त्रसिद्धये ॥

—पिच्छिला तंत्र

"शिवजी के आदेश के कारण दीक्षा के बिना किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। आचार्य परम्परा के विरुद्ध दीक्षा भी नहीं होती। अनेकों प्रकार की उपासनाएं हैं पर बिना के कोई सफल नहीं होती। गुरु दीक्षा के आधार पर प्राप्त होता है।"

दिव्य ज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम् ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तंत्र वेदिभिः ॥

दीक्षा मूलं जपं सर्वं दीक्षा मूलं परं तपः ।
दीक्षामाश्रित्य निवसेद्यत्र कुत्राश्रमे वासन् ॥

देवि दीक्षा विहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन गुरुणादीक्षितो भवेत् ॥

"जिससे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और पापों का क्षय इस लिए उसे दीक्षा कहते हैं। जप का मूल दीक्षा है, मूल दीक्षा है। किसी भी आश्रम में रहे दीक्षा लेकर पार्वती! दीक्षाहीन को न सिद्धि मिलती है न सद्गति, प्रयत्नपूर्वक दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए।"

ते नराः पशवो लोके किं तेषां जीवने फलम् ।
यैर्नलब्ध्वा हरेर्दीक्षा नार्चितोवा जनार्दनः ॥

—स्कन्द पुराण

"संसार में वे मनुष्य पशु तुल्य हैं, उनके जीवन का क्या जिनने दीक्षा लेकर भगवान् की उपासना नहीं की।"

दीक्षाग्नि दग्ध कर्मा सौ यायाद्विच्छिन्न बन्धनः ।
गतस्तस्य कर्म बन्धो निर्जीवश्च शिवो भवेत् ॥

—कुलार्णव

"दीक्षा की अग्नि में कर्म जल जाने से बन्धन कट जाते हैं और जीव शिवत्व को प्राप्त कर लेता है।"

दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाप पद्धतिः ।
तेन दीक्षोच्यते मंत्रे स्वागमार्थ बलाबलात् ॥

—लघु कल्प सूत्र

"जिससे परम ज्ञान दिया जाय, और पाप प्रकृया नष्ट हो उसे शास्त्रों में दीक्षा कहा गया है।"

दिव्यं ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पाप क्षयं ततः ।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्व तंत्रस्य संमता ॥

—विश्वसार

"जिससे दिव्य ज्ञान दिया जाय, और पाप क्षय हों उसे दीक्षा कहते हैं।"

ददाति दिव्य भावञ्चे त् क्षिणुयात् पाप संततिम् ।
तेन दीक्षेति विख्याता मुनिभिस्तंत्र पारगैः ॥

—गौतमीय तंत्र

"जिसके द्वारा दिव्य भाव दिया जाय और पाप शृंखला टूटे उसे मुनियों ने दीक्षा कहा है।"

रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत् ।
दीक्षा विद्धस्तथैवात्मा शिवत्वं लभते प्रिये ॥

—कुलार्णव

"जिस प्रकार रसायन विधि से साधारण धातु स्वर्ण बन जाती है, उसी प्रकार दीक्षा विधान से साधारण आत्मा भी शिवत्व को प्राप्त करता है।"

अनीश्वरस्य मर्त्यस्य नास्तित्राता यथा भुवि ।
तथा दीक्षा विहीनस्य नेहस्वामी परत्र च ॥

—दत्तात्रेय यामल

"दीक्षा विहीन मनुष्य का इस लोक और परलोक में कहीं कल्याण नहीं है।"

यथा कूर्मः स्वतनयान्ध्यान मात्रेण पोषयेत् ।
वेध दीक्षोपदेशस्तु मानसः स्यात्तथाविधः ॥

—कुलार्णव

"जिस प्रकार कछुआ अपने बच्चों का ध्यान मात्र से पोषण करता है, उसी प्रकार गुरु भी अपनी मनःस्थिति से शिष्य की मनःस्थिति का पोषण करता है, इसे वेध-दीक्षा कहते हैं।"

अध्यात्म मार्ग के पथिकों के लिए मार्ग-दर्शक का चुनाव एवं वरण करना आवश्यक है। यह कार्य विधि-विज्ञान के साथ सम्पन्न किया जाय तो ही उसका समुचित लाभ भी मिलता है। गुरुदीक्षा का यही तत्वज्ञान है।

उपनिषदों में देव-उपासना

उपनिषदों में वर्णित साधना विधान में देव-उपासना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जहाँ आत्म चिन्तन, ब्रह्मध्यान, मनोनिग्रह, विवेक वैराग्य आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है

वहाँ अनेक देवताओं की उपासना के भी विधि-विधानों एवं महत्वों की भी चर्चा हुई है। कई उपनिषद् देवताओं के नाम पर ही हैं, उनमें प्रतिपादित देवता के गुण धर्म एवं उपासना के प्रतिफल विस्तारपूर्वक बताये गये हैं। उच्च मनोभूमि के साधक वेदान्त की अद्वैत साधना में संलग्न रहें एवं उससे कुछ नीची श्रेणी के साधक देव-उपासना द्वारा अभीष्ट काम्य-प्रयोजनों की भी पूर्ति करते रहें ऐसा अभिमत उपनिषद्कारों का रहा है।

सूर्य, शिव, गणेश, नृसिंह, गरुड, हनुमान, कृष्ण, राम, राधा, साता, सरस्वती, लक्ष्मी, काली, त्रिपुरा आदि देवी देवताओं की उपासना का उद्देश्य क्या है और उनका क्या प्रतिफल प्राप्त होता है, उसका वर्णन उन देवताओं के प्रयोजन से बने हुये उपनिषदों में हुआ है। यह देवपूजा विशेषतया लौकिक प्रयोजनों के लिए की जाती है। पीछे अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए साधक ब्रह्म प्राप्ति के परम श्रेयस्कर लक्ष्य की ओर अभिमुख हो जाता है। देव-उपासना भी परमात्मा के एक रूप विशेष की ही पूजा है और उससे सीमित उद्देश्य की पूर्ति भी होती है। देव-उपासना के परिणामों की कुछ चर्चा नीचे देखिए :—

"एकबार कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा—मैंने सूर्य की उपासना की, इससे तू मेरा एक पुत्र हुआ। तू सूर्य की किरणों का सब ओर से आवर्तनकर, उन सब के रूप में ॐकार का चिन्तन कर, इससे निश्चय ही तेरे बहुत पुत्र होंगे।"

—छांदोग्य, पंचम खंड

"सूर्य नारायण का अष्टाक्षर मंत्र नित्यप्रति जपने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है। सूर्य की ओर मुख करके जाप करने से घोर

रोगों से छुटकारा मिलता है, दरिद्रता दूर होती है, पाप दूर होते हैं। प्रातःकाल पाठ करने से भाग्यवृद्धि होती है। उसे पशु, धन आदि के साथ ही वेदार्थ ज्ञान की उपलब्धि भी होती है। सूर्य के हस्त नक्षत्र पर रहते हुए इसका जप करने वाला महा-मृत्यु से पार होता है।"

—सूर्योपनिषद्

"चाक्षुषी विद्या नेत्र रोगों का नाश करने वाली तथा नेत्रों को तेजयुक्त करने में समर्थ है। इसका विनियोग नेत्र रोगों के शमनार्थ होता है।"

—चाक्षुषोपनिषद्

"गणपति का अभिषेक करने वाला वक्ता बन जाता है। चतुर्थी तिथि को उपवास करके जो इसे जपता है वह विद्यावान होता है ऐसा महर्षि अथर्वण का कथन है। इस मंत्र द्वारा तप करने वाले को कभी भय नहीं लगता। दूर्वा के अंकुरों द्वारा गणपति का यजन करने वाला कुबेर के समान धनवान होता है। लाजाओं द्वारा यज्ञ करने वाला यशस्वी होता है। सहस्र मोदकों द्वारा यजन करने वाला इच्छित फल पाता है। जो घृत और समिधा से यज्ञ करता है उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। सूर्य ग्रहण के समय किसी महानदी या प्रतिमा के निकट बैठकर जप करे तो मंत्र सिद्धि प्राप्त होती है। ऐसा साधक विघ्नों से भी छुटकारा पा लेता है।"

—गणपत्युपनिषद्

"एक समय मृत्यु, पाप और संसार से सब देवता अत्यन्त भयभीत हुए और भागकर प्रजापति की शरण में पहुँचे। ब्रह्माजी ने उन्हें भगवान नृसिंह का मन्त्र बताया। देवताओं ने

इस मन्त्र की सिद्धि द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली । वे सब पापों से मुक्त हो गये और संसार रूपी समुद्र को भी लाँघ गये। अतः जो मनुष्य मृत्यु, पाप और भव सागर से भय मानता हो वह इस नृसिंह मन्त्र की शरण ग्रहण करे।"

—नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्

"प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—प्रणव, यजुर्लक्ष्मी, गायत्री और नृसिंह गायत्री ये सब मन्त्रराज के अङ्गभूत मन्त्र हैं । इनका ज्ञाता ऐश्वर्य प्राप्ति के साथ ही अन्त में अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ।"

—नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्

"जो व्यक्ति नृसिंह मन्त्र का नित्य प्रति जप करता है, वह अग्नि की गति रोकने में भी समर्थ होता है। वह वायु की भा गति रोक देता है । सूर्य चन्द्रमा की गति तथा जल के प्रवाह को रोक देता है। वह सब ग्रहों की गति रोक सकता है, सब देवताओं को स्तंभित कर सकता है तथा विष का भी स्तंभन कर सकता है।·········सब देवताओं; यक्षों तथा नागों को आकर्षित कर लेता है । मनुष्य भी उसकी ओर खिंचते हैं तथा सभी उससे आकर्षित रहते हैं।"

—नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्

"नृसिंह सब का कल्याण करने वाले हैं । ये ही विष्णु हैं। ये ही सर्वतोमुख हैं। ये ही उग्र वीर एवं तुरीय हैं । ये ही महान् ज्वलन और भीषण है । ये ही कल्याण स्वरूप हैं तथा ये ही मृत्यु के लिये भी मृत्यु हैं । ये ही 'नमामि' पद के लक्ष्यार्थ तथा 'अहम्' पद के आश्रयभूत हैं।····· ······महान् ज्वलन्, उग्र, वीर, भीषण, सर्वतोमुख,कल्याणमय नृसिंह रूप यह

सब कुछ ब्रह्म ही है............अतः जो ब्रह्म को भय रहित एवं उपरोक्त गुणों से सम्पन्न जानता है वह ज्ञानी भय रहित होता है और ब्रह्म ही बन जाता है।"

—नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्

"जो इस नरसिंह चक्र को जानता है वह सभी वेदों का अध्ययनकर्ता समझा जाता है। वह सभी यज्ञों का कर्ता समझा जाता है। उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। वह सर्वत्र शुद्ध हो जाता है। सब की रक्षा करता है। भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, वेताल आदि भयङ्कर योनियों का नाश करने वाला भी वह होता है और सब प्रकार निर्भय हो जाता है।"

—नरसिंहषटचक्रोपनिषद्

"मनुष्यो! इन भगवान नीलकंठ का दर्शन करो। यही भगवान रुद्र हैं, जो जल में, औषधियों में निहित होकर रोग रूप पापों को नष्ट करते हैं। यह प्राणियों के लिए प्राण रूप हैं। तुम्हारे अमङ्गल को नष्ट करने के लिए और अप्राप्त कामनाओं को पूर्ण कराने के लिए तुम्हारे निकट पधारें।"

—नीलरुद्रोपनिषद्

"जो इस विद्या का अमावस्या के दिन अध्ययन करता है उसे सारे जीवन भर सांप नहीं काटते।............मन से ही विष को मुक्त किया जा सकता है।"

—गरुडोपनिषद्

"जो कवित्व, भोग, निर्भयता अथवा मोक्ष की इच्छा करता हो वह इन मन्त्रों के द्वारा भगवती सरस्वती की भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति करे। भक्ति और श्रद्धा सहित विधिपूर्वक पूजा करने वाला, नित्य स्तुति करने वाला भगवती की कृपा शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। वह दूसरों से सुने बिना भी ग्रन्थों के अर्थों को समझने वाला होता है।"

—सरस्वती रहस्योपनिषद्

"इस सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद की साधना से साधक अग्निपूत और वायुपूत होता है वह सब धन-धान्य, स्त्री, पुत्र, हाथी, अश्व, गौ, भैंस, सेवक आदि ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर ज्ञानी बनता है और अन्त में परमपद को प्राप्त करता है।"

—सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्

"सर्वाङ्ग सुन्दरी त्रिपुरा देवी का देह रूप गुहा में स्थित काम, रूप, कला का ध्यान करके मनुष्य काम रूप हो जाता है और कामनाएं पूर्ण करता है। इस कामोपभोग संस्कारों से फिर जन्म धारण करने पड़ते हैं अतः मोक्ष इच्छुकों को यह कामो-उपासना नहीं करनी चाहिए।"

—त्रिपुरोपनिषद्

देवता और उनकी सिद्धि साधना

इस सृष्टि का उत्पादक पोषक, संहारक, कर्ता-हर्ता—एक परमात्मा ही है। उसे ही अनेक नामों से पुकारते हैं। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ती" उस एक ही सत् परमात्मा को विद्वानों ने बहुत प्रकार से कहा है।

सृष्टि में अनेकों प्रकृयाऐं चलती हैं । उनकी सञ्चालक शक्तियाँ भी अनेक हैं । यद्यपि वे सभी परमात्मा की ही शक्तियाँ हैं पर उनकी गतिविधियों की प्रथकता के अनुरूप उनके नामकरण अलग-अलग किये गये हैं । सूर्य एक ही है पर उसकी अनेक किरणें अपने गुण धर्म की प्रथकता के कारण अल्टा वायलेट, अल्फा वायलेट, एक्सरेज आदि अनेक नामों से पुकारी जाती हैं। मनुष्य शरीर एक ही है पर उसके विभिन्न अङ्गों का उपयोग और स्वरूप भिन्न-भिन्न होने के कारण उन अङ्गां के नाम भी पृथक-पृथक हैं । शरीर को जो कार्य करना होता है वह अपने तदनुकूल अङ्ग से ही उसे पूरा कराता है।

ईश्वर के विराट स्वरूप से अङ्ग प्रत्यङ्गां को, उसकी क्रिया-किरणों को देवता नाम से पुकारते हैं । यह देवता अपने-अपने कार्य क्षेत्र में उसी प्रकार संलग्न रहते हैं जिस प्रकार किसी सरकार के अनेक मंत्री एवम् अफसर अपने-अपने विभाग को सँभालते हुए राजतंत्र का सञ्चालन करते हैं।

देवताओं की सत्ता पृथक से दृष्टिगोचर होते हुए भी वे वस्तुतः एक ही विराट् ब्रह्म के अवयव मात्र हैं । उनका स्वतन्त्र अस्तित्व भासता तो है पर है नहीं। लहरें और बबूले जल के धरातल से भिन्न दिखाई देते हैं तो भी वे वस्तुतः जल के ही अङ्ग हैं । विविध देवताओं का जहाँ स्वरूप और गुण धर्म शास्त्रकारों ने वर्णन किया है वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वे सब वस्तुतः एक ही परमात्मा के अङ्ग-प्रत्यङ्गमात्र हैं । कहा गया है कि :—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

—ऋग्वेद ६ । ३ । २२ । ४६

"उस एक ही परमात्मा को विद्वान लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं।"

एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति

"उस एक की है अनेक रूपों में कल्पना की गई है।"

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम्।
स संज्ञा यांति भगवानेक एव जनार्दनः।

—विष्णु पुराण १। २। ६६

"वह एक ही भगवान सृष्टि का उत्पादन, पालन और संहार करता है। उसी के ब्रह्मा, विष्णु, महेश नाम हैं।"

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्

—एतरेय १। १। १

"यह आत्मा एक ही था।"

एकमेवाद्वितीयम्

—छांदोग्य ६। २। १

"वह एक ही है, दो नहीं।"

एकैव सा महाशक्तिस्तया सर्व मिदं ततम्।

"वह एक ही महाशक्ति है। उसीसे यह सारा विश्व आच्छादित है।"

एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन

—शिव पुराण

"तब (सृष्टि के आदि में) अकेला रुद्र ही था और कोई नहीं।"

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचंद्रमाः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मता आपः स प्रजापतिः

—यजु० ३२। १

"यह परमात्मा ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, और वरुण है।"

तमादि देवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम्
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते

—बृहन्नारदीय पुराण १ । २ । ५

"उस अनादि, अजर परमात्मा को कोई शिव कोई विष्णु कोई ब्रह्मा कहते हैं।"

त्रिधाभिन्नोह्यहं विष्णो, ब्रह्मा विष्णु हराख्यया ।
सर्गरक्षालय गुणै र्निष्कलोऽह सदा हरे ।

—शिवपुराण २ । १ । ६ । २८

"सृष्टि के उत्पादन, पालन तथा संहार गुणों के कारण मेरे ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीन भेद हुए हैं। वस्तुतः मेरा स्वरूप सदा भेद रहित है।"

ब्रह्मा दक्षः कुवेरो यमवरुणमरुद्वह्नि चन्द्रेन्द्र रुद्राः ।
शैलानद्यः समुद्रा ग्रह गण मनुजा दैत्य गन्धर्व नागाः ॥
द्वीपा नक्षत्र तारा रवि वसु मुनयोव्योमभूरश्विनौ च ।
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु वोविश्वरूपः ॥

"ब्रह्मा, दक्ष, कुबेर, यम, वरुण, मरुत्, अग्नि, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, पर्वत, नदी, समुद्र, ग्रह, मनुष्य, दैत्य, गन्धर्व, नाग, द्वीप, नक्षत्र, तारागण, रवि, वसु, मुनि, आकाश-पृथ्वी, अश्विनीकुमार आदि सभी जिसमें लीन हैं उस विश्व रूप परमात्मा को नमस्कार है।"

यो ब्रह्मा स हरिः प्रोक्तो यो हरिः स महेश्वरः ।
या काली सैव कृष्णः स्याद् यः कृष्ण सैव कालिका ॥
देव देवीं समुद्दिश्य न कुर्यादन्तरं क्वचित् ।
तत्तद्भेदो न मन्तव्यः शिव शक्तिमयं जगत् ॥

"जो ब्रह्मा है वही हरि हैं, जो हरि हैं वे ही महेश्वर हैं। जो काली है वही कृष्ण है, जो कृष्ण है वही काली है। देव और देवी को लक्ष्य करके कभी मन में भेद-भाव उत्पन्न होने देना उचित नहीं है। देवता के चाहे जितने नाम और रूप हों सभी एक हैं। यह जगत् शिव शक्तिमय है।"

विभिन्न देवताओं की अलग-अलग उपासना का तात्पर्य परमात्मा की उस शक्ति से सबंध स्थापित करना है जो साधक के अभीष्ट प्रयोजन से संबंधित है। जैसे समस्त प्रजा एक ही राजा के राज्य में रहती है तो भी उसे अलग-अलग प्रयोजनों के लिए अलग-अलग विभागों के दफ्तरों एवं कर्मचारियों के पास जाना पड़ता है। देव उपासना का भी यही प्रयोजन है। साधक अपनी आवश्यकता और आकांक्षा के अनुरूप उनमें से समय-समय पर इन देवताओं का अंचल पकड़ता और छोड़ता रहता है।

किस देवता की आराधना किस प्रयोजन के लिए किस प्रकार करनी चाहिए इसका वर्णन और साधना शास्त्रों में विस्तार पूर्वक मिलता है। श्रीमद्भागवत में भी इस प्रकार का प्रसंग आता है :—

ब्रह्मवर्चसमामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रिय कामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून रुद्रान्वीर्य कामोऽथ वीर्यवान्॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्ग कामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान् देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टि काम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठा कामः पुरुषो रोदसी लोक मातरो॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान्स्त्रीकामोऽप्सर उर्वसीम्।

आधिपत्य कामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम् ॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम् ।
विद्या कामस्तुगिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम् ॥
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन्पितृन्यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्य जनानोजस्कामो मरुद्‌गणाम् ॥
राज्य कामो मनून्देवान् निर्ऋतिंत्वभिचरन्यजेत् ।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम् ॥

—श्रीमद्‌भागवत् २ । ३ । २-६

"ब्रह्मतेज की इच्छा वाले को ब्रह्मा की, इन्द्रिय भोगों के लिए इन्द्र की, सन्तान के लिए प्रजापति की, सौभाग्य के लिए दुर्गा की, तेज के लिए अग्नि की, धन के लिए वसुओं की, वीर्य के लिए रुद्र की, अन्न के लिए अदिति की, स्वर्ग के लिए आदित्यों की, राज्य के लिए विश्वेदेवों की, लोक प्रियता के लिए साध्यगण की, दीर्घायु के लिए अश्विनी कुमारों की, पुष्टि के लिए वसुन्धरा की, प्रतिष्ठा के लिए अन्तरिक्ष की, रूप के लिए गन्धर्वों की, रमणी के लिए उर्वशी की, आधिपत्य के लिए प्रजापति की, यश के लिए यज्ञ की, कोश के लिए वरुण की, विद्या के लिए शंकर की, दाम्पत्य के लिए गौरी की, धन संचय के लिए नारायण की, कुटुम्ब वृद्धि के लिए पितृगण की, रक्षा के लिए यज्ञों की, बल के लिए मरुद्‌गण की, अभिचार के लिए राक्षसों की, भोगों के लिए चन्द्रमा की, और जिसे कोई इच्छा न हो वह परमात्मा की उपासना करे।"

यह देव शक्तियाँ विभिन्न आकार-प्रकार में चित्रित की गई हैं। इनकी आकृतियाँ, आयुध, वाहन, आदि का भी स्वरूप दिखाया गया है पर वस्तुतः इस सब का आधार ध्यान-विद्या का विज्ञान ही है। किस प्रकार से ध्यान करने पर कौन-सी

देव शक्ति को साधक अपनी धारणा में अवतीर्ण कर सकता है, इस सूक्ष्म विज्ञान के ज्ञाता बहुत खोज करने पर ही प्राप्त हो सकते हैं।

देव उपासना में जहाँ विधि-विधान और कर्मकाण्ड का महत्व है वहाँ श्रद्धा और विश्वास की सुदृढ़ भावना का होना भी आवश्यक है। उथली श्रद्धा के साथ, केवल कौतुक, कौतूहल समझ कर, मंत्र या देवता की परीक्षा के लिए कुछ आधा-अधूरा साधन कर लेने से समुचित परिणाम प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिए गहरी श्रद्धा और पूर्ण विश्वास का होना अपरिहार्य है। इस श्रद्धा-विश्वास को ही 'अमृत' कहते हैं। इसीको पाकर देवता तृप्त एवं प्रसन्न होते हैं। उपनिषद् में इसी प्रकार का वर्णन आता है:—

न वै देवा अश्नन्ति, न पिवन्त्येत देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति।

—छान्दोग्य ३ । ६ । १

"देवता न तो खाते हैं, न पीते हैं। केवल अमृत को देख कर तृप्त रहते हैं।"

उपासक केवल विधि-विधान की लकीर ही पीट रहा है या वह 'अमृत' भी अर्पण कर रहा है, इसकी परीक्षा के लिए कई बार देवताओं की ओर से साधना-काल में लोभ और भय के अवसर उपस्थित किये जाते हैं। दुर्बल मनोभूमि का साधक उस परीक्षा में विचलित हो जाता है, फलस्वरूप अभीष्ट सिद्धि से उसे वंचित रहना पड़ता है।

यों देवता सर्वव्यापी हैं पर उनका सबसे निकटवर्ती निवासस्थान अपनी 'देह' ही है। इस मानव शरीर में सभी देवता निवास करते हैं। विभिन्न अङ्ग प्रत्यंगों में विभिन्न

देव-शक्तियों का निवास है । इसलिए साधक को अपना शरीर एवं मन इस योग्य बनाना होता है कि वहाँ निवास करने वाली देव शक्तियाँ जागृत होकर अपनी सजातीय महाशक्ति को सूक्ष्म जगत में से आकर्षित कर सकें । आहार-विहार, व्रत, संयम, उपवास, ब्रह्मचर्य एवं विविधि तपश्चर्याओं द्वारा शरीर में रहने वाली देव शक्तियों को शुद्ध करना भी अभीष्ट सिद्धि के लिए आवश्यक हैं । 'एतरेयोपनिषद्' में कहा गया है : —

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशना पिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एन मब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्न मदामेति ।

—एतरेयोपनिषद् १ । २ । १

"परमात्मा ने अग्नि आदि सब देवता उत्पन्न किये । और इन्हें इस संसार में भेजा । उन्हें भूख और प्यास से युक्त कर दिया । तब वे देवता परमात्मा से बोले—हमारे लिए स्थान की व्यवस्था कीजिए जहाँ रह कर हम अपना आहार प्राप्त कर सकें ।"

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथाऽयतनं प्रविशतेति ।

—एतरेयो० १ । २ । ३

"परमात्मा ने उनके लिए मनुष्य का शरीर उपस्थित किया । तब देवताओं ने कहा—बस, हमारे लिए यह बहुत सुन्दर स्थान बन गया । यह सचमुच ही बड़ी सुन्दर रचना है । तब परमात्मा ने कहा—अब तुम लोग अपने लिए इसमें उचित स्थान ढूंढलो और उसीमें प्रवेश कर जाओ ।"

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुःप्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधि वनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशं श्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ।

—एतरेयोपनिषद् १ । २ । ४

"अग्नि ने वाणी बनकर मुख में प्रवेश किया । वायु प्राण बनकर नासिका में रहने लगा । सूर्य ने नेत्र बनकर आँखों में स्थान ग्रहण किया । दिशा-देवताने कर्णेन्द्रिय बनकर कानों में, वनस्पतिदेवता ने रोम बनकर त्वचा में, चन्द्रमा ने मन बनकर हृदय में, यम ने अपान वायु बनकर नाभि में और वरुण देवता ने वीर्य बनकर शिश्नेन्द्रिय में प्रवेश किया ।"

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभि प्रजानीहीति । ते अब्रवी देतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येता सुभागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनाया पिपासे भवतः ।

—एतरेयोपनिषद् २ । २ । ५

"तब भूख और प्यास परमात्मा से बोलीं—हमारे लिए भी स्थान दीजिए । उनने उत्तर दिया तुम्हें इन देवताओं में ही प्रविष्ट किये देता हूँ । तुम्हें इन्हीं की भागीदार बनाता हूँ । यह देवता तुम्हारे ही द्वारा अपनी-अपनी हवि ग्रहण करेंगे । तुम दोनों उन्हीं की भागीदार रहोगी ।"

शरीर में निवास करने वाले देवताओं को भूख, प्यास के माध्यम से ही पोषण मिलता है । अर्थात् जैसा कुछ हम खाते पीते हैं उसी के अनुरूप देव शक्तियाँ सशक्त एवं दुर्बल होती हैं।

सात्विक खान-पान देव-तत्वों को पुष्ट करता है; और आसुरी, तमोगुणी आहार करनेसे, मद्य-मांस सेवन करनेसे देवता दुर्बल हो जाते हैं। यह देवता केवल मुख के द्वारा ही आहार नहीं लेते वरन् प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा उसकी उचित-अनुचित प्रकृयाओं के आधार पर वे देवता पुष्ट एवं अशक्त बनते हैं। जो अपनी इंद्रियों का दुरुपयोग करता है, उनके द्वारा अनैतिक आचरण करता है, अग्राह्य को ग्रहण करता है तो शरीरवासी देवता अशक्त हो जाते हैं; फिर विधि-विधान एवं मन्त्र प्रकृया भी वैसा फल नहीं देती जैसी शरीर में पुष्ट देव-स्थिति होने पर दिया करती है। इसलिए देव उपासकों को इंद्रिय-संयमी, सदाचारी, होना और आहार-विहार की शुद्धता का भी भरपूर ध्यान रखना आवश्यक है।

साधक यदि अपने शरीर-देवताओं को परिपुष्ट रखे और श्रद्धा, विश्वास पूर्वक नियत विधि-विधान के साथ साधना करे तो देव वरदान का वही लाभ हो सकता है जो शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

गायत्री तपोभूमि
आषाढ़ सुदी ३०, सं० २०१८

श्रीराम शर्मा आचार्य

१०८ उपनिषद्

(साधना-खण्ड)

१०८ उपनिषद्

(साधना-खण्ड)

योगचूडामण्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों; वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रिया वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद् ब्रह्मरूप है। मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमे रत हुये मुझको उपनिषद धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥ १ ॥
आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ २ ॥

एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ।
षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ ३ ॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ।
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥ ४ ॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदयं द्वादशारकम् ।
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ५ ॥

ॐ। योगियों की हितकामना से 'योगचूड़ामणि' उपनिषद को कहता हूँ। यह कैवल्यपद और सिद्धियों का प्रदाता है और योगवेत्ताओं द्वारा सेवित (अभ्यासित) है ॥ १ ॥ योग के छः अङ्ग कहे गये हैं—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। आसनों में प्रथम सिद्धासन है, दूसरा पद्मासन है । षटचक्र, षोडश आधार और पाँच आकाशों को जो अपनी देह के भीतर नहीं देखता उसको सिद्धि कहाँ हो सकती है ? इनमें आधारचक्र (मूलाधार) चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान में छः दल हैं, नाभि में दश दल वाला और हृदय में बारह दल वाला पद्म है, फिर सोलह पँखुड़ियों वाला विशुद्ध चक्र है और भ्रकुटियों के मध्य दो दल का चक्र है ॥ २—५ ॥

सहस्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि ।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥ ६ ॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ।
कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥ ७ ॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ।
तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥ ८ ॥
नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित् ।
तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥ ९ ॥

त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।
समाधौ परमं ज्योतिरनन्त विश्वतोमुखम् ॥ १० ॥

ब्रह्मरंध्र के महापथ में सहस्र दल-कमल है । प्रथम चक्र 'आधार' है और दूसरा स्वाधिष्ठान है। यह योनि स्थान में दोनों के मध्य में स्थित है और 'कामरूप' कहा जाता है । 'काम' नाम का चार दल का कमल, गुदास्थान मे है । उसके मध्य में सिद्धों द्वारा बन्दना की गई 'काम' नाम की योनि है और उसके मध्य में पश्चिम की तरफ मुख वाला महालिङ्ग स्थित है ।। ६—८ ।। नाभि में मणि के समान आकार वाले (मणिपुर) को जो जानता है वही योगी है। तप्त सुवर्ण के समान चमक वाला, विद्युत धारा के सदृश्य सुप्रकाशित, तीन कौण युक्त वह्नि का स्थान मेढ़ के नीचे स्थित है । वहाँ पर समाधि में विश्वतोमुख अनन्त परमज्योति दिखाई देती है ।। ६—१० ।।

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते ।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥ ११ ॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ।
तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ॥ १२ ॥
तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ॥ १३ ॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत् ॥ १४ ॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ॥ १५ ॥

योगाभ्यास द्वारा उसे देख लेने पर आवागमन से छुटकारा हो जाता है। प्राण को 'स्व' कहा जाता है और वह स्वाधिष्ठान के

आश्रय में रहता है । स्वाधिष्ठान के आश्रय में होने से उसे मेढ़ भी कहा जाता है । यहीं तागे में पिरोये हुये मणि के समान सुषुम्ना-नाड़ी का कन्द है ॥ १२ ॥ नाभि-मण्डल में रहने वाला यह चक्र मणिपूरक कहा जाता है । इस बारह दल वाले और पाप-पुण्य से रहित-चक्र में जब तक जीव तत्वज्ञान नही प्राप्त कर लेता तब तक उसे संसार में भ्रमण ही करना पडता है । मेढ़ से ऊपर और नाभि के नीचे वाले कन्द में पक्षी के अण्डे की आकार वाली योनि है । उसी स्थान से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनमें से बहत्तर प्रधान कही गई हैं ॥ १३—१५ ॥

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा ॥ १६ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥ १७ ॥
एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।
इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥१८॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे तु दक्षिणे ॥ १९ ॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा ।
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥ २० ॥

इनमें से भी दश-प्राण वाहिनी नाड़ियाँ मुख्य मानी गई हैं— इडा, पिङ्गला और तीसरी सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शङ्खिनी दसवी है ॥१५-१७॥ नाड़ियों का यह महाचक्र योगियों के लिये सदैव ज्ञातव्य है । इनमें इडा बाँयीं तरफ और पिङ्गला दाहिनी तरफ रहती है । इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना का स्थान है । गान्धारी बांये नेत्र में, हस्तिजिह्वा दाँये नेत्र में रहती है । पूषा दाँये कान में और यशस्विनी बाँये कान में

रहती है। अलम्बुसा मुख में, कुहू लिङ्गेन्द्री में तथा शङ्खिनी मूल स्थान में है ॥ १८—२० ॥

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात् ।
इडापिङ्गलसौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥ २१ ॥
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ॥ २२ ॥
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।
हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥ २३ ॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥ २४ ॥
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ २५ ॥

इस प्रकार क्रम से शरीर के विभिन्न द्वारों में एक-एक करके समस्त नाडियाँ स्थित है और इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना प्राण-मार्ग में स्थित रहती है ॥ २१ ॥ सोम (चन्द्र), सूर्य और अग्नि देवता प्राण को सदैव गतिमान रखते हैं । प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय ये वायु तथा उपवायु हैं । इनमें प्राण, वायु, हृदय में स्थित रहता है और अपान गुदा स्थान में । समान नाभिदेश में, उदान कण्ठ में, व्यान सर्व शरीर में—ये पाँच प्रधान वायु हैं ॥ २२—२४ ॥ उद्गार (डकार) में नाग, उन्मीलन (पलक बन्द करना) में कूर्म, छीकने में कृकर, जँभाई लेने में देवदत्त को जानना चाहिये ॥ २५ ॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः ।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥ २६ ॥
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ २७

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।। २८ ।।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ।। २९ ।।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानेन कर्षति ।।
ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ।। ३० ।।

धनञ्जय वायु ऐसा सर्वव्यापी है कि मृत्यु के पश्चात् भी नहीं छोड़ता । इन समस्त नाड़ियों में जीव भ्रमण करता रहता है ।। २६ ।। जिस प्रकार हाथ से फेंकी हुई गेंद इधर-उधर जाती रहती है उसी प्रकार प्राण भी प्राण और अपान वायुओं के वेग से स्थिर नहीं रह पाता ।। २५ ।। प्राण और वायुओं के वशीभूत होकर जीव ऊपर और नीचे दौड़ता रहता है और वाम तथा दक्षिण मार्गों से भी आता जाता हैं, पर गति में अधिक शीघ्रता होने से वह दिखाई नहीं देता ।। २८ ।। जिस प्रकार रस्सी से बँधा हुआ श्येन (पक्षी) जाता है और पुनः खींच लिया जाता है, उसी प्रकार गुणों के बन्धन में पड़ा जीव प्राण और अपान वायुओं से खीचा जाता है ।। २९ ।। प्राण और अपान की शक्ति से जीव निरन्तर ऊपर नीचे आता जाता है । अपान-प्राण को खींचता है और प्राण-अपान को खींचता है । जो योगवित् है वह इनके ऊपर-नीचे जाने को समझता है ।। ३० ।।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।। ३१ ।।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।। ६२ ।।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ३३ ॥
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥ ३४ ॥
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ।
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ॥
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ३५ ॥

यह जीव (प्राणवायु) 'ह'कार ध्वनि से बाहर आता है और 'स'कार ध्वनि से भीतर जाता है और इस प्रकार वह सदैव 'हंस-हंस' मंत्र का जप करता रहता है ॥ ३१ ॥ इस तरह एक दिन रात्रि में जीव इक्कीस हजार छः सौ मंत्र सदैव जपता है ॥ २४ ॥ इसका नाम 'अजपा गायत्री' है, जो योगियों के लिये मोक्ष-प्रदायक है, इसके संकल्पमात्र से सब पापों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ३३ ॥ न इसके समान कोई विद्या है, न इसके समान कोई जप है और न इसके समान कोई ज्ञान भूत या भविष्यत काल मे हो सकता है ॥ ३४ ॥ कुण्डलिनी में उत्पन्न हुई यह गायत्री प्राण-धारिणी प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इसको जानता है वही वेदज्ञ है ॥ ३५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ॥ ३६ ॥
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ॥ ३७ ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥ ३८ ॥
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ३९ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वाऽथ पद्मासनं
गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४० ॥

कन्द के ऊर्ध्वभाग में कुण्डलिनी शक्ति आठ कुण्डलों में व्याप्त है और वह वही पर ब्रह्मद्वार को ढककर सदैव स्थित रहती है ॥ ३६ ॥ जिस ब्रह्मद्वार से निष्पाप होकर जाना पड़ता है, उसी द्वार को मुख से ढक कर यह परमेश्वरी शक्ति सोई हुई है ॥ ३७ ॥ वह्नियोग से जागृत होकर मन और प्राण सहित वह सुषुम्ना में होकर सुई के समान ऊपर की ओर चलती है ॥ ३८ ॥ जैसे घर के द्वार को कुञ्जी द्वारा खोलते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी शक्ति द्वारा मोक्ष के द्वार का भेदन करे ॥ ३९ ॥ हाथों को संपुटित करके, पद्मासन को दृढ़तापूर्वक लगाकर, ठोड़ी को छाती पर लगाकर, ब्रह्म का ध्यान करते हुये बारम्बार वायु को ऊपर खीचे और फिर बाहर निकाल दे। इस प्रकार करने से मनुष्य को विशेष शक्ति का अनुभव होता है ॥ ४० ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ४१ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशावशेषितः ।
भुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥ ४३ ॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ४४ ॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥ ४५ ॥

इस अभ्यास में श्रम होने से जो पसीना निकले उसको शरीर में ही मर्दन कर लेना चाहिये, भोजन में कटु, खट्टे, नमकीन पदार्थों का त्याग करके दूध का आहार विशेष रूप से करना उचित है ॥ ४१ ॥ जो योगी ब्रह्मचारी, मिताहार करने वाला और योग-परायण होगा, वह एक वर्ष में सिद्धि प्राप्त कर सकेगा इसमें सन्देह नहीं ॥ ४२ ॥ उसे स्निग्ध और मधुर आहार करना चाहिये और उदर का चौथाई भाग खाली रखना चाहिये । जो भगवान का ध्यान रखते हुये भोजन करता है वह मिताहारी कहा जाता है ॥ ४३ ॥ कन्द के ऊर्ध्वभाग में जो आठ कुण्डलोंयुक्त कुण्डलिनी शक्ति है वह मूढ़जनों के लिये बन्धन रूप और योगियों के लिये सदैव मोक्ष प्रदायिका है ॥ ४४ ॥ जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाण, जलंधर-बन्ध और मूलबन्ध को जानता है वह मुक्तिभाजन होता है ॥ ४५ ॥

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो यमुच्यते ॥ ४६ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥
ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४८ ॥
उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥ ४९ ॥
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ५० ॥

ऐडी से दृढ़तापूर्वक दबाकर योनि स्थान को दृढ रूप से संकुचित करे तथा अपान वायु को ऊपर की तरफ आकर्षित करे तो यह मूलबन्ध कहलाता है ॥ ४६ ॥ इससे अपान और प्राण-वायु एक हो जाते हैं और मूत्र तथा मल घट जाता है । जो व्यक्ति सदैव इस बन्ध का अभ्यास करता है यह वृद्ध होने पर भी युवा हो जाता है ॥ ४७ ॥ जिस प्रकार एक महापक्षी विश्रान्ति के लिये उड्डियाण करता है, उसी प्रकार उड्डियाण अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी के लिये सिंह के समान ही है ॥ ४८ ॥ उदर से नाभि के नीचे तानना पश्चिमतान कहा जाता है । उड्डियाण बंध भी उदर में होता है और इसको वहीं किया जाता है ॥ ४९ ॥ जो नीचे की तरफ जाने वाले आकाश और जलतत्व को शिर मे ही स्थिर रखता है, ऐसा जालन्धर बंध दुःख और कष्ट समूह का नाश करने वाला है ॥ ५० ॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठ दुःखौघनाशने ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ ५१ ॥
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ५२ ॥
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५३ ॥
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
बध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५४ ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः ।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥ ५५ ॥

जालन्धर बन्ध के करने में जो कंठ का संकोचन किया जाता है, उससे अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और वायु भी नहीं दौड़ता (अर्थात् स्थिर हो जाता है) ॥ ५१ ॥ जिह्वा को लौटकर कपाल

कुहर में प्रविष्ट करने और दोनों भौंहों के बीच दृष्टि स्थिर करने से खेचरी मुद्रा होती है ॥ ५२ ॥ इसका साधन करने से न रोग, न मरण, न भूख और न क्षुधा का भय रहता है । जो खेचरी मुद्रा को जानता है उसे मूर्छा भी नही होती ॥ ५३ ॥ वह रोग से कभी पीड़ित नहीं होता और न कर्मों में लिप्त होता है । जो खेचरी को जानता है उसे कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता ॥ ५४ ॥ जिस खेचरी मुद्रा के साधन से चित्त आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी आकाश में विचरण करती है, उसको सिद्ध नमस्कार करते हैं ॥ ५५ ॥

बिन्दुमूलशरीराणि सिरा यत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥ ५६ ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥ ५७ ॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ५८ ॥
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ५९ ॥
स पुनर्द्विविधो विन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ।
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥ ६० ॥

पैर से लेकर शिर तक के समस्त अङ्गों का पोषण करने वाली शिराओं का आधार विन्दु है ॥५६॥ जिसनै खेचरी मुद्रा द्वारा जिह्वा के ऊपर विवर (कपाल कुहर) को बन्दकर लिया है, उसका विन्दु (वीर्य) फिर किसी तरह नष्ट नहीं हो सकता, रमणी के आलिङ्गन का भी उस पर प्रभाव नहीं पड़ता ॥ ५७ ॥ जब तक देह में वीर्य स्थित है तब तक मृत्यु का क्या भय है ? और जब तक खेचरी मुद्रा बाँधी हुई है तब तक विन्दु नही जाता ॥ ५८ ॥

यदि विन्दु निकलकर अग्नितत्व को प्राप्त हो जाय, तो भी योनि मुद्रा द्वारा शक्तिपूर्वक उसे रोककर ऊर्ध्वगामी किया जा सकता है ॥ ५९ ॥ यह विन्दु दो प्रकार का होता है, एक सफेद और दूसरा लाल; सफेद का नाम शुक्र और लाल का नाम महारज कहा जाता है ॥ ६० ॥

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः ।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ६१ ॥
बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः ।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥ ६३ ॥
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ६४ ॥
शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राऽभिधीयते ॥ ६५ ॥

रज का स्थान सिन्दूर के समान चमकने वाला रवि-स्थान है और शुक्र का चन्द्र-स्थान है, इन दोनों का संयोग होना बड़ा कठिन होता है ॥ ६१ ॥ विन्दु ब्रह्मा है और रज शक्ति है, विन्दु चन्द्रमा रूप है तथा रज सूर्य रूप हैं; इन दोनों के संगम से परमपद की प्राप्ति होती है ॥ ६२ ॥ जब वायु द्वारा चालित रज विन्दु से मिलकर एक हो जाता है तब देह दिव्य हो जाती है ॥ ६३ ॥ शुक्र चन्द्र से और रज सूर्य से संयुक्त है, जो इनकी एकता को, विषय को समझता है वह योग को जानने वाला है ॥ ६४ ॥ अब महामुद्रा को बतलाते हैं, जिससे नाडी जाल का शोधन, चन्द्र, सूर्य का चलाना और रस का सुखाना होता है ॥ ६५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीडय सुचिरं योनिं च वामाङ्‌घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरित पादं तथा दक्षिणम्
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचये-
देतद्व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥६६॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः ।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६७ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६८ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य रोगाः क्षय यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥६९॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

ठोडी को छाती पर रखकर, बाँये पैर से योनि स्थान को देर तक दाबकर, दाँये पैर को सीधा फैला दोनों हाथों से भली प्रकार पकड़े। तब दोनों कुक्षियों (बगलों) में श्वास भरे और फिर धीरे-धीरे उसका रेचन करे, यह सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने वाली महामुद्रा कही जाती है ॥ ६६ ॥ पहले चन्द्र अंश (बाँयी नासिका) से अभ्यास करे फिर सूर्य अंश (दाँयी नासिका) से अभ्यास करे । जब दोनों की संख्या समान हो जाय तब अभ्यास को बन्द करदे ॥ ६७ ॥ इस मुद्रा के प्रभाव से पथ्य-अपथ्य ही नही, सब प्रकार का नीरस भोजन भी रसवान बन जाता है, अधिक खाया हुआ और तीव्र विष भी अमृत के समान पच जाता है ॥ ६८ ॥ क्षय, कोढ़, गुदावर्त (भगन्दर) गुल्म, अजीर्ण और आगे होने वाले समस्त रोग महामुद्रा के अभ्यास से शमन हो जाते है ॥ ६९ ॥ मनुष्यों को महासिद्धि देने वाली जो यह महा-

यदि यहाँ बताई गई है, इसको प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये, चाहे योनि किसी को न बतलाना चाहिये ॥ ७० ॥

॥ ५९ पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम् ॥ ७१ ॥

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म । तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयं ज्योतिरात्मिका । आत्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । तेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति । तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः । राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति । एते त्रयो गुणयुक्ताः । ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव । धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः । एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते । तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम् । ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते । ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्रणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते । गुणत्रययुक्तं कारणम् । सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्रः । तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजसप्राज्ञात्मानश्चेति ॥

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः ॥ ७२ ॥

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर, सीधा बैठकर, शरीर और शिर को सीधा रखकर, नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर अव्यय

ओंकार का जप करना चाहिये ॥ ७१ ॥ ॐ नित्य, शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, निरञ्जन, नाम रहित, अनादि, मृत्यु स्वरूप, एक तुरीय, भूत, भविष्य-वर्त्तमान में अविच्छिन्न रहने वाला जो परब्रह्म है, उसीसे स्वयंज्योति रूप पराशक्ति उत्पन्न हुई है। आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इस पञ्च महाभूतों के पाँच पति (स्वामी) सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा है। इनमें से ब्रह्मा उत्पत्ति, विष्णु स्थिति और रुद्र प्रलय के करने वाले हैं। ब्रह्मा रजोगुणयुक्त, विष्णु सतोगुण वाले और रुद्र तमोगुण वाले है। ब्रह्मा देवताओं से प्रथम उत्पन्न हुये। ब्रह्मा सृष्टि रचने के लिये, विष्णु सृष्टि का पालन करने के लिये, रुद्र नाश करने के लिये और चन्द्रमा भोगों के लिये सबसे पहले हुये। इनमें से ब्रह्मा से लोक, देव, तिर्यक, नर और स्थावर की उत्पत्ति होती है। इनमें से मनुष्यों का शरीर पञ्चभूत से मिलकर बनता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान, विषय, प्राण आदि पञ्च वायु, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—ये सब स्थूल रूप मे कल्पे हुये है और वह शरीर भी स्थूल प्रकृति का ही कहा जाता है। ये ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान, विषय, पञ्च वायु, मन, बुद्धि, सूक्ष्म रूप मे 'लिंग' कहे जाते हैं। तीन गुणों से युक्त कारण है। इससे सब के तीन शरीर होते हैं। चार अवस्थाये जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय है, जिनके अधिपति विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा मे चार पुरुष होते है। स्थूल का भोक्ता विश्व है, एकान्त का भोक्ता तैजस है, आनन्द का भोक्ता प्राज्ञ है और 'पर' सबका साक्षी रूप है ॥ ७२ ॥

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥ ७३ ॥

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो

लोकास्त्रयो गुणास्त्रयोऽक्षराणि एवं प्रणवः प्रकाशते ।

अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु ।
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥ ७४ ॥

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः । हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः । कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः ।

अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते ।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥ ७५ ॥

मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेनि तथोच्यते ।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥ ७६ ॥

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् ।
अकारे लीयते ब्रह्मा उकारे लीयते हरिः ॥ ७७ ॥

मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते ।
ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञानीनामधोमुखः ॥ ७८ ॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित् ।
अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥ ७९ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दोर्घघण्टानिनादवत् ।
प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ॥ ८० ॥

वह (पर-तत्व) सब जीवों के भोग काल में प्रथक रूप से रहता है और सब अवस्थाओं में अधोमुख रहकर आनन्द रूप है ॥ ७३ ॥ 'अ' कार 'उ' कार और 'म' कार ये तीन, तीन वर्ण, तीन वेद, तीनलोक, तीन गुण, तीन अक्षर, तीन स्वर—ये सब प्रणव द्वारा प्रकाशित होते हैं । सर्व जीवों में जाग्रत अवस्था में 'अ' कार नेत्रों में रहता है, स्वप्नावस्था में 'उ' कार कण्ठ में रहता है और सुषुप्ति अवस्था में 'म' कार हृदय में रहता है ॥ ४७ ॥ 'अ' कार स्थूल, विराट और विश्व है; 'उ' कार हिरण्यगर्भ, तैजस और सूक्ष्म

है और 'म' कार कारण, अव्याकृत और प्राज्ञ है। 'अ' कार राजस, रक्तवर्ण और ब्रह्मा कहा जाता है। 'उ' कार सात्विक, शुक्ल-वर्ण और विष्णु कहा जाता है, तथा 'म' कार को तामस, कृष्ण वर्ण और रुद्र के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार प्रणव से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति है, प्रणव से ही विष्णु की उत्पति है और प्रणव से ही रुद्र उत्पन्न हुआ है। प्रणव ही परातत्व है। ब्रह्मा 'अ' कार में लय हो जाते हैं, 'उ' कार में विष्णु का लय होता है और 'म' कार में रुद्र लय होते है, केवल प्रणव ही प्रकाशित (स्थिर) रहता है। वह ज्ञानी में ऊर्ध्वमुख होता है और अज्ञानी में अधोमुख होता है। इस प्रकार प्रणव ही निश्चय रूप से स्थित है और उसको जानने वाला ही वेदविद् कहा जाता है। वह अनाहत रूप से ज्ञानियों में ऊर्ध्वगति होता है।।७५–७९।। प्रणव की यह अनाहत ध्वनि तेल की अवच्छिन्न धार और घण्टा के दीर्घ निनाद (शब्द) के समान होती है और अग्रभाग ही ब्रह्म कहा जाता है ।। ८० ।।

ज्योतिर्मय तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ।। ८१ ।।
जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हस एव प्रकाशते ।
सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ।। ८२ ।।
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम् ।
सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद् ध्रुवम् ।। ८३ ।।
इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते ।
ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः ।। ८४ ।।
भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ८५ ।।

वह अग्रभाग (ब्रह्म) ज्योतिर्मय और वाणी से परे है, महा-पुरुष उसे सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देखते है, उसका जानने वाला ही वेदवित्

है ॥ ८१ ॥ जाग्रत अवस्था में दोनों नेत्रों के मध्य हंस प्रकाशित होता है। इसमें से 'स' कार खेचरी रूप है और वह निश्चित रूप से 'त्वं' का पद है। 'ह' कार परमेश्वर का पद है और उससे निश्चित रूप से 'तत्' प्रकट होता है। जो जीव 'स' कार का ध्यान करता है वह निश्चय रूप से 'ह' कार (ईश्वर) हो जाता है ॥ ८२—८३ ॥ इन्द्रियाँ जीव को बन्ध में डालती हैं, वे आत्मा को नहीं बाँध सकती। ममता होने से जीव रहता है और ममता के छूट जाने पर कैवल्य-स्वरूप हो जाता है ॥ ८४ ॥ भूलोक, भुवः लोक और स्वर्लोक तथा चन्द्र, सूर्य और अग्नि देवता परम ज्योति स्वरूप ॐ कार की मात्राओं में ही स्थित रहते है ॥ ८५ ॥

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रा स्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८६ ॥
वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८७ ॥
शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८८ ॥
चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥ ८९ ॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥ ९० ॥

क्रिया, इच्छा और ज्ञान ये तीन शक्तियाँ; ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी ये तीन मात्रायें परम ज्योति रूप 'ॐ' कार में स्थित हैं ॥ ८६ ॥ उसे वाणी से सदैव जपे, शरीर से सदैव उसका अभ्यास (आचरण) करे, मन से उसका सदैव जप करे, वही परम ज्योति स्वरूप ॐ कार है ॥ ८७ ॥ शुद्ध अथवा अशुद्ध अवस्था में भी जो सदैव ॐ कार का जप करता रहता है, वह पाप में लिप्त नहीं

होता और संसार में कमल पत्रवत् रहता है ॥ ८८ ॥ वायु के चलित होने पर विन्दु भी चलित होता है और वायु के निश्चल रहने पर वह भी स्थिर रहता है। विन्दु की स्थिरता से योगी निश्चल होता है, इस लिये वायु का निरोध करना ॥ ८९ ॥ जब तक देह में वायु स्थित है तब तक जीव उसे नही छोड़ सकता। वायु का निकल जाना ही मृत्यु है, इसलिये वायु का निरोध करे ॥ ९० ॥

यावद्बद्धो मरुत् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९१ ॥
अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत् ॥ ९२ ॥
षड्विंशदङ्गुलीर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते ॥ ९३ ॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ॥ ९४ ॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ९५ ॥

जब तक देह में वायु स्थिर है तब तक जीव नहीं छूट सकता। जब तक दोनों भौंहों की बीच में दृष्टि स्थिर है तब तक काल का भय कहाँ ? ॥ ९१ ॥ काल से बचने के लिये ब्रह्मा भी प्राणायाम परायण होते हैं, इसलिये योगियों और मुनियों को चाहिये कि प्राण के निरोध का अभ्यास करें ॥ ९२ ॥ हंस (श्वास) छब्बीस अंगुल बाहर जाता है। बाँये और दाहिने मार्ग से प्राणायाम किया जाता है ॥ ९३ ॥ जब नाड़ीचक्र सब प्रकार के मलों से शुद्ध हो जाता है, तब योगी प्राणों के निरोध में समर्थ होता है ॥ ९४ ॥ योगी को बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र (बाँयी नासिका) से वायु को खींचना

और उसे यथाशक्ति भीतर रोककर सूर्य (दाहिनी नासिका) से बाहर निकालना ॥ ६५ ॥

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ६६ ॥
स्फुरत्प्रज्वलसज्ज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखीभवेत् ॥ ६७ ॥
प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः ॥६८॥
यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ ६६ ॥
प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत् ।
एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने स्थितिः ॥ १०० ॥

अमृत के समुद्र के समान, गौ के दूध के सदृश्य धवल चन्द्रमा के विम्ब का ध्यान करता हुआ प्राणायाम करे ॥ ६६ ॥ फिर प्रज्ज्वलित ज्वाला के समान हृदय में स्थित सूर्य भगवान का ध्यान करते हुये प्राणायाम करे ॥ ६७ ॥ पहले इडा (बाँयी) नाड़ी से श्वांस लेकर पिङ्गला दाहिनी से रेचक करे; फिर पिङ्गला से श्वास लेकर इडा से बाहर निकालदे । इस प्रकार सूर्य और चन्द्र दोनों विन्दुओं का ध्यान (अभ्यास) करने से दो मास में नाड़ी शुद्ध हो जाती हैं ॥ ६८ ॥ वायु का यथेष्ट धारण करना, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, नाद का सुनाई पड़ना, आरोग्य—ये सब नाड़ी शोधन से प्राप्त होते हैं ॥ ६६ ॥ जब तक देह में प्राणवायु स्थित है तब तक अपान को रोके । एक श्वास वाली मात्रा हृदयाकाश में ऊपर और नीचे गतिमान होती है ॥ १०० ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥ १०१ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ निशाकरदिवाकरौ ।
दोषाजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ १०२ ॥

पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत् ।
रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते ॥ १०३ ॥
अधमे द्वादशा मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ १०४ ॥
अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥ १०५ ॥

रेचक, पूरक और कुम्भक ये प्रणव स्वरूप है, इस प्रकार का प्राणायाम द्वादश मात्रा में करना ॥ १०१ ॥ यह द्वादश मात्रा संयुक्त सूर्य और चन्द्र का प्राणायाम समस्त दोषों का नाश करने वाला है ॥ १०२ ॥ बारह मात्रा का पूरक करके सोलह मात्रा का कुम्भक करना चाहिये तब फिर दस मात्रा रेचक करना—यह ओंकार प्राणायाम कहा जाता है ॥ १०३ ॥ द्वादश मात्रा का प्राणायाम हलका है, इससे दुगुनी मात्रा वाला मध्यम है और तिगुनी मात्रा वाला उत्तम कहा जाता है ॥ १०४ ॥ हलके प्राणायाम से पसीना आता है, मध्यम से कम्पन उत्पन्न होता है, उत्तम में आसन से उठता जान पड़ता है, इस प्रकार वायु का निरोध करना चाहिये ॥ १०५ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ १०६ ॥
द्वाराणां नव संनिरुध्य मरुतं बद्ध्वा दृढां धारणां
नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम् ।

आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते ॥ १०७ ॥
प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १०८ ॥
आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ १०९ ॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥११०॥

(बद्ध पद्मासन पर बैठकर शिव रूपी गुरु को नमस्कार करना चाहिये फिर नासाग्र पर दृष्टि रखकर एकाकी प्राणायाम का अभ्यास करना ॥ १०६ ॥ नवों द्वारों को रोक वायु को बाँध कर दृढतापूर्वक शक्तिचालन करके अपान और अग्नि सहित कुण्डलिनी को ऊपर ले जाय और आत्म ध्यानपूर्वक उसे मस्तक मे स्थिर करे, जब तक यह स्थिर रहे तब तक श्रेष्ठ है ॥१०७॥ ऐसा प्राणायाम पाप रूपी ईंधन के लिये अग्नि स्वरूप है और संसार-सागर से पार होने के लिये सेतु के समान हैं ॥ १०८ ॥ आसन से रोगों का नाश होता है और प्राणायाम से पापों का । योगी के मन के विकार प्रत्याहार से दूर हो जाते है ॥ १०९ ॥ धारणा से मनमें धैर्य आता है, समाधि द्वारा अद्भुत चैतन्य की प्राप्ति होती है और इस प्रकार शुभाशुभ कर्मों का नाश होकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ११० ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥ १११ ॥
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ ११२ ॥
समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।

तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥ ११३ ॥
संबद्ध्वाऽऽसनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वारानङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् ।
बद्ध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मनाः ॥ ११४ ॥
गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टाऽऽदीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता ॥ ११५ ॥

प्राणायाम के द्वादश बार के अभ्यास से प्रत्याहार होता है और बारह प्रत्याहार का अभ्यास करने से शुभ धारणा उत्पन्न होती है। बारह धारणा को ध्यान कहा गया है और बारह ध्यान से समाधि कहलाती है ॥ ११२ ॥ समाधि होने पर जो परमज्योति अनन्त और विश्वतोमुख का भाव होता है उससे क्रिया, कर्म और आवागमन से छूट जाता है ॥ ११३ ॥ आसन पर बैठकर दोनों चरणों को मेढ्र स्थान मे लगाकर, कान, आँख और नाक के द्वारों को अँगुलियों से बन्द करके, वायु को मुख द्वारा खींचकर भीतर ले जाय। उसे अपान के साथ मिलाकर छाती में रोके फिर मस्तक में स्थिर करे, इस प्रकार उसमे मन को संलग्न करके योगीजन समभाव के विशेष तत्व को प्राप्त करते है ॥ ११४ ॥ आकाश मण्डल में पवन के जाने से महान ध्वनि (नाद) सुनाई देने लगती है, घण्टा आदि का शब्द सुनने में आता है और नाद-सिद्धि होती है ॥ ११५ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥ ११६ ॥
हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदना ।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥ ११७ ॥
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।

तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ ११८ ॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं प्रपूरयेत् ।
युक्तं युक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ११९ ॥
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ १२० ॥
यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥ १२१ ॥
इत्युपनिषत् ॥

प्राणायाम का अभ्यास होने से सब रोग दूर हो जाते हैं और प्राणायाम से रहित होने से सब रोग उत्पन्न होते हैं ॥ ११६ ॥ हिचकी, खाँसी, श्वास, सिर, कान और आँख की पीड़ा आदि विविध प्रकार के रोगों का कारण वायु का विकार ही होता है ॥ ११७ ॥ जिस प्रकार सिंह, हाथी, व्याघ्र आदि जो धीरे-धीरे वश में किया जाता है उसी प्रकार वायु को भी क्रमशः वश में करना चाहिये, अन्यथा वह साधक का नाश कर देता है ॥ ११८ ॥ वायु को युक्ति पूर्वक ही बाहर निकालना चाहिये और युक्ति पूर्वक ही भीतर लेना चाहिये और युक्ति से ही रोकना चाहिये, तभी सिद्धि मिलती है ॥ ११९ ॥ चक्षु आदि इन्द्रियाँ जो विषयों की तरफ चलती हैं उस को रोकना प्रत्याहार है ॥ १२० ॥ जिस प्रकार तीसरे प्रहर में सूर्य का प्रकाश कम हो जाता है, उसी प्रकार योगी तीसरे अङ्ग में स्थित होकर मन के विकारो का शमन करे, यह उपनिषद् है ॥ १२१ ॥

॥ योगचूडामणि उपनिषद् समाप्त ॥

अन्नपूर्णोपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसतनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुडदेव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करे ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

निदाघो नाम योगीन्द्रः ऋभुं ब्रह्मविदां वरम्।
प्रणम्य दण्डवद्भूमावुत्थाय स पुनर्मुनिः ॥ १ ॥
आत्मतत्त्वमनुब्रूहीत्येवं पप्रच्छ सादरम्।
कयोपासनया ब्रह्मन्नीदृशं प्राप्तवानसि ॥ २ ॥
तां मे ब्रूहि महाविद्यां मोक्षसाम्राज्यदायिनीम्।
निदाघ त्वं कृतार्थोऽसि शृणु विद्यां सनातनीम् ॥ ३ ॥
यस्या विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि।
मूलशृङ्गाटमध्यस्था बिन्दुनादकलाऽऽश्रया ॥ ४ ॥
नित्यानन्दा निराधारा विख्याता विलसत्कचा।
विष्टपेशी महालक्ष्मीः कामस्तारो नतिस्तथा ॥ ५ ॥

हरि ॐ। निदाघ नाम के योगीन्द्र ने ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ऋभु के सम्मुख पृथ्वी पर पड़ कर दण्डवत् प्रणाम की और फिर खड़े रहकर मुनि से उन्होंने आदरपूर्वक कहा कि "मुझे आत्मतत्व का उपदेश कीजिये। हे ब्राह्मण! किस उपासना द्वारा तुमने ऐसा आत्मतत्व प्राप्त किया है? मोक्ष का साम्राज्य देने वाली इस महाविद्या का मुझे उपदेश करो।" यह सुनकर ऋभु ने कहा कि हे निदाघ! तू कृतार्थ है। इस सनातन विद्या को तू सुन ॥ १—३ ॥ इसका ज्ञान होने मात्र से तू जीवन्मुक्त हो जायगा। यह विद्या मूलमंत्र के रूप मे द्वार के मध्य रहती है; बिन्दु, नाद और कला से आश्रित है; नित्य आनन्द रूप, आधार रहित, विख्यात, शोभायमान केशयुक्त जगत की ईश्वरी और महालक्ष्मी रूप है ॥ ५ ॥

भगवत्यन्नपूर्णेति ममाभिलषितं ततः।
अन्नं देहि ततः स्वाहा मन्त्रसारेति विश्रुता ॥ ६ ॥
सप्तविंशतिवर्णात्मा योगिनीगणसेविता ॥ ७ ॥
ऐं ह्रीं सौः श्रीं क्लीं ओं नमो भगवत्यन्नपूर्णे
ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा ॥
इति पित्रोपदिष्टोऽस्मि तदादि नियमस्थितः।
कृतवान् स्वाश्रमाचारो मन्त्रानुष्ठानमन्वहम् ॥ ८ ॥
एवं गते बहुदिने प्रादुरासीन्ममाग्रतः।
अन्नपूर्णा विशालाक्षी स्मयमानमुखाम्बुजा ॥ ९ ॥
तां दृष्ट्वा दण्डवद्भूमौ नत्वा प्राञ्जलिरास्थितः।
अहो वत्स कृतार्थोऽसि वरं वरय मा चिरम् ॥ १० ॥

इसमें प्रथम कामनादायी बीजमंत्र 'ॐ कार' और 'नमः' पद है; फिर 'भगवती अन्नपूर्णा मम अभिलषितम्' यह पद है; फिर 'अन्नं देहि' यह पद है और फिर 'स्वाहा' पद है। यह विद्या मंत्रों में

सार रूप से विख्यात है। इसमें २७ अक्षर हैं और योगनिश्रों के गण उसकी सेवा करते है। 'ऐं, ह्री, सौं, श्री, क्ली ॐ नमो भगवति अन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा' इस विद्या का मुझको मेरे पिता ने उपदेश किया, तब से मै नियम में रहा और अपने आश्रम धर्म के आचार का पालन करते हुये प्रतिदिन इस मंत्र का अनुष्ठान (जप) करने लगा ॥ ४—८ ॥ इस प्रकार जब बहुत दिन बीत गये तब मेरे सामने अन्नपूर्णा प्रकट हुई, वह विशाल नेत्रों वाली और हँसते मुख कमल वाली थी ॥ ९ ॥ उनको देखकर भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर मै खड़ा रहा। तब उन्होंने कहा—"हे पुत्र तू कृतार्थ हुआ है, वरदान माँग। देर मत कर' ॥ १० ॥

एवमुक्तो विशालाक्ष्या मयोक्तं मुनिपुङ्गव ।
आत्मतत्त्वं मनसि मे प्रादुर्भवतु पार्वति ॥ ११ ॥
तथैवास्त्विति मामुक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत ।
तदा मे मतिरुत्पन्ना जगद्वैचित्र्यदर्शनात् ॥ १२ ॥
भ्रमः पञ्चविधो भाति तदेवेह समुच्यते ।
जीवेश्वरौ भिन्नरूपाविति प्राथमिको भ्रमः ॥ १३ ॥
आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा द्वितीयकः ।
शरीरत्रयसंयुक्तजीवः सङ्गी तृतीयकः ॥ १४ ॥
जगत्कारणरूपस्य विकारित्वं चतुर्थकः ।
कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वं पञ्चमो भ्रमः ।
पञ्चभ्रमनिवृत्तिश्च तदा स्फुरति चेतसि ॥ १५ ॥

बिम्बप्रतिबिम्बदर्शनेन भेदभ्रमो निवृत्तः। स्फटिकलोहित-दर्शनेन पारमार्थिककर्तृत्वभ्रमो निवृत्तः। घटमठाकाशदर्शनेन सङ्गीति भ्रमो निवृत्तः। रज्जुसर्पदर्शनेन कारणाद्भिन्नजगतः

सत्यत्वभ्रमो निवृत्तः । कनकरुचकदर्शनेन विकारित्वभ्रमो निवृत्तः ॥

तदा प्रभृति मच्चित्तं ब्रह्माकारमभूत् स्वयम् ।
निदाघ त्वमपीत्थं हि तत्त्वज्ञानमवाप्नुहि ॥ १६ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! विशाल नेत्र वाली उस देवी ने ऐसा कहा, तो मै बोला—"हे पार्वती, मेरे मन में आत्मतत्व प्रकट हो" ॥ ११ ॥ "तथैवास्तु" (ऐसा ही हो) कहकर देवी वहीं पर अदृश्य हो गई। तत्पश्चात् उसी समय जगत की विचित्रता का दर्शन होने से मुझे ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई है ॥ १२ ॥ पाँच प्रकार का भ्रम भासता है, यहाँ मै उसे बतलाता हूँ—"जीव और ईश्वर जुदा-जुदा रूप वाले है" यह पहला भ्रम है; 'कर्तापन का गुण आत्मा मे है और वह वास्तविक है' यह दूसरा भ्रम है; "जीव तीन शरीरों से युक्त और संगयुक्त है' यह तीसरा भ्रम है; 'जगत के कारण का स्वरूप विकारी है, यह चौथा भ्रम है और 'जगत अपने कारण से भिन्न होकर सत्य है' यह पाँचवां भ्रम है। यह पाँचों भ्रम तभी दूर होते है कि जब बिम्ब और प्रतिबिम्ब को देखते हुये उन दोनों की एकता जान पड़ती है; उस समय प्रथम (जीव और ईश्वर की भिन्नता का) भ्रम दूर होता है। स्फटिकमणि में दिखाई देने वाली लालिमा किसी फूल आदि के समीप रहने से ही है, ऐसा दृष्टान्तपूर्वक देख लेने से 'आमा में सत्य जान पड़ने वाले कर्तापन का (दूसरा) भ्रम दूर होता है। घटाकाश, मठाकाश आदि आकाशों का घड़ा, मठ आदि उपाधियों से किंचित भी संग नहीं है, ऐसा उदाहरण देखने से 'आत्मा में संगीपन' का (तीसरा) भ्रम दूर हो जाता है। 'रस्सी में दिखाई पड़ने वाला साँप सच्चा नहीं होता', ऐसा देख लेने पर "जगत अपने कारण से भिन्न सत्य है। यह (चौथा) भ्रम दूर होता है। 'सोना और आभूषण वास्तव में भिन्न

नही होते,' इस उदाहरण को समझ लेने पर 'जगत का कारण ब्रह्म विकारी है' यह भ्रम दूर हो जाता है। इस प्रकार पाँचों भ्रम जब दूर हो गये, तब से मेरा चित्त अपने आप ब्रह्माकार होगया। हे निदाघ ! इसी प्रकार तू भी तत्वज्ञान प्राप्त कर ॥ १३—१६ ॥

निदाघः प्रणतो भूत्वा ऋभुं पप्रच्छ सादरम् ।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय ब्रह्मविद्यामनुत्तमाम् ॥ १७ ॥
तथेत्याह ऋभुः प्रीतस्तत्त्वज्ञानं वदामि ते ।
महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ ।
स्वस्वरूपानुसंधानमेवं कृत्वा सुखी भव ॥ १८ ॥
नित्योदितं विमलमाद्यमनन्तरूपं
ब्रह्मास्मि नेतरकलाकलनं हि किंचित् ।
इत्येव भावय निरञ्जनतामुपेतो
निर्वाणमेहि सकलामल शान्तवृत्तिः ॥ १९ ॥
यदिदं दृश्यते किंचित् तत्तन्नास्तीति भावय ।
यथा गन्धर्वनगर यथा वारि मरुस्थले ॥ २० ॥

फिर निदाघ ने आदरपूर्वक प्रणाम करके ऋभु से कहा—"मुझ श्रद्धालु को सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या का उपदेश करो" ॥ १७ ॥ तब "बहुत उत्तम" ऐसा कहकर प्रसन्न होकर ऋभु बोले—"मैं तुझे तत्वज्ञान का उपदेश करता हूँ। हे निर्दोष ! तू महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी बन और इस प्रकार स्वरूपानुसन्धान करके सुखी हो ॥ १८ ॥ "मैं नित्य उदय होने वाला, निर्मल, आद्य और अनन्त रूप वाला ब्रह्म हूँ, दूसरे अंश जो जान पड़ते हैं वे कुछ भी नही हैं' ऐसी भावना तू कर और निरंजन अवस्था प्राप्त करके सम्पूर्ण निर्मल और शान्त प्रकृति वाला बनकर निर्वाण प्राप्त कर ॥ १९ ॥ जिस प्रकार गन्धर्व नगर नही होता और निर्जल प्रदेश में

दिखाई पड़ने वाला मृगतृष्णा का जल नहीं होता, इसी प्रकार यह जो कुछ दिखाई पड़ता है वह कुछ भी नहीं है, ऐसा विचार किया कर ॥ २० ॥

यत्तु नो दृश्यते किंचिद्यत्तु किंचिदिव स्थितम् ।
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं तन्मयो भव वै मुने ॥ २१ ॥
अविनाशि चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम् ।
नीरन्ध्रं भूरिवाशेषं तदस्मीति विभावय ॥ २२ ॥
यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात् ।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥ २३ ॥
नूनं चैत्यांशरहिता चिद्यदाऽऽत्मनि लीयते ।
असद्रूपवदत्यच्छा सत्तासामान्यता तदा ॥ २४ ॥
दृष्टिरेषा हि परमा सदेहादेहयोः समा ।
मुक्तयोः सभवत्येव तुर्यातीतपदाभिधा ॥ २५ ॥

हे मुनि ! जो स्वरूप कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता तो भी जान पड़ता है कि कुछ है; जो ऐसा है और मन सहित छः इन्द्रियों से परे है, उसमें तू तन्मय हो जा ॥ २१ ॥ चैतन्याकाश अविनाशी, सर्व स्वरूप, अखंडित और पृथ्वी के समान छिद्र रहित है, वह समग्र चैतन्य "मैं" हूँ, ऐसा तू मान ॥ २२ ॥ वस्तुओं के अभाव की अत्यन्त भावना करने से जब चित्त नाश को प्राप्त होता है, तब चैतन्य के सामान्य स्वरूप की ही सामान्य सत्ता (अस्तित्व) रहती है ॥ २३ ॥ विषयों के अंश रहित ज्ञान जब आत्मस्वरूप में लय पाता है, तब असत् रूप के समान अति स्वच्छ सामान्य सत्ता ही रहती है ॥ २४ ॥ यही परमदृष्टि सदेह और अदेह मुक्त में एक समान ही संभव है और इसी का नाम 'तुरीयातीत' पद है ॥ २५ ॥

व्युत्थितस्य भवत्येषा समाधिस्थस्य चानघ ।
ज्ञस्य केवलमज्ञस्य न भवत्येव बोधजा ॥ २६ ॥

अनानन्दसमानन्द मुग्धमुग्धमुखद्युतिः ।
चिरकालपरिक्षीणमननादिपरिभ्रमः ॥
पदमासाद्यते पुण्य प्रज्ञयैवैकया तथा ॥ २७ ॥
इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलया याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥ २८ ॥
अवासनं स्थिरं प्रोक्तं मनोध्यानं तदेव च ।
तदेव केवलीभावं शान्ततैव च तत् सदा ॥ २९ ॥
तनुवासनमत्युच्चैः पदायोद्यतमुच्यते ।
अवासनं मनोऽकर्तृ पदं तस्मादवाप्यते ॥ ३० ॥

हे निर्दोष ! ज्ञान से प्राप्त होने वाली यह दृष्टि समाधि में से उठे हुये या समाधि मे रहने वाले केवल ज्ञानी को ही होती है, अज्ञानियों को नहीं होती। उसमें आनन्द का अभाव जैसा आनन्द और मुग्ध में मुग्ध मनुष्य जैसी मुख की कान्ति होती है ॥ २६ ॥ फिर चिरकाल के मनन आदि का भ्रम भी उसमें नाश को प्राप्त हो जाता है। इस पवित्र पद को एकमात्र प्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ॥ २७ ॥ जो पुरुष भीतर की शीतल स्थिति से इस गुण समुदाय को अनात्म रूप मे देखता है, उसकी वह समाधि अवस्था कहलाती है ॥ २८ ॥ इसी को वासना रहित स्थिर मनोध्यान कहा गया है, यही केवल ज्ञान वाले का भाव है और यही सर्वदा की शान्ति है ॥ २९ ॥ अल्प वासना वाला मन, अति उच्चपद पर आरूढ़ होने को तत्पर हुआ कहा जाता है और मन जब वासना रहित हो जायगा तभी उससे तू कर्ता बिना का पद प्राप्त कर सकेगा ॥ ३० ॥

घनवासनमेतत्तु चेत.कर्तृत्वभावनम् ।
सर्वदुःखप्रदं तस्माद्वासनां तनुतां नयेत् ॥ ३१ ॥

चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम् ।
सर्वमाकाशतामेति नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ॥ ३२ ॥
यथा विपणगा लोका विहरन्तोऽप्यसत्समाः ।
असंबन्धात्तथा ज्ञस्य ग्रामोऽपि विपिनोपमः ॥ ३३ ॥
अन्तर्मुखतया नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन् पठन् ।
पुरं जनपदं ग्राममरण्यमिव पश्यति ॥ ३४ ॥
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत् ।
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमयं जगत् ॥ ३५ ॥

यह चित्त जब बहुत वासना वाला होता है, तब कर्तापन की भावना वाला बनकर सब प्रकार के दुःखों को देता है, इसलिये वासना को ही कम करना चाहिये ॥ ३१ ॥ सब पदार्थों पर से आत्म भावना का चित्त द्वारा त्याग करके जो पुरुष नित्य अन्तर्मुख स्थिति वाला होता है, उसकी दृष्टि में सब कुछ आकाश रूप ही बन जाता है (अर्थात् कहीं भी कोई पदार्थ दिखाई नही देता) ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार बाजार में बहुत से लोग फिरते रहते हैं, पर उनके साथ सम्बन्ध न होने से कोई कुछ भी मालूम नहीं पड़ता, इसी प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में सम्बन्ध न होने से गाँव भी जङ्गल ही जैसा लगता है ॥ ३३ ॥ यह ज्ञानी सदैव अन्तर्मुख होता है; इस लिये सोता हो, जागता हो, चलता हो, स्पष्ट बात कर रहा हो, तो भी शहर को, देश को, गाँव को जङ्गल के समान ही देखता है ॥ ३४ ॥ अन्तर में शीतलता प्राप्त होती है तब जगत भी शीतल (अस्तित्व रहित) बन जाता है; पर अन्तर में तृष्णा से जो तप रहे हैं, उनको जगत दावानल रूप जान पड़ता है ॥ ३५ ॥

भवत्यखिलजन्तूनां यदन्तस्तद्बहिः स्थितम् ॥ ३६ ॥
यस्त्वात्मरतिरेवान्तः कुर्वन् कर्मेन्द्रियैः क्रियाः ।

न वशो हर्षशोकाभ्यां स समाहित उच्यते ॥ ३७ ॥
आत्मवत् सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्टवत् ।
स्वभावादेन न भयाद्यः पश्यति स पश्यति ॥ ३८ ॥
अद्यैव मृतिरायातु कल्पान्तनिचये न वा ।
नासौ कलङ्कमाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा ॥ ३९ ॥
कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी ।
विचारयान्तरे वेत्थं महत्तत्फलमेष्यसि ॥ ४० ॥

क्योंकि सब प्राणियों को जैसा अन्तर में होता है वैसा ही बाहर भी दिखाई देता है ॥ ३६ ॥ जो पुरुष अन्तर में केवल आत्मा के साथ ही रमण करता है, वह कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रियाएें करता है, पर हर्ष और शोक के वश नही होता और वही समाधिनिष्ठ कहा जाता है ॥ ३७ ॥ जो मनुष्य भय से नही पर स्वभाव से ही सर्व प्राणियों को अपना जैसा देखता है और दूसरे के द्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान समझता है, वह (सच्चा) देखता है ॥ ३८ ॥ ऐसे मनुष्य की चाहे आज ही अथवा कल्प के अन्त में मृत्यु हो, तो भी वह कीचड़ में पड़े हुये सोने की तरह किसी तरह के कलङ्क (दोष) को प्राप्त नही होता ॥ ३९ ॥ "मैं कौन हूँ, यह किस प्रकार का अथवा क्या है और जन्म-मरण किस कारण से होता है ?" इस प्रकार अन्तर में तू विचार किया कर; इससे तू मोक्ष रूपी महान फल को प्राप्त करेगा ॥ ४० ॥

विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य सतस्तव ।
मनः स्वरूपमुत्सृज्य शममेष्यति विज्वरम् ॥ ४१ ॥
विज्वरत्वं गत चेतस्तव संसारवृत्तिषु ।
न निमज्जति तद्ब्रह्मन् गोष्पदेष्विव वारणः ॥ ४२ ॥
कृपणं तु मनो ब्रह्मन् गोष्पदेऽपि निमज्जति ।

कार्ये गोष्पदतोयेऽपि विशीर्णो मशको यथा ॥ ४३ ॥
यावद्यावन्मुनिश्रेष्ठ स्वयं संत्यज्यतेऽखिलम् ।
तावत्तावत् परालोकः परमात्मैव शिष्यते ॥ ४४ ॥
यावत् सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।
सर्ववस्तुपरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ॥ ४५ ॥

विचार द्वारा जब तू स्वभाव को जान लेगा, तब तेरा मन अपना स्वरूप तज कर संताप रहित हो जायगा और शांति पायेगा ॥ ४१ ॥ हे ब्राह्मण ! जब तेरा मन संताप रहित हो जायगा, तब गाय के पद चिह्न मे जैसे हाथी नही डूबता वैसे ही तू सांसारिक व्यवहारो में मग्न नही हो सकेगा ॥ ४२ ॥ हे ब्राह्मण ! जैसे छिन्न-भिन्न हुआ मच्छर गाय के खुर जितने में भी डूब जाता है, वैसे ही दीनतायुक्त मन गाय के खुर के समान क्षुद्र कार्य में भी निमग्न हो जाता है ॥ ४३ ॥ हे श्रेष्ठ मुनि ! जैसे-जैसे स्वभावतः सब छूटता जाता है, वैसे-वैसे ही केवल परम प्रकाश रूप परमात्मा ही बाकी रहता है ॥ ४४ ॥ जब तक सब कुछ नहीं तज दिया जाता तब तक आत्मा नही मिलता; क्योंकि सर्व वस्तुओं का त्याग करने के पश्चात् जो कुछ शेष रहता है वही आत्मा कहलाता है ॥ ४५ ॥

आत्मावलोकनार्थं तु तस्मात् सर्वं परित्यजेत् ।
सर्वं संत्यज्य दूरेण यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ ४६ ॥
सर्वं किंचिदिदं दृश्यं दृश्यते यज्जगद्गतम् ।
चिन्निष्पन्दांश्रमात्रं तन्नान्यत् किचन शाश्वतम् ॥ ४७ ॥
समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी ।
ब्रह्मन् समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ॥ ४८ ॥
अक्षुब्धा निरहंकारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी ।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतरा स्थितिः ॥ ४९ ॥

निश्चिता विगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता ।
ब्रह्मन् समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः ॥ ५० ॥

इसलिये आत्मा का दर्शन करने के लिये सब का त्याग करना चाहिये; और सब कुछ त्याग करने के पश्चात् जो कुछ शेष रहे उसमें तन्मय होजा ॥ ४६ ॥ जगत में यह जो कुछ दृश्य दिखाई देता है, वह सब चैतन्य की चेष्टा का ही एक अंश मात्र है; इसलिये उसके अतिरिक्त और कुछ भी सनातन नही है ॥ ४७ ॥ हे ब्राह्मण ! एकाग्र हुई, नित्य तृप्त और जैसा पदार्थ हो उसको वैसा ही देखने वाली श्रेष्ठ प्रज्ञा को विद्वान समाधि कहते है ॥ ४८ ॥ हे ब्राह्मण ! निश्चय वाली, इष्ट वस्तु को तजने वाली, हेय-उपादेय से रहित और मन की परिपूर्ण जैसी स्थिति, को "समाधि" शब्द से पुकारा जाता है ॥ ५० ॥

केवलं चित्प्रकाशांशकल्पिता स्थिरतां गता ।
तुर्या सा प्राप्यते दृष्टिर्महद्भिर्वेदवित्तमैः ॥ ५१ ॥
अदूरगतसादृश्या सुषुप्तस्योपलक्ष्यते ।
मनोऽहंकारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ॥ ५२ ॥
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी ।
मनसैव मनश्छित्त्वा सा स्वयं लभ्यते गतिः ॥ ५३ ॥
तदनु विषयवासनाविनाशस्तदनु
शुभः परमस्फुटप्रकाशः ।
तदनु च समतावशात् स्वरूपे
परिणमनं महतामचिन्त्यरूपम् ॥ ५४ ॥
अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं
दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितोऽन्तः ।
बहिरुपशमिते चराचरात्मा
स्वयमनुभूयत एव देवदेवः ॥ ५५ ॥

असक्तं निश्चलं चित्तं युक्तं संसार्यविस्फुटम् ।
सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबद्धवत् ।। ५६ ।।
अन्तःसंसक्तिनिर्मुक्तो जीवो मधुरवृत्तिमान् ।
वहिः कुर्वन्नकुर्वन् वा कर्ता भोक्ता न हि क्वचित् ।। ५७ ।।

केवल चैतन्य के अंशों से कल्पित दृष्टि जब स्थिरता प्राप्त कर लेती है, उसे तुरीयावस्था कहते हैं और बड़े उत्तम वेदवेत्ता उसे पाते हैं ।। ५१ ।। लगभग सुषुप्ति जैसी उस अवस्था में मन तथा अहङ्कार का लय हो जाता है; तब अनुभव होने लगता है कि वह (सत्ता) सब पदार्थों के भीतर विद्यमान है ।। ५२ ।। परम आनन्द रूप परमेश्वर का स्वरूप जब प्रकट होता है, तब मन के द्वारा ही मन को काटकर वह अवस्था प्राप्त की जाती है ।। ५३ ।। उसके पश्चात् ही विषय वासना नाश को प्राप्त होती है और पीछे ही परम श्रेष्ठ प्रकाश स्पष्ट होता है । तत्पश्चात् समता के कारण स्वरूप में परिणाम पाते हैं । वह स्वरूप महान पुरुषों को अचिन्त्य है ।। ५४ ।। यह सब अनन्त आत्मतत्व है । यह आत्मा दृढ़ परिणाम वाले चित्त के भीतर रहता है। जिस समय चित्त बाहर के विषयों में जाने से रुक जाता है; उस समय अपने आप ही यह देवों का देव, चर-अचर का आत्मा अनुभव मे आ जाता है ।। ५५ ।। चित्त चाहे संसार में हो, पर वह आसक्ति रहित और निर्मल हो तो वह निश्चय ही मुक्त है, पर वही चित्त चाहे लम्बी तपश्चर्या से युक्त हो, पर वैसे आसक्तियुक्त हो, तो वह अत्यन्त बंधे हुये के समान ही है ।। ५६ ।। इसलिये अन्तर से आसक्ति रहित जीव मधुरवृत्ति वाला होता है और वह चाहे कोई कर्म करे या न करे, तो भी किसी भी काल मे कर्ता और भोक्ता नहीं होता ।। ५७ ।।

द्वितीयोऽध्यायः

निदाघः—

सङ्गः कीदृश इत्युक्तः कश्च बन्धाय देहिनाम् ।
कश्च मोक्षाय कथितः कथं त्वेष चिकित्स्यते ॥ १ ॥
देहदेहिविभागैकपरित्यागेन भावना ।
देहमात्रे हि विश्वासः सङ्गो बन्धाय कथ्यते ॥ २ ॥
सर्वमात्मेदमत्राहं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थिताम् ॥ ३ ॥
नाहमस्मि न चान्योऽस्ति न चायं न च नेतरः ।
सोऽसङ्ग इति संप्रोक्तो ब्रह्मास्मीत्येव सर्वदा ॥ ४ ॥
नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्यते ।
सुसमो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ५ ॥

निदाघ ने पूछा—"संग किसे कहते है ? कैसा संग प्राणी को बंधन में डालने वाला है ? और कौनसा संग मोक्ष प्रदान करने वाला है ? संग को दूर करने का उपाय क्या है ?" ॥ १ ॥ ऋभुजी बोले—शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है; ऐसा जो विभाग है, उसका त्याग करके शरीर को ही आत्मा मान लेना और केवल शरीर पर ही विश्वास रखना, ऐसा संग बन्धनकर्ता कहा जाता है ॥ २ ॥ 'यह तो सब आत्मा है, तो इसमें से किस वस्तु की मैं इच्छा करूँ और किसका त्याग करूँ ?' ऐसी भावना को तू 'असंग' स्थित जान और वह जीवन्मुक्त पुरुषों में पाई जाती है ॥ ३ ॥ 'मैं नहीं हूँ, दूसरा नही है, यह नहीं है और वह नहीं है, केवल मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जो सदा अनुभव करता रहता है, उसे संगरहित कहते हैं ॥ ४ ॥ जो न तो निष्कर्म को पसन्द

करता है, न कर्मों में आसक्त होता है और अतिशय समान भाव से रह कर सबका परित्याग करता है, उसे आसक्तिरहित कहते हैं ॥ ५ ॥

सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा ।
निपुणो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥ ६ ॥
असंकल्पेन संकल्पाश्चेष्टा नाना विजृम्भिताः ।
चिकित्सिता भवन्तीह श्रेयः संपादयन्ति हि ॥ ७ ॥
न सक्तमिह चेष्टासु न चिन्तासु न वस्तुषु ।
न गमागमचेष्टासु न कालकलनासु च ॥ ८ ॥
केवलं चिति विश्रम्य किंचिच्चैत्यावलम्ब्यपि ।
सर्वत्र नीरसमिह तिष्ठत्यात्मरसं मनः ॥ ९ ॥
व्यवहारमिदं सर्वं मा करोतु करोतु वा ।
अकुर्वन् वाऽपि कुर्वन् वा जीवः स्वात्मरतिक्रियः ॥१०॥

जो निपुण पुरुष सर्व कर्मों के फल को मन से ही त्याग देता है, कर्म से नहीं त्यागता, उसे आसक्तिरहित कहते है ॥ ६ ॥ जो अनेक प्रकार की चेष्टाओं को प्रकट करता है और उन सबको असंकल्प रूप उपाय से रोक सकता है, वह इस लोक में कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥ मन इस लोक की किसी चेष्टा में आसक्त न हो, किसी चिन्ता में न लगा हो; किन्हीं वस्तुओं में संलग्न न हो, जाने-आने की चेष्टामें भी न हो और काल की गति में भी न गया हो, परन्तु केवल चैतन्य में ही विश्राम पाकर किसी विषय का आश्रय करता हो, तो भी और सब नीरस होकर केवल आत्मारूप रस वाला ही रहता है ॥ ८—९ ॥ यह समस्त व्यवहार करे चाहे न करे, उसी प्रकार सब करता रहे या न करता रहे, पर अब जीव को अपनी आत्मा में स्मरण करने की क्रिया तो करनी ही चाहिये ॥ १० ॥

अथवा तमपि त्यक्त्वा चैत्यांशं शान्तचिद्घनः ।
जीवस्तिष्ठति संशान्तो ज्वलन्मणिरिवात्मनि ॥ ११ ॥
चित्ते चैत्यदशाहीने या स्थितिः क्षीणचेतसाम् ।
सोच्यते शान्तकलना जाग्रत्येव सुषुप्तता ॥ १२ ॥
एषा निदाघ सौषुप्तस्थितिरभ्यासयोगतः ।
प्रौढा सती तुरीयेति कथिता तत्त्वकोविदैः ॥ १३ ॥
अस्यां तुरीयावस्थायां स्थितिं प्राप्याविनाशिनीम् ।
आनन्दैकान्तशीलत्वादनानन्दपदं गतः ॥ १४ ॥
अनानन्दमहानन्द कालातीतस्ततोऽपि हि ।
मुक्त इत्युच्यते योगी तुर्यातीतपदं गतः ॥ १५ ॥

अथवा विषय के उस अंश का भी त्याग करके, शान्त चैतन्य-मय बनकर जीव अपने स्वरूप में प्रकाशित होता हुआ मणि के समान रहता है ॥ ११ ॥ चित्त जब विषयों की दशा से शान्त हो जाता है और उससे मन का नाश होकर जो स्थिति प्राप्त होती है, उस में विषयों की वासना भी शांत हो जाती है और तब जागृति में भी सुषुप्ति अवस्था रहती है ॥ १२ ॥ हे निदाघ ! ऐसी सुषुप्ति की स्थिति अभ्यास के द्वारा जब दृढ़ हो जाती है तब तत्ववेत्ता लोग उसको 'तुरीयावस्था' कहते है ॥ १३ ॥ इस तुरीयावस्था में अवि-नाशी स्थिति पाकर केवल आनन्द का ही परिचय होने से 'अनानंद' पदवी प्राप्त होती है (अर्थात् अन्त में वह आनन्द का भी अनुभव नहीं करता) ॥ १४ ॥ इस प्रकार अनानंद, महानन्द और कालातीत होने के पश्चात् तुरीयातीत पद को प्राप्त योगी मुक्त कहा जाता है ॥ १५ ॥

परिगलितसमस्तजन्मपाशः
सकलविलीनतमोमयाभिमानः ।

परमरसमयीं परात्मसत्तां
जलगतसैन्धवखण्डवन्महात्मा ॥ १६ ॥
जडाजडदृशोर्मध्ये यत्तत्त्वं पारमार्थिकम् ।
अनुभूतिमयं तस्मात् सारं ब्रह्मेति कथ्यते ॥ १७ ॥
दृश्यसंवलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते ।
द्रव्यदर्शनसंबन्धे याऽनुभूतिरनामया ॥ १८ ॥
तामवष्टभ्य तिष्ठ त्वं सौषुप्तीं भजते स्थितिम् ।
सैव तुर्यत्वमाप्नोति तस्यां दृष्टिं स्थिरां कुरु ॥ १९ ॥
आत्माऽस्थूलो न चैवाणुर्न प्रत्यक्षो न चेतरः ।
न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः ॥ २० ॥

फिर उसके समस्त जन्म रूप पाश टूट जाते हैं, समस्त अज्ञानमय अभिमान नष्ट हो जाता है और जल में पड़े हुये सेंधे नमक के टुकड़े की भांति वह महात्मा परमात्मा की सत्ता में मिल जाता है ॥ १६ ॥ जड़-चेतन के मध्य जो पारमार्थिक तत्व है, वह अनुभवमय है, इसलिये उसे साररूप ब्रह्म कहते है ॥ १७ ॥ दृश्यों के साथ मिश्रित होना ही बंधन है और उससे छूटना ही मुक्ति कहलाती है । द्रव्य (पदार्थ) के दर्शन का सम्बन्ध हो तब भी जो निर्दोष अनुभव रूप स्थिति होती है, उसका आश्रय लेकर तू रह । ऐसी सुषुप्ति रूप स्थिति को जो पाता है वह तुरीयपन को भी प्राप्त करता है; इसलिये उसी स्थिति में तू अपनी दृष्टि को स्थिर कर ॥ १८—१९ ॥ आत्मा स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष नहीं है, चेतन नहीं है, जड़ नहीं है, असत् नहीं है और सत्मय भी नहीं है ॥ २० ॥

नाहं नान्यो न चैवैको न चानेकोऽद्वयोऽव्ययः ।
यदिदं दृश्यतां प्राप्तं मनःसर्वेन्द्रियास्पदम् ॥ २१ ॥

दृश्यदर्शनसंबन्धे यत्सुखं पारमार्थिकम् ।
तदतीतं पदं यस्मात्तन्न किंचिन्निवैव तत् ॥ २२ ॥
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयो मोक्ष इतीष्यते ॥ २३ ॥
मोक्षो मेऽस्त्विवति चिन्ताऽन्तर्जाता चेदुत्थितं मनः ।
मननोत्थे मनस्येष बन्धः सांसारिको दृढः ॥ २४ ॥
आत्मन्यतीते सर्वस्मात्सर्वरूपेऽथ वा तते ।
को बन्धः कश्च वा मोक्षो निर्मूलं मननं कुरु ॥ २५ ॥

फिर वह आत्मा 'मैं' नहीं है, अन्य नहीं है, एक नहीं है और अनेक भी नही है । वह तो अद्वैत, अविनाशी और निर्विकार है। जो यह दृश्य रूप बना है वह सब इन्द्रियों का स्थान मन हैं ॥ २१ ॥ दृश्य और दर्शन का सम्बन्ध होने पर जो पारमार्थिक सुख प्राप्त होता है, वही सबसे परे रहने वाला पद है; इसलिये वह कुछ भी न हो ऐसा है ॥ २२ ॥ मोक्ष न तो आकाश की पृष्ठ पर है, न पृथ्वी पर है और न पाताल में है । सब आशाओं का नाश होने पर चित्त का जो नाश होता है उसी को मोक्ष कहते हैं ॥ २३ ॥ 'मेरी मोक्ष हो' ऐसा विचार अन्तर में पैदा हुआ तो मन का उत्थान हो जाता है; पर जो अन्य प्रकार के विचार उत्पन्न हुये और उनमें मन लगा तो संसार का दृढ़ बन्धन हो जाता है ॥ २४ ॥ आत्मा सबसे परे, सर्व रूप और सर्वव्यापक है, तो बन्धन क्या है ? और मोक्ष क्या है ? इसलिये मन को ही निर्मल बनाओ ॥ २५ ॥

अध्यात्मरतिराशान्तः पूर्णः पावनमानसः ।
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति ॥ २६ ॥
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रे निर्विकल्पे चिदात्मनि ।
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ २७ ॥
नापेक्षते भविष्यच्च वर्तमाने न तिष्ठति ।

न संस्मरत्यतीतं च सर्वमेव करोति च ॥ २८ ॥
अनुबन्धपरे जन्तावसंसर्गमनाः सदा ।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥ २९ ॥
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान् ।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेषु सुदुःखधीः ॥ ३० ॥

जो आत्मा मे ही रमण करने वाला हो, सम्पूर्ण शान्त हो, पूर्ण पवित्र मन वाला और सर्वोत्तम विश्रान्ति को प्राप्त कर चुका हो, वह इस लोक में कुछ भी इच्छा नहीं रखता ॥ २६ ॥ सर्व का अधिष्ठान, केवल सत्स्वरूप और निर्विकल्प चिदात्मा के मध्य जो जीवित रहता है, उसका स्नेह जाता रहता है और वह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ २७ ॥ वह भविष्य की चिन्ता नहीं करता, वर्तमान का आधार नही रखता, भूतकाल की याद नही करता और सब कुछ किया करता है ॥ २८ ॥ प्राणी उसके संसर्ग आते रहें, तो भी उसका मन सदा संसर्ग रहित रहता है। भक्त के प्रति वह भक्त का-सा आचरण करता है और शठ के प्रति शठ की तरह रहता है ॥ २९ ॥ बालकों में बालक, वृद्धों में वृद्ध, धैर्य वालों में धैर्यवान, युवाओं में युवा और दुखियों के प्रति अत्यन्त दुखी बुद्धि वाला होता है ॥ ३० ॥

धीरधीरुदितानन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः ।
प्राज्ञः प्रसन्नमधुरो दैन्यादपगताशयः ॥ ३१ ॥
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥ ३२ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते विकल्पकलनान्विताः ।
विकल्पसंक्षयाज्जन्तोः पदं तदवशिष्यते ॥ ३३ ॥
अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते ।
इत्येतन्निश्चयं स्फारं सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ ३४ ॥

यथाभूतात्मदर्शित्वमेतावद्भुवनत्रये ।
यदात्मैव जगत्सर्वमिति निश्चित्य पूर्णता ॥ ३५ ॥

ऐसा पुरुष धीर बुद्धि वाला, बुद्धिमान, प्रसन्न और मधुर होता है, उसका आशय दीनता से रहित होता है ॥ ३१ ॥ अभ्यास से प्राण की गति नाश को प्राप्त होती है और निर्वाण (मुक्तिपद) ही शेष रहता है ॥ ३२ ॥ विकल्प करने के साथ वाणी जहाँ से वापस आ जाती है, उस स्थिति के प्राणी के विकल्प नाश होने से वही पद शेष रह जाता है ॥ ३३ ॥ 'आदि-अन्त रहित, प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही है' (और कोई ऐसा नही है) ऐसे प्रदीप्त ज्ञान को विद्वान् सम्यग् ज्ञान कहते हैं ॥ ३४ ॥ 'यह समस्त जगत केवल आत्मा ही है' ऐसा निश्चय करके पूर्णता प्राप्त करना, यही तीनों लोक के सत्य पदार्थ को देखने के समान है ॥ ३५ ॥

सर्वमात्मैव कौ दृष्टौ भावाभावौ क्व वा गतौ ।
क्व बन्धमोक्षकलने ब्रह्मैवेदं विजृम्भते ॥ ३६ ॥
सर्वमेकं परं व्योम को मोक्षः कस्य बन्धता ।
ब्रह्मेदं बृंहिताकारं बृहद्बृहदवस्थितम् ।
दूरादस्तमितद्वित्वं भवात्मैव त्वमात्मना ॥ ३७ ॥
सम्यगालोकिते रूपे काष्ठपाषाणवाससाम् ।
मनागपि न भेदोऽस्ति क्वासि संकल्पनोन्मुखः ॥ ३८ ॥
आदावन्ते च संशान्तस्वरूपमविनाशि यत् ।
वस्तूनामात्मनश्चैतत्तन्मयो भव सर्वदा ॥ ३९ ॥

सब आत्मा ही है, भाव और अभाव कहाँ दिखाई देते हैं ? अथवा कहाँ उपस्थित है ? बन्ध और मोक्ष की गिनती कहाँ है ? यह सब ब्रह्म ही प्रकाश रहा है ॥ ३६ ॥ सब कुछ एक उत्कृष्ट आकाश ही है । मोक्ष कहाँ है और बन्धन किसको है ? विशाल

आकार वाला यह ब्रह्म ही बड़े से बड़ा और सर्वत्र स्थित है ॥ ३७ ॥ लकड़ी, पत्थर या वस्त्र का स्वरूप भली प्रकार दिखाई देता है, तब द्वैतभाव दूर से ही अस्त पाता है और फिर तू ही आत्मा रूप रह जाता है ॥ ३८ ॥ तनिक भी भेद नहीं है, संकल्प करने में तू क्यों तत्पर होता है ? जो अति शान्त और अविनाशी स्वरूप है, वही आदि में और अन्त में है ॥ ३९ ॥

द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्जरामरणविभ्रमैः ।
स्फुरत्यात्मभिरात्मैव चित्तैरब्धीव वीचिभिः ॥ ४० ॥
आपत्करञ्जपरशुं पराया निर्वृतेः पदम् ।
शुद्धमात्मानमालिङ्ग्य नित्यमन्तःस्थया धिया ।
यः स्थितस्तं क आत्मेह भोगो बाधयितुं क्षमः ॥ ४१ ॥
कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः ।
मनागपि न भिन्दन्ति शैलं मन्दानिला इव ॥ ४२ ॥
नानात्वमस्ति कलनासु न वस्तुतोऽन्त-
र्नानाविधासु सरसीव जलादिवान्यत् ॥ ४३ ॥
इत्येकनिश्चयमयः पुरुषो विमुक्त
इत्युच्यते समवलोकितसत्यगर्थः ॥ इति ॥ ४४ ॥

प्रत्येक वस्तु का और तेरा स्वयं का यही स्वरूप है, उसीके रूप में तू सर्वदा रह । जैसे तरङ्गों के रूप में समुद्र ही प्रकाशित होता है, वैसे ही द्वैताद्वैत और बुढ़ापा तथा मरण की भ्रांतियों वाले अनेक चित्त रूप स्वरूपों द्वारा (वास्तव में) आत्मा ही प्रकाशमान है । इसलिये आपत्ति रूपी करञ्ज के पेड़ को काट डालने में फरसे के समान और परम निवृत्ति का स्थान शुद्ध आत्मा से भेट करके, नित्य रहने वाली बुद्धि के साथ जो स्थित रहता है, उसे इस संसार में कौनसा आत्मा रूप भोग बाधा पहुँचा सकता

है ? (कोई भी नही) ॥ ४०–४२ ॥ जिस प्रकार मन्द वायु पर्वतों को हिला नही सकते, उसी प्रकार ऐसे प्रदीप्त विचार जिस पुरुष ने कर लिये हों, वैसे पुरुष को मन के भोग आदि शत्रुगण तनिक भी नही भेद सकते । अनेक प्रकार के संकल्पों में ही अनेकतत्व रहता है; वास्तविक रीति से विचार करने पर विभिन्न तालाबों में जैसे एक ही पानी भरा है अन्य कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार सब के भीतर आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नही है । इस प्रकार का निश्चय जिस पुरुष ने कर लिया है वह विमुक्त कहा जाता है, क्योंकि उसने उत्तम पदार्थ (आत्मा) को भली प्रकार देखा है ॥ ४३—४४ ॥

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

तृतीयोऽध्यायः

विदेहमुक्तेः किं रूपं तद्वान् को वा महामुनिः ।
कं योगं समुपास्थाय प्राप्तवान् परमं पदम् ॥ १ ॥
सुमेरोर्वसुधापीठे माण्डव्यो नाम वै मुनिः ।
कौण्डिन्यात्तत्त्वमास्थाय जीवन्मुक्तो भवत्यसौ ॥ २ ॥
जीवन्मुक्तिदशां प्राप्य कदाचिद्ब्रह्मवित्तमः ।
सर्वेन्द्रियाणि संहर्तुं मनश्चक्रे महामुनिः ॥ ३ ॥
बद्धपद्मासनस्तिष्ठन्नर्धोन्मीलितलोचनः ।
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैव स्पर्शान् परिहरञ्छनैः ॥ ४ ॥
ततः स्वमनसः स्थैर्यं मनसा विगतैनसा ।
अहो नु चञ्चलमिदं प्रत्याहृतमपि स्फुटम् ॥ ५ ॥
पटाद्घटमुपायाति घटाच्छकटमुत्कटम् ।
चित्तमर्थेषु चरति पादपेष्विव मर्कटः ॥ ६ ॥

निदाघ ने पूछा—"विदेह मुक्ति का स्वरूप क्या है ? उस मुक्ति का पाया हुआ महामुनि कैसा होता है ? किस योग का आश्रय करके इस परमपद को वह पाता है ?" ॥ १ ॥ तब ऋभु ने कहा—"सुमेरु पर्वत की उपत्यका में माण्डव्य नाम के मुनि रहते थे। वे कौडिन्य मुनि से तत्वज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो गये थे ॥ २ ॥ ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ इन महामुनि ने जीवन्मुक्त की दशा प्राप्त होने के पश्चात् किसी समय सर्व इन्द्रियों का संहार करने का विचार किया ॥ ३ ॥ उन्होंने पद्मासन लगाया, नेत्रों को आधा बन्द किया और स्थिर होकर बाहर और भीतर के विषयों को धीरे-धीरे त्याग करना आरम्भ किया ॥ ४ ॥ उसके पश्चात् पाप रहित मन द्वारा अपने मन को स्थिर बना कर उन्होंने निश्चय किया कि "अहो, यह मन ही चञ्चल है। उसको स्पष्ट रीति से स्थिर कर दिया है, तो भी वह वस्त्र से घड़े पर और घड़े से गाड़ी पर जाता है। जिस प्रकार बन्दर एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर जाता है, वैसे ही यह उत्कट चित्त विषयों मे भटका ही करता है ॥ ५—६ ॥

पञ्च द्वाराणि मनसा चक्षुरादीन्यमून्यलम् ।
बुद्धीन्द्रियाभिधानानि तान्येवालोकयाम्यहम् ॥ ७ ॥
हन्तेन्द्रियगणा यूयं त्यजथाकुलतां शनैः ।
चिदात्मा भगवान् सर्वसाक्षित्वेन स्थितोऽस्म्यहम् ॥८॥
तेनात्मना बहुज्ञेन निर्ज्ञाताश्चक्षुरादयः ।
परिनिर्वामि शान्तोऽस्मि दिष्ट्याऽस्मि विगतज्वरः ॥९॥
स्वात्मन्येवावतिष्ठेऽहं तुर्यरूपपदेऽनिशम् ।
अन्तरेव शशामास्य क्रमेण प्राणसन्ततिः ॥ १० ॥

इसलिये पहले चक्षु आदि उसके पाँचों द्वारों की ही मैं मन के द्वारा जाँच करूँ। उनका नाम ज्ञानेन्द्रिय है ॥ ७ ॥ ऐसा विचार कर

उन्होंने इन्द्रियों से कहा—"हे इन्द्रियों ! तुम धीरे-धीरे आकुलता को त्याग दो; क्योंकि मै भगवान चिदात्मा हूँ, सब के साक्षी स्वरूप रहता हूँ ॥ ८ ॥ इस सर्वज्ञ आत्मा द्वारा तुम चक्षु आदि इन्द्रियाँ अब मुझे जान ही नही पड़तीं । मैं अब चारो तरफ से निर्वाण पाता हूँ; शान्त हुआ हूँ और अच्छा हो गया हूँ; संताप से रहित हो गया हूँ ॥ ९ ॥ मैं अपने आत्म स्वरूप मे ही निरन्तर स्थित रहता हूँ । यही तुरीयपद है । इस जीव की प्राण परम्परा अनुक्रम से भीतर ही शान्त हो गई है ॥ १० ॥

ज्वालाजालपरिस्पन्दो दग्धेन्धन इवानलः ।
उदितोऽस्तं गत इव ह्यस्त गत इवोदितः ॥ ११ ॥
समः समरसाभासस्तिष्ठामि स्वच्छतां गतः ।
प्रबुद्धोऽपि सुषुप्तिस्थः सुषुप्तिस्थः प्रबुद्धवान् ॥ १२ ॥
तुर्यमालम्ब्य कायान्तस्तिष्ठामि स्तम्भितस्थितिः ।
सबाह्याभ्यन्तरान् भावान् स्थूलान् सूक्ष्मतरानपि ॥१३॥
त्रैलोक्यसंभवांस्त्यक्त्वा सकल्पक विनिर्मितान् ।
सह प्रणवपर्यन्तदीर्घनिःस्वनतन्तुना ॥ १४ ॥
जहाविन्द्रियतादात्म्यं जालं खग इवानिलः ।
ततोऽङ्गसंविद स्वच्छां प्रतिभासमुपागताम् ॥ १५ ॥

जिस प्रकार अग्नि (पहले) ज्वालाओं की लपट वाली अवस्था में रहता है, पर लकडियों के जल जाने पर ऐसा जान पड़ता है कि उदय होकर अस्त होता हो और अस्त होकर फिर उदय होता हो । (अर्थात् उस समय अग्नि शांत हो जाती है । ऐसी ही मेरी स्थिति है) ॥ ११ ॥ स्वच्छता को पाकर मै समान स्वरूप का हो गया हूँ और समानता रूप रस का आभास बन रहा हूँ । जगता हूँ तो भी सुषुप्ति में रहता हूँ और सुषुप्ति में होने पर भी जागता हूँ ॥ १२ ॥ तुरीयपद का आश्रय लेकर शरीर मे रहता हूँ" ऐसा

अनुभव करके वे महामुनि निश्चल स्थिति में रहे; उन्होंने केवल संकल्पों से ही उत्पन्न हो, तीनों लोक में बाहर और भीतर से जितने भी विषय संभव थे उन सब को त्याग दिया और फिर प्रणव तक के लम्बे नादरूपी तन्तु के साथ इन्द्रियों तथा तन्मात्राओं के समूह का भी त्याग किया और आकाश में बहते हुये वायु के समान बनकर स्वच्छ प्रतिभास को प्राप्त अङ्ग-विज्ञान को भी त्याग दिया ॥ १३—१५ ॥

सद्योजातशिशुज्ञानं प्राप्तवान् मुनिपुङ्गवः ।
जहौ चितश्चैत्यदशां स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥ १६ ॥
चित्सामान्यमथासाद्य सत्तामात्रात्मकं ततः ।
सुषुप्तपदमालम्ब्य तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १७ ॥
सुषुप्तस्थैर्यमासाद्य तुर्यरूपमुपाययौ ।
निरानन्दोऽपि सानन्दः सच्चासच्च बभूव सः ॥ १८ ॥
ततस्तत्संबभूवासौ यद्गिरामप्यगोचरम् ।
यच्छून्यवादिनां शून्य ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ॥ १९ ॥
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलात्मकम् ।
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ॥ २० ॥
शिवः शैवागमस्थानां कालः कालैकवादिनाम् ।
यत् सर्वशास्त्रसिद्धान्तं यत् सर्वहृदयानुगम् ॥ २१ ॥
यत् सर्व सर्वगं वस्तु यत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ।
यदनुक्तमनिष्पन्दं दीपकं तेजसामपि ॥ २२ ॥
स्वानुभूत्येकमानं च यत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ।
यदेकं चाप्यनेकं च साञ्जनं च निरञ्जनम् ।
यत् सर्व चाप्यसर्व च यत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥ २३ ॥

अजममरमनाद्यमाद्यमेकं
पदममलं सकलं च निष्कलं च ।
स्थित इति स तदा नभःस्वरूपा-
दपि विमलस्थितिरीश्वरः क्षणेन ॥ इति ॥ २४ ॥

तब वे महामुनि तुरत जन्म लिये बालक के ज्ञान को प्राप्त हो गये और वायु जिस प्रकार स्पंदन शक्ति को त्यागदे, उसी प्रकार उनके चित्त ने चैत्यदशा (विषयाकार स्थिति) त्याग दी ॥ १६ ॥ फिर सामान्य चैतन्य रूप को प्राप्त करके केवल सत्ता स्वरूप सुषुप्ति के पद का आश्रय लेकर पर्वत के समान वें अचल हो गये ॥ १७ ॥ और इस प्रकार सुषुप्ति की स्थिरता प्राप्त करके वे तुरीय स्वरूप में पहुँच गये, इस प्रकार वे आनन्द रहित होने पर भी आनन्द सहित, उसी प्रकार सत् और असत् रूप हो गये ॥ १८ ॥ तत्पश्चात तो जो वाणी का भी अविषय है, शून्यवादियो का जो शून्य है, ब्रह्मवेत्ताओ का जो ब्रह्म है, विज्ञान वेत्ताओं का जो निर्मल स्वरूप मात्र विज्ञान है, सांख्य दृष्टि वालो का जो पुरुष है, योगवादियो का जो ईश्वर है, शैव-आगम मे रहने वालों का जो शिव है, केवल 'एक काल' के मानने वालो का जो काल है, सर्व शास्त्रों का जो सिद्धान्त है, सर्व के हृदय मे जो अनुगत है और जो वस्तु सर्व स्वरूप तथा सर्वव्यापी है, उस तत्व के रूप मे वें रहने लगे । जिसको किसी ने (अमुक स्वरूप में) नही कहा है, जो हर तरह की चेष्टा से रहित है, तेज का भी जो प्रकाशक है और जो तत्व केवल स्वानुभव रूप से ही प्रमाणित हो सकता है, उस रूप में वें रहें। जो तत्व एक है, पर अनेक भी है; अञ्जनयुक्त है, पर निरञ्जन भी है और सर्व स्वरूप होने पर भी सर्व स्वरूप नही है, उस स्वरूप में वे रहे। फिर जो जन्म रहित, मरण रहित, आदि रहित, आदि मे हुआ, निर्मल, सर्व स्वरूप और अवयव रहित है, उस पद मे वे

रहे। इस प्रकार उस अवसर पर क्षणभर में आकाश के स्वरूप से निर्मल स्थिति वाले होकर वे ईश्वर बन गये ॥ १९—२४ ॥

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थोऽध्यायः

जीवन्मुक्तस्य किं लक्ष्म ह्याकाशगमनादिकम् ।
तथा चेन्मुनिशार्दूल तत्र नैव प्रदृश्यते ॥ १ ॥

अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
द्रव्यमन्त्रक्रिया कालशक्त्याऽऽप्नोत्येव स द्विज ॥ २ ॥

नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् ।
आत्मनाऽऽत्मनि संतृप्तो नाविद्यामनुधावति ॥ ३ ॥

ये ये भावाः स्थिता लोके तानविद्यामयान् विदुः ।
त्यक्ताविद्या महायोगी कथं तेषु निमज्जति ॥ ४ ॥

यस्तु मूढोऽल्पबुद्धिर्वा सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधनैर्योगैस्तानि साधयति क्रमात् ॥ ५ ॥

फिर निदाघ ने पूछा—"हे मुनिश्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त का क्या लक्षण है ? यदि आकाश में जाना आदि उसका लक्षण हो तो, वह तो इनमें दिखाई नही देता !" ॥ १ ॥ तब ऋभु गोले—"जो ब्राह्मण आत्मा को जानता न हो और मुक्त भी न हो, वह भी द्रव्य, मंत्र, क्रिया और काल की शक्ति से आकाश में जाना आदि सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥ यह विषय आत्मा के जानने से सम्बन्ध नहीं रखता । आत्मा को जानने वाला तो केवल आत्मा को ही देखता रहता है। यह तो आत्मा द्वारा आत्मा में ही अत्यन्त संतुष्ट रहता है; इसलिये वह (आकाशगमन आदि) अविद्याओं की तरफ नहीं दौड़ता ॥ ३ ॥ संसार में जो-जो बातें प्रचलित है, उनको ज्ञानी अविद्यामय मानते हैं;

इसलिये जिसने अविद्या त्याग दी हो, ऐसा महायोगी उन (अविद्यामय) भावों में किस प्रकार मग्न हो सकता है ? ॥ ४ ॥ जो मनुष्य मूढ और अल्प-बुद्धि होता है, वही सिद्धिओं के समूह की इच्छा रखता है और योग द्वारा वह सिद्धियों को अनुक्रम से प्राप्त भी करता है ॥ ५ ॥

द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्तयः साधुसिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काञ्चन ॥ ६ ॥
यस्येच्छा विद्यते काचित्स सिद्धिं साधयत्यहो ।
निरच्छोः परिपूर्णस्य नेच्छा संभवति क्वचित् ॥ ७ ॥
सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभो भवेन्मुने ।
स कथं सिद्धिजालानि कथं वाञ्छत्यचित्ताकः ॥ ८ ॥
अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥ ९ ॥
अधिष्ठाने परे तत्त्वे कल्पिता रज्जुसर्पवत् ।
कल्पिताश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम् ॥ १० ॥

द्रव्य (पदार्थ) मंत्र, क्रिया और काल की युक्तियाँ उत्तम सिद्धियों को प्राप्त कराने वाली है; पर परमात्मा रूप पदको पाने के लिये वे किसी काम की नहीं है ॥ ६ ॥ जिसे किसी प्रकार की इच्छा हो वही आश्चर्यकारक सिद्धि का साधन करता है; पर जो इच्छा रहित और परिपूर्ण बना हो, उसे किसी ऐसे विषय में इच्छा होना संभव ही नही रहता ॥ ७ ॥ हे मुनि सर्व इच्छाओं के जाल जब अत्यन्त शमित हो जाते हैं, तभी आत्मलाभ होता है; ऐसा आत्मलाभ होने पर चित्तरहित बना हुआ ज्ञानी सिद्धियों के समूह की किस प्रकार इच्छा करे ? ॥ ८ ॥ सूर्य चाहे शीतल कान्ति वाला हो जाय, चन्द्रमण्डल अत्यन्त तीव्र बन जाय और अग्नि

की ज्वाला ठण्डी पड़ जाय, तो भी जीवन्मुक्त विषयों में नहीं पड़ सकता ।। ९ ।। सब पदार्थ रस्सी मे सर्प की तरह सब के आश्रय रूप परमतत्व मे केवल कल्पित ही हैं; इससे इन कल्पित आश्चर्यो के समूह मे कौतूहल नही हो सकता ।। १० ।।

ये हि विज्ञातविज्ञेया वीतरागा महाधियः ।
विच्छिन्नग्रन्थयः सर्वे ते स्वतन्त्रा स्तनौ स्थिताः ।। ११ ।।
सुखदुःखदशाधीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निश्वासा इव शैलेन्द्र चित्तं तस्य मृतं विदुः ।। १२ ।।
आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः ।
य नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं मनो विदुः ।। १३ ।।
द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ।। १४ ।।
चित्तसत्तेह दुःखाय चित्तनाशः सुखाय च ।
चित्तसत्तां क्षय नीत्वा चित्तं नाशमुपानयेत् ।। १५ ।।

जिन महाबुद्धिमान वीतराग पुरुषों ने जानने योग्य विषय को जान लिया है उनकी अविद्या रूपी गाठ कट जाती है; इससे वे सब स्वतंत्र रूप से ही शरीर मे रहते है ।। ११ ।। श्वास लेने का वायु जिस प्रकार पर्वतों को नही हिला सकता, उसी प्रकार सुख और दु;ख की दशा में जो धैर्यवान पुरुष साम्यभाव से विचलित नही होता, उसके चित्त को ज्ञानीजन 'मरा हुआ' मानते है ।। १२ ।। आपत्तिकाल में दीनता, उत्साह, मद, बीमारी और बड़े उत्सव जिसमें विरूपता अथवा विकृति उत्पन्न नहीं करते, उसके मन को ज्ञानी नाश प्राप्त हुआ समझते हैं ।। १३ ।। चित्त का नाश दो प्रकार का होता है । सरूप और अरूप । इनमें से सरूप जीवन्मुक्त में होता है और अरूप विदेह-मुक्ति में होता है ।। १४ ।। चित्तका

होना इस जगत में दुःखदायी है और चित्त का नाश सुखकारक है; इसलिये चित्त के अस्तित्व का नाश करके चित्त को मिटा देना चाहिये ॥ १५ ॥

मनस्तां मूढतां विद्धि यदा नश्यति साऽनघ ।
चित्तनाशाभिधानं हि तत्स्वरूपमितीरितम् ॥ १६ ॥
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं भवत्युत्तमवासनम् ।
भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ॥ १७ ॥
सरूपोऽसो मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।
निदाघारूपनाशस्तु वर्ततेऽदेहमुक्तिके ॥ १८ ॥
विदेहमुक्त एवासौ विद्यते निष्कलात्मकः ।
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ॥ १९ ॥

हे निर्दोष ! मन का रहना ही मूढ़ता है, ऐसा तू समझ ले; इसलिये जब वह मन के अस्तित्व की अवस्था नाश हो जाती है, तभी उसे चित्त नाश का स्वरूप कहा जा सकता है ॥ १६ ॥ जीवन्मुक्त का मन मैत्री आदि गुणों से रहित, उत्तम वासनाओं से युक्त और आगामी जन्म से छूटा हुआ होता है ॥ १७ ॥ हे निदाघ ! जीवन्मुक्त के मन का यह नाश इस प्रकार उत्तम वासनाओं सहित होता है, इससे वह सरूप कहा जाता है; और विदेह मुक्त के मन का नाश (बिल्कुल वासना रहित हुआ) अरूप होता है ॥ १८ ॥ अवयव रहित केवल आत्मस्वरूप ही बना हुआ यह पुरुष विदेहमुक्त कहा जाता है; क्योंकि इस स्थिति में समग्र श्रेष्ठ गुणों का आधार अन्तःकरण भी नाश हो जाता है ॥ १९ ॥

विदेहमुक्तौ विमले पदे परमपावने ।
विदेहमुक्तिविषये तस्मिन् सत्त्वक्षयात्मके ॥ २० ॥

चित्तनाशे विरूपाख्ये न किंचिदिह विद्यते ।
न गुणा नागुणास्तत्र न श्रीनर्श्रीर्न लोकता ॥ २१ ॥
न चोदयो नास्तमयो न हर्षामर्षसंविदः ।
न तेजो न तमः किंचिन्न मध्यादि न रात्रयः ।
न सत्ता नापिचासत्ता न च मध्यं हि तत् पदम् ॥ २२ ॥
ये हि पारं गता बुद्धेः संसाराडम्बरस्य च ।
तेषां तदास्पदं स्फारं पवनानामिवाम्बरम् ॥ २३ ॥
संशान्तदुःखमजडात्मकमेकसुप्त-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत् ।
आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन् पदे गलितचित्तलवा भवन्ति ॥ २४ ॥
हे निदाघ महाप्राज्ञ निर्वासनमना भव ।
बलाच्चेतः समाधाय निर्विकल्पमना भव ॥ २५ ॥

विदेहमुक्त परम निर्मल पद है; उसमें अन्तःकरण का क्षय होने की स्थिति प्राप्त होने पर विरूप नामक चित्त का नाश हो जाता है। फिर उसमें कुछ भी नहीं रहता। गुण नहीं होते और औगुण भी नहीं होते; लक्ष्मी नहीं होती, अलक्ष्मी भी नहीं होती; लोक नहीं होते, उदय नहीं होता, अस्त नहीं होता; हर्ष या शोक का भान नहीं होता; तेज नहीं होता और अँधेरा भी नहीं होता; संध्या, दिवस या रात्रि नहीं होते; सत्ता नहीं होती, असत्ता नहीं होती; और वह पद किसी के बीच में नहीं होता ॥ २०—२२ ॥ जो बुद्धि और आडम्बर के पार पहुंच चुके हों, उन्हीं का वह प्रदीप्त स्थान है, वैसे ही जिस प्रकार कि पवन का स्थान आकाश है ॥ २३ ॥ उसमें दुःखों का अत्यन्त शमन हो जाता है, जड़ता का वह स्वरूप ही नहीं है, केवल सुषुप्ति ही उसमें होती है; आनन्द से वह व्याप्त है; रजोगुण और तमोगुण उसमें से दूर हो गये हैं

और जो आकाश कोश के समान सूक्ष्म, शरीर रहित और चित्त के अंश से भी रहित हो गये हैं, ऐसे महापुरुषों को वह पद प्राप्त होता है ॥ २४ ॥ हे महाबुद्धिमान निदाघ ! तू वासना रहित मन वाला हो और शक्तिपूर्वक चित्त को एकाग्र करके विकल्प रहित मन वाला बन जा ॥ २५ ॥

यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ।
स एव जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः ॥ २६ ॥
प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः ।
तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् ॥ २७ ॥
एक ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवेन्मुनिः ॥ २८ ॥

सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
सच्चिदानन्दरूपं तदवाङ्मनसगोचरम् ॥ २९ ॥

न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते
न वान्ति वाताः सकला देवताश्च ।
स एष देवः कृतभावभूतः स्वयं
विशुद्धो विरजः प्रकाशते ॥ ३० ॥

जगत का प्रकाशक और अपने आप स्फुरण होता हुआ जो अविनाशी भान है, वही जगत का साक्षी और निर्मल आकृति वाला सर्वात्मा है ॥ २६ ॥ सर्व प्राणियों का वह प्रतिष्ठा स्वरूप है, प्रज्ञानघन उसका लक्षण है, वही विद्या का विषय है और सत्य, ज्ञान तथा सुख का अद्वैत रूप ब्रह्म भी वही है ॥ २७ ॥ 'मैं एक ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव करने वाला मुनि कृतकृत्य होता है ॥ २८ ॥ अद्वैत परब्रह्म सब का अधिष्ठान और सनातन है; वह सत्, चित् तथा आनन्द रूप है और वाणी तथा मन का विषय नहीं है ॥ २९ ॥ उसमें चन्द्र या सूर्य का शरीर प्रकाशित नहीं होता, वायु नहीं बहती, वह देव

अन्य सब देवताओं के रूप में है; प्रत्येक पदार्थ और भूत उसीने रचा है और वह अत्यन्त शुद्ध और रजोगुण से रहित होकर प्रकाशित होता है ॥ ३० ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ ३१ ॥
द्वा सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यौ सह स्थितौ ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥ ३२ ॥
केवलं साक्षिरूपेण विना भोगो महेश्वरः ।
प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ।
चिच्चिदाकारतो भिन्ना न भिन्ना चित्त्वहानितः ॥ ३३ ॥
तर्कतश्च प्रमाणाच्च चिदेकत्वव्यवस्थितेः ।
चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति ॥ ३४ ॥
अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम् ।
अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोको भवेन्मुनिः ॥ ३५ ॥

इस परात्पर परमात्मा का दर्शन होने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशय कट जाते हैं और इस जीव के कर्मों का नाश हो जाता है ॥ ३१ ॥ इस शरीर में जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी एक साथ रहते है; उनमें से जीव कर्मों का फल भोगता है, पर महान ईश्वर कर्मफल नही भोगता ॥ ३२ ॥ यह महेश्वर भोग रहित होकर केवल साक्षी रूप में प्रकाशित होता है और माया के कारण उनमें भेद कल्पित किया गया है; चैतन्य और ज्ञान के रूप में वे भिन्न नहीं है; केवल (माया के कारण) ज्ञान की हानि होने से उनमें भेद जान पड़ता है ॥ ३३ ॥ तर्क और (श्रुति) के प्रमाण से चैतन्यरूप एकता जब स्थिर होती है और चैतन्यरूप एकता का पूर्ण ज्ञान होता है, तब ज्ञानी न तो

शोक करता है और न मोह को प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥ 'समस्त जगत का अधिष्ठान और सत्य तथा चैतन्यमय मै हूँ', ऐसा निश्चय करने के पश्चात् मुनि शोक रहित हो जाता है ॥ ३५ ॥

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं सर्वसाक्षिणम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ॥ ३६ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥३७॥
बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम् ।
ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥ ३८ ॥
अन्तर्लीनसमारम्भशुभाशुभमहांकुरम् ।
संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि भौतिकम् ॥ ३९ ॥
भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम् ।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥ ४० ॥

जिनके (रागादि) दोष नाश को प्राप्त हो गये हों, वे अपने शरीर में स्वयंज्योतिस्वरूप सर्व साक्षी को देखते हैं ॥ ३६ ॥ धीरज वाला ब्राह्मण, उस आत्मस्वरूप को जानकर ही प्रज्ञा अर्थात् विशेष ज्ञान को उत्पन्न करता है, पर अनेक शब्दो का विचार नहीं किया करता, क्योंकि इससे तो वाणी ही थकती है ॥ ३७ ॥ ब्रह्मज्ञान का अनुभव करके बालकपन की स्थिति में ही रहना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मविद्या तथा बालकपन का अनुभव करके ही मुनि आत्मवेत्ता होता है ॥ ३८ ॥ इस भौतिक शरीर में ही सब समारंभ भरे हुये हैं, शुभ तथा अशुभ का बडा अंकुर भी है, और संसार रूपी बेल का बीज भी है, उसी को जानना चाहिये ॥ ३९ ॥ इस शरीर का बीज चित्त है, क्योंकि वह भाव और अभाव

की दशाओं का कोश और दुःख रूपी दशाओं का भंडार है और आशा के वश होने वालों का ही वह अनुसरण करता है ॥ ४० ॥

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥ ४१ ॥
यदा प्रस्पन्दते प्राणो नाडीसंस्पर्शनोद्यतः ।
तदा सवेदनमयं चित्तमाशु प्रजायते ॥ ४२ ॥
सा हि सर्वगता संवित् प्राणस्पन्देन बोध्यते ।
संवित्संरोधनं श्रेयः प्राणादिस्पन्दनं वरम् ॥ ४३ ॥
योगिनश्चित्तशान्त्यर्थं कुर्वन्ति प्राणरोधनम् ।
प्राणायामैस्तथा ध्यानैः प्रयोगैर्युक्तिकल्पितैः ॥ ४४ ॥
चित्तोपशान्तिफलदं परमं विद्धि कारणम् ।
सुखद सविदः स्वास्थ्यं प्राणसंरोधनं विदुः ॥ ४५ ॥

वृत्तियों का रूप बेल को धारण करने वाले चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज है; एक प्राणों की चेष्टा और दूसरा दृढ़ भावना ॥ ४१ ॥ जिस समय प्राणवायु नाडियों को स्पर्श करने के लिये तत्पर होकर चेष्टा करता है, कि तुरन्त ही उस समय संवेदनमय चित्त की उत्पत्ति होती है ॥ ४२ ॥ यह संवेदन सब में रहता है और प्राण की चेष्टा ही उसे जगाती है; इसलिये प्राणादि की चेष्टा न हो यही उत्तम है, यही संवेदन को रोकने वाला उत्तम कल्याण है ॥ ४३ ॥ चित्त की शांति के लिये ही योगीजन प्राणायाम द्वारा, ध्यान द्वारा तथा युक्तियों से कल्पित प्रयोगों द्वारा प्राण की चेष्टा को रोकते है ॥ ४४ ॥ इसलिये प्राण-चेष्टा को रोकना यही चित्त की शान्ति रूप फल प्रदान करने वाला श्रेष्ठ कारण है, ऐसा तुमको समझ लेना चाहिये; और ऐसे ही योगी संवेदन का सुख-दायी स्वास्थ्य पाते हैं ॥ ४५ ॥

दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥ ४६ ॥
यदा न भाव्यते किंचिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥ ४७ ॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥ ४८ ॥
यदा न भाव्यते भावः क्वचिज्जगति वस्तुनि ।
तदा हृदम्बरे शून्ये कथं चित्तं प्रजायते ॥ ४९ ॥
यदभावनमास्थाय यदभावस्य भावनम् ।
यद्यथावस्तुदर्शित्वं तदचित्तत्वमुच्यते ॥ ५० ॥

आगे और पीछे का विचार छोड़ कर दृढ़ भावना से जो पदार्थ ग्रहण किया जाता है, वह वासना कही जाती है ॥ ४६ ॥ त्यागने के और ग्रहण करने के पदार्थों का जब कुछ भी विचार नही किया जाता और सब छोड़कर स्थिर हो जाने का उपाय किया जाता है, तब चित्त उत्पन्न ही नही होता ॥ ४७ ॥ वासना रहित हो जाने से जब मन सतत विचार ही न करे, तब मनरहित-पना उत्पन्न होता है और वही परम उपशम प्रदान करने वाला है ॥ ४८ ॥ जगत की किसी वस्तु की जब भावना ही न की जाय, तो हृदयरूपी शून्य आकाश में चित्त किस प्रकार उत्पन्न होगा ? (अर्थात् नही होगा) ॥ ४९ ॥ इस भावना का आश्रय लेकर पदार्थों के अभाव की भावना ही करते रहना चाहिये और जो वस्तु जिस स्वरूप में हो, उसी स्वरूप मे उसे देखना, इसे अचित्तपना कहते हैं ॥ ५० ॥

सर्वमन्तः परित्यज्य शीतलाशयवर्ति यत् ।
वृत्तिस्थमपि तच्चित्तमसद्रूपमुदाहृतम् ॥ ५१ ॥

भ्रष्टबीजोपमा येषां पुनर्जननवर्जिता ।
वासना रसनाहीना जीवन्मुक्ता हि ते स्मृताः ॥ ५२ ॥
सत्त्वरूपपरिप्राप्तचित्तास्ते ज्ञानपारगाः ।
अचित्ता इति कथ्यन्ते देहान्ते व्योमरूपिणः ॥ ५३ ॥
सर्वेद्यसंपरित्यागात् प्राणस्पन्दनवासने ।
समूलं नश्यतः क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः ॥ ५४ ॥
पूर्वदृष्टमदृष्टं वा यदस्याः प्रतिभासते ।
संविदस्तत् प्रयत्नेन मार्जनीयं विजानता ॥ ५५ ॥

अपनी वृत्ति संसार व्यापार में रही हो, तो भी अन्तर में सर्व का त्याग करके शीतल आशय में ही जो बर्तते हैं, उस चित्त को असत् स्वरूप कहा है ॥ ५१ ॥ जिनको भूंजे हुये बीज की उपमा दी जाती है, और जो पुनर्जन्म से रहित होकर वासनारूपी रसना (स्वाद लेने की इन्द्रिय) से भी जो रहित हो गये है, उनको जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५२ ॥ जिनका चित्त सत्व के स्वरूप को प्राप्त हुआ हो ऐसे ज्ञान पारगत पुरुष चित्त रहित कहे जाते है और वे देह छोड़ने के पश्चात् आकाश जैसे रूप वाले हो जाते हैं ॥ ५३ ॥ जिस प्रकार जड़ कट जाने पर वृक्ष नाश को प्राप्त होता है, वैसे ही अनुभव किये जाने वाले विषयो का त्याग करने से प्राण की चेष्टा और वासना मूल के साथ नाश हो जाती है ॥ ५४ ॥ सांसारिक विषय के द्वारा जो पूर्व का देखा हुआ और नहीं देखा हुआ जान पड़ता है. उसे समझदार व्यक्ति को साफ कर डालना चाहिये ॥ ५५ ॥

तदमार्जनमात्रं हि महासंसारतां गतम् ।
तत्प्रमार्जनमात्रं तु मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ ५६ ॥
अजडो गलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनो भव ॥ ५७ ॥

संविद्वस्तुदशालम्ब: सा यस्येह न विद्यते ।
सोऽसंविदजड: प्रोक्त. कुर्वन् कार्यशतान्यपि ॥ ५८ ॥
संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते ।
यस्यासावजडा संविज्जीवन्मुक्त: स कथ्यते ॥ ५९ ॥
यदा न भाव्यते किंचिन्निर्वासनतयाऽऽत्मनि ।
बालमूकादिविज्ञानमिव च स्थीयते स्थिरम् ॥ ६० ॥
तदा जाड्यविनिर्मुक्तमसंवेदनमाततम् ।
आश्रितं भवति प्राज्ञो यस्माद्भूयो न लिप्यते ॥ ६१ ॥

केवल उसको साफ न करना ही संसार रूप बन जाता है और केवल उसको साफ कर डालना मोक्ष रूप बन जाता है ॥ ५६ ॥ इस लिये जड़ता रहित होकर आनन्द का त्याग किये बिना इस विषय सम्बन्धी ज्ञान का ही तू त्याग करदे ॥ ५७ ॥ यह वैषयिक ज्ञान ही वस्तु की स्थिति का आश्रय है; इसलिये वह ज्ञान जिसमें न हो तो फिर वह चाहे सैकड़ों कार्य करता रहे, तो भी वह ज्ञान रहित और जड़ता रहित कहलाता है ॥ ५८ ॥ जिसका ज्ञान हृदयाकाश में विषयों से जरा भी लिप्त नही होता, उसका यह ज्ञान जड़ता रहित है, और वैसे ज्ञान वाला जीवन्मुक्त कहलाता है ॥५९॥ वासना रहित हो जाने से जब हृदय में किसी प्रकार की भावना ही नहीं होती और बालक तथा गूंगे के विज्ञान की तरह स्थिर हो जाता है, वह जड़ता रहित ज्ञान असंवेदन (अर्थात् पदार्थों के अनुभव से रहित) बनकर विशालता का आश्रय लेता है, इसके फलस्वरूप ज्ञानी फिर लिप्त नहीं होता ॥ ६०—६१ ॥

समस्ता वासनास्त्यक्त्वा निर्विकल्पसमाधित: ।
तन्मयत्वादनाद्यन्ते तदप्यन्तर्विलीयते ॥ ६२ ॥
तिष्ठन् गच्छन् स्पृशन् जिघ्रन्नपि तल्लेपवर्जित: ।
अजडो गलितानन्दस्त्यक्तसंवेदन: सुखी ॥ ६३ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य कष्टचेष्टायुतोऽपि सन् ।
तरेद्दुःखाम्बुधेः पारमपारगुणसागरः ॥ ६४ ॥
विशेषं संपरित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम् ।
एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पद विदुः ॥ ६५ ॥
कालसत्ता कलासत्ता वस्तुसत्तेयमित्यपि ।
विभागकलनां त्यक्त्वा सन्मात्रैकपरो भव ॥ ६६ ॥
सत्तासामान्यमेवैकं भावयन् केवलं विभुः ।
परिपूर्णः परानन्दी तिष्ठापूरितदिग्भरः ॥ ६७ ॥
सत्तासामान्यपर्यन्ते यत्तत् कलनयोज्झितम् ।
पदमाद्यमनाद्यन्त तस्य बीज न विद्यते ॥ ६८ ॥
तत्र संलीयते संविन्निर्विकल्प च तिष्ठति ।
भूयो न वर्तते दुःखे तत्र लब्धपदः पुमान् ॥ ६९ ॥
तद्धेतुः सर्वभूतानां तस्य हेतुर्न विद्यते ।
स सारः सर्वसाराणां तस्मात् सारो न विद्यते ॥ ७० ॥

निर्विकल्प समाधि द्वारा समस्त वासनाओं को तज कर तन्मय हो जाने से आदि-अंत रहित पद में रहने लगते है और अन्त मे वह समाधि की दशा भी अन्तर में विलय को प्राप्त हो जाती है ॥ ६२ ॥ खड़े रहते हुये, चलते; स्पर्श करते और सूँघते हुये, फिर भी उनमें लिप्त न होने वाला पुरुष जड़ता रहित, अविनाशी आनन्द वाला और विषय ज्ञान से रहित होकर सुखी रहता है ॥ ६३ ॥ इस दृष्टि का आश्रय लेकर अपर गुणों का साधन बन जाता है, और फिर उस पर चाहे हजारों कष्ट आ पड़ें तो भी वह दुःख रूपी समुद्र को पार कर जाता है ॥ ६४ ॥ विशेष का त्याग करके एक रूप और निर्लेप मात्र सत्स्वरूप हो जाना, इसी को महापद वाली सत्ता का पद माना जाता है। कालसत्ता, कलासत्ता और वस्तुसत्ता— ऐसे ज्ञान के विभाग का त्याग करके तू मात्र एक सत्ता रूप

हो जा ॥ ६६ ॥ केवल एक ही सत्ता—सामान्य—का विचार करता हुआ तू व्यापक, परिपूर्ण और परमानन्दयुक्त होकर दिशाओं को अपने रूप से भर दे ॥ ६७ ॥ सामान्य सत्ता के पास तक जिस-तिस पदार्थ के ज्ञान रहित जो आद्यपद अनुभव में आता है, वह आदि-अन्त रहित है और उसका बीज नहीं है ॥ ६८ ॥ सब तरह का ज्ञान उसमें सम्पूर्ण लय हो जाता है; उस पद मे स्थान प्राप्त करके पुरुष निर्विकल्प रहता है; और फिर दुःख में नही पड़ता ॥ ६९ ॥ यह परमपद सर्वभूतों का कारण है, पर उसका अपना कोई कारण नही है; फिर वह सब सार वस्तुओं का भी सार है, पर उसका और कोई सार नही है ॥ ७० ॥

तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥ ७१ ॥

तदमलमरजं तदात्मतत्त्वं
तदवगतावुपशान्तिमेति चेतः ।
अवगतविगतैकतत्स्वरूपो
भवभयमुक्तपदोऽसि सम्यगेव ॥ ७२ ॥

एतेषां दुःखबीजानां प्रोक्तं यद्यन्मयोत्तरम् ।
तस्य तस्य प्रयोगेण शीघ्रं तत् प्राप्यते पदम् ॥ ७३ ॥

सत्तासामान्यकोटिस्थे द्रागित्येव पदे यदि ।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात् संत्यज्य वासनाम् ॥ ७४ ॥

स्थितिं बध्नासि तत्त्वज्ञ क्षणमप्यक्षयात्मिकाम् ।
क्षणेऽस्मिन्नेव तत् साधु पदमासादयस्यलम् ॥ ७५ ॥

जिस प्रकार किनारे पर के पेड़ तालाब के जल में प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार इस चैतन्य रूप चमकते हुये दर्पण में समस्त वस्तुओं का दर्शन प्रतिबिम्बित होता है ॥ ७१ ॥ वही आत्मतत्व

रजरहित और निर्मल है । उसका ज्ञान होने से चित्त शान्ति को प्राप्त करता है । उसका स्वरूप जानकर—प्राप्त करके तू संसार के भय से भली प्रकार मुक्त हुआ है ॥ ७२ ॥ इस दुःख के बीजों को (दूर करने के) जो-जो उपाय मैंने कहे, वैसा प्रयोग करने से वह पद प्राप्त किया जाता है ॥ ७३ ॥ पुरुषार्थ और वासना का बलपूर्वक त्याग करके सामान्य सत्ता के समीप के उस पद में जो तू एक क्षण के लिये अक्षय स्थित हो जायगा, तो हे तत्वज्ञानी ! उसी क्षण तू उस उत्तम पद को सम्पूर्ण रीति से प्राप्त कर लेगा ॥ ७४—७५ ॥

सत्तासामान्यरूपे वा करोषि स्थितिमादरात् ।
तत्किंचिदधिकेनेह यत्नेनाप्नोषि तत् पदम् ॥ ७६ ॥
संवित्तत्त्वे कृतध्यानो निदाघ यदि तिष्ठसि ।
तद्यत्नेनाधिकेनोच्चैरासादयसि तत् पदम् ॥ ७७ ॥
वासनासंपरित्यागे यदि यत्नं करोषि भोः ।
यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ॥ ७८ ॥
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ।
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ॥ ७९ ॥
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ।
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ।
यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ ८० ॥

अथवा सत्ता के सामान्य रूप में जो तू आदर से स्थित होगा और कुछ अधिक प्रयत्न करेगा, तो इसी लोक में रहकर तू उस पद को पा जायगा ॥ ७६ ॥ हे निदाघ ! ज्ञान रूप तत्व में ध्यान करके अधिक-यत्न करता हुआ जो तू स्थिति करेगा, तो भी उस उच्च पद को तू पा जायगा ॥ ७७ ॥ अथवा वासना का त्याग करने का

तू यत्न करेगा, तो भी इस पद को प्राप्त कर लेगा। पर जहाँ तक मन विलय नही हो जायगा वहाँ तक वासना का नाश नही होता। तब तक चित्त शान्त नही होता; और तत्व का विशेष ज्ञान जब तक नहीं हो। तब तक चित्त की शान्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ७८—७९ ॥ जब तक चित्त की शान्ति नही है तब तक तत्वज्ञान नही है; जब तक वासना का नाश नहीं होता तब तक तत्वज्ञान कहाँ से हो ? इसी प्रकार जब तक तत्व की प्राप्ति नही होती तब तक वासना का नाश नही होता ॥ ८० ॥

> तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
> मिथः कारणतां गत्वा दुःसाधानि स्थितान्यतः ॥ ८१ ॥
> भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत् समाचर ॥ ८२ ॥
> वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते ।
> समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मताः ॥ ८३ ॥
> त्रिभिरेभिः समभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः ।
> निःशेषमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥ ८४ ॥
> वासनासंपरित्यागसमं प्राणनिरोधनम् ।
> विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात्तदप्येवं समाहरेत् ॥ ८५ ॥

मन का नाश और वासना का क्षय यही तत्वज्ञान है; इस प्रकार परस्पर कारण रूप होकर ये दुःसाध्य हैं ॥ ८१ ॥ इसलिये भोगों की इच्छा को दूर से ही त्याग करके इन तीनो पर भली प्रकार आचरण कर ॥ ८२ ॥ हे महाबुद्धिमान ! वासना का नाश, विज्ञान और मन का नाश—इन तीनों का लम्बे समय तक जो अभ्यास किया हो, तो एक ही साथ तीनों फलदायी होते हैं ॥ ८३ ॥ जिस प्रकार कमल का दण्ड काटने से उसके समस्त तन्तु भी कट जाते है, वैसे ही इन तीनों का भली प्रकार अभ्यास करने से हृदय की

मजबूत गाँठें पूर्ण रूप से टूट जाती हैं ॥ ८४ ॥ प्राण की चेष्टा रोकनी, इसको भी तत्वज्ञानी वासना के त्याग के समान ही मानते हैं, इसलिये उसका भी इसी रीति से अभ्यास करना ॥ ८५ ॥

वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ८६ ॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया ।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥ ८७ ॥
निःसङ्गव्यवहारत्वाद्भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥ ८८ ॥
यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि ।
प्राणस्पन्दजये यत्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः ॥ ८९ ॥
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।
शुद्धां संविदमाश्रित्य वीतरागः स्थिरो भव ॥ ९० ॥
सवेद्यवर्जितमनुत्तममाद्यमेकं
संवित्पदं विकलनं कलयन् महात्मन् ।
हृद्येव तिष्ठ कलनारहितः क्रियां
तु कुर्वन्नकर्तृपदमेत्य शमोदितश्रीः ॥ ९१ ॥
मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः ।
पुरुषेण कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥ ९२ ॥

वासना का सम्पूर्ण त्याग करने से और प्राण की चेष्टा को रोकने से चित्त अचित्तपन को प्राप्त करता है, इसलिये तुझे जिस बात की इच्छा हो वही तू कर ॥ ८६ ॥ गुरु की बताई हुई युक्ति से प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास करने से और आसन पर बैठ कर योग करने से प्राण की चेष्टा रोकी जाती है ॥ ८७ ॥ संग रहित व्यवहार करने से, संसार की भावना छोड़ने से, और शरीर का नाश देखते रहने से वासना नहीं होती ॥ ८८ ॥ प्राणवायु की चेष्टा

यही चित्त की चेष्टा है; इसलिये बुद्धिमान मनुष्य को प्राण की चेष्टा को जीतने के लिये बहुत प्रयत्न करना चाहिये ॥ ८९ ॥ अनिन्द्य युक्ति का आश्रय लिये बिना मन को नहीं जीता जा सकता; इस लिये शुद्ध ज्ञान का आश्रय लेकर तू रागरहित बनकर स्थिर हो ॥ ९० ॥ हे महात्मा विषयों से रहित, सर्वोत्तम, आद्य और एक ही ऐसे पद का संकल्प बिना तू ध्यान किया कर; और संकल्पों से रहित होकर तू क्रियाओं को कर; जिससे कर्तारहित पद को पाकर तेरे भीतर उपशम की शोभा उदय होगी ॥ ९१ ॥ जिस पुरुष ने अपने चित्त को विचारपूर्वक थोड़ा भी वश कर लिया हो तो उसने जन्म का फल प्राप्त कर लिया ॥ ९२ ॥

॥ चौथा अध्याय समाप्त ॥

पञ्चमोऽध्यायः

गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
न विचारपरं चेतो यस्यासौ मृत उच्यते ॥ १ ॥
सम्यज्ज्ञानसमालोकः पुमान् ज्ञेयः समः स्वयम् ।
न बिभेति न चादत्ते वैवश्यं न च दीनताम् ॥ २ ॥
अपवित्रमपथ्यं च विषसंसर्गदूषितम् ।
भुक्तं जरयति ज्ञानी क्लिन्नं नष्टं च मृष्टवत् ॥ ३ ॥
सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता ।
सङ्गं त्यज त्वं भावनां जीवन्मुक्तो भवानघ ॥ ४ ॥
भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥ ५ ॥

चलते हुये, खड़े रहते, जगते या सोते हुये भी जिसका चित्त विचार में तत्पर नहीं रहता, वह मरा हुआ कहलाता है ॥ १ ॥ फिर

उत्तम ज्ञान रूप प्रकाश वाला पुरुष स्वयं ही ज्ञेय (तत्व) के समान बन जाता है और तब वह डरता नहीं, परवश नही होता और दीनता को प्राप्त नहीं होता ॥ २ ॥ ज्ञानी पुरुष अपवित्र, अपथ्य, जहर के सम्बन्ध से दूषित, गीला हुआ और बिगड़े हुये अन्न को भी मिष्ठान्न की तरह पचा सकता है ॥ ३ ॥ हे निर्दोष ! संग के त्याग को ही मोक्ष कहते हैं और संग का त्याग करने से ही जन्मरहितपन प्राप्त होता है, इसलिये सर्व पदार्थों का संग तू छोड़दे और जीवन्मुक्त बन जा ॥ ४ ॥ कोई भी पदार्थ हो, उसके मिलने से तो हर्ष हो और न मिले तो शोक हो—ऐसी विकारयुक्त मलिन वासना को 'संग' कहते है ॥ ५ ॥

जीवन्मुक्तशरीराणामपुनर्जन्मकारिणी ।
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना ॥ ६ ॥
दुःखैर्न ग्लानिमायासि हृदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य निदाघासङ्गतां व्रज ॥ ७ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
चिन्मात्रमक्षयं शान्तमेकं ब्रह्मास्मि नेतरत् ॥ ८ ॥
इति मत्वाऽहमित्यन्तमुक्तामुक्तवपुः पुमान् ।
एकरूपः प्रशान्तात्मा मौनी स्वात्मसुखो भव ॥ ९ ॥
नास्ति चित्तं न चाविद्या न मनो न च जीवकः ।
ब्रह्मैवैकमनाद्यन्तमब्धिवत् प्रविजृम्भते ॥ १० ॥

जिनका शरीर जीवन्मुक्त हो जाता है, उनकी शुद्ध वासना पुनर्जन्म को नहीं देने वाली और हर्ष तथा खेद से रहित होती है ॥ ६ ॥ हे निदाघ ! दुःखों से तू ग्लानि को प्राप्त न हो और सुखों से हृदय में हर्ष मत कर; इस प्रकार आशाओं के आधीन रहना त्यागकर असंगपना प्राप्त कर ॥ ७ ॥ "दिशा और काल आदि द्वारा

नहीं नापे जा सकने योग्य, और जिसकी दोनों बगलों—आदि-अन्त को किसी ने नहीं देखा है ऐसा केवल चैतन्य, अविनाशी, शान्त और एक ही ब्रह्म मैं हूँ और कुछ भी नहीं हूँ" ऐसा मानकर और "भीतर से मुक्त और बाहर से (लोक दृष्टि में) अमुक्त शरीर वाला पुरुष मै हूँ" ऐसा मानकर तू एक रूप, अत्यन्त शान्त अन्तः-करण वाला, मौनधारी तथा अपनी आत्मा में ही सुखयुक्त बन जा ।। ८—९ ।। क्योंकि चित्त नहीं है, अविद्या नही है, मन नहीं है और जीव भी नहीं है; केवल एक आदि अन्त रहित ब्रह्म ही समुद्र की तरह अत्यन्त विस्तार पाकर प्रकाशित हो रहा है ।। १० ।।

देहे यावदहंभावो दृश्येऽस्मिन् यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ।। ११ ।।

अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम् ।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुने चित्तादिविभ्रमाः ।। १२ ।।

चिदात्माऽस्मि निरंशोऽस्मि परापरविवर्जितः ।
रूपं स्मर निजं स्फारं मा स्मृत्या समितो भव ।। १३ ।।

अध्यात्मशास्त्रमन्त्रेण तृष्णाविषविषूचिका ।
क्षीयते भावितेनान्तः शरदा मिहिका यथा ।। १४ ।।

परिज्ञाय परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
सत्तासामान्यरूपत्वात्तत् कैवल्यपदं विदुः ।। १५ ।।

देह के ऊपर जहाँ तक अहंभाव है, इस दृश्य जगत के ऊपर जहाँ तक आत्म-बुद्धि है और 'यह अच्छा है' जब तक ऐसी आस्था है, तब तक चित्त आदि का भ्रम रहता है ।। ११ ।। हे मुनि ! अन्तर्मुख होकर तीनों जगतरूपी घास को चैतन्य रूप अग्नि में जो झोंक देता है, उसके अन्तर में से चित्त आदि की भ्रांतियाँ निकल जाती हैं ।। १२ ।। "मैं चैतन्य रूप आत्मा हूँ और अंश रहित

होकर पर-अपर से भी रहित हूँ" इस प्रकार अपने विशाल आत्म स्वरूप का स्मरण कर और इस स्मरण से भी नापा हुआ मत रह ॥ १३ ॥ जिस प्रकार शरदऋतु से हिमऋतु का नाश हो जाता है, वैसे ही अध्यात्मशास्त्र रूप मंत्र का अन्तर में चिन्तन करने से तृष्णारूपी विष की विषूचिका नष्ट हो जाती है ॥ १४ ॥ इन सब बातों को जानकर वासनाओं का पूर्णतः त्याग करना यही उत्तम है और उसी सामान्य सत्तारूप हो जाने को "कैवल्य पद" कहते हैं ॥ १५ ॥

यत्रास्ति वासना लीना तत् सुषुप्तं न सिद्धये ।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥ १६ ॥

वासनायास्तथा वह्नेॠणव्याधिद्विषामपि ।
स्नेहवैरविषाणां च शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥ १७ ॥
निर्दग्धवासना बीजः सत्तासामान्यरूपवान् ।
सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग्भवेत् ॥ १८ ॥

एतावदेवाविद्यात्वं नेदं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एष एव क्षय स्तस्या ब्रह्मेदमिति निश्चयः ॥ १९ ॥

ब्रह्म चिद्ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्परा ।
ब्रह्माहं ब्रह्म चिच्छत्रुर्ब्रह्म चिन्मित्रबान्धवाः ॥ २० ॥
ब्रह्मैव सर्वमित्येव भाविते ब्रह्म वै पुमान् ।
सर्वत्रावस्थितं शान्तं चिद्ब्रह्मेत्यनुभूयते ॥ २१ ॥

जिसमें वासना लीन होती है (अर्थात् बीजरूप गुप्त स्थिति में रह जाती है) वह सुषुप्ति अवस्था सिद्धि प्रदान करने वाली नहीं मानी जाती; पर जिसमें वासना निर्बीज हो जाती है उस तुरीयावस्था को सिद्धि देने वाली कहा जाता है ॥ १६ ॥ वासना, अग्नि, ऋण, रोग, शत्रु, स्नेह, वैर और विष—ये सब थोड़े भी शेष रह

जाते हैं तो हैरान करते है ॥ १७ ॥ जिसका वासना रूप बीज जल गया हो और जो सामान्य सत्तारूप हो रहा हो, वह चाहे देह सहित हो, पर फिर दुःख को (संसार को) प्राप्त नहीं होता ॥ १८ ॥ "यह जगत ब्रह्म नही है" ऐसा जो निश्चय हो जाना है वही अविद्या का नाश है ॥ १९ ॥ "चैतन्य ब्रह्म है, जगत ब्रह्म है, प्राणियों की परम्परा ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, चैतन्य रूप शत्रु ब्रह्म है, चैतन्य रूप मित्र और सगे सम्बन्धी ब्रह्म हैं और सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसी भावना करने वाला पुरुष ब्रह्म ही बनता है और यह अनुभव करता है कि चैतन्य रूप शान्त ब्रह्म ही सर्वत्र मौजूद है ॥ २०—२१ ॥

असंस्कृताध्वगालोके मनस्यन्यत्र संस्थिते ।
या प्रतीतिरनागस्का तच्चिद्ब्रह्मास्मि सर्वगम् ॥ २२ ॥
प्रशान्तसर्वसंकल्पं विगताखिलकौतुकम् ।
विगताशेषसंरम्भं चिदात्मानं समाश्रय ॥ २३ ॥
एवं पूर्णधियो धीराः समा नीरागचेतसः ।
न नन्दन्ति न निन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥ २४ ॥
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽसावूर्ध्वगः स्थितः ॥ २५ ॥

असंस्कारी यात्री के समान ज्ञान वाला मन जब अन्य (बाह्य विषयों से रहित) स्वरूप में रहता है और उस समय जो निर्दोष प्रतीति (अनुभव) होता है, वही सर्वव्यापी चैतन्य ब्रह्म मैं हूँ ॥ २२ ॥ जिसमें सर्व संकल्प अत्यन्त शान्त होते हैं, समस्त कौतुक जिसमें से जाते रहते हैं और सब समारंभ अथवा आवेश भी जिसमें से दूर हुये हैं, उस चैतन्य रूप आत्मा का ही तू आश्रय ग्रहण कर ॥ २३ ॥ ऐसे पूर्ण बुद्धि वाले, धीर, समान (स्थिर) बुद्धि वाले

और राग रहित चित्त वाले पुरुष न तो जीवन से आनन्दित होते हैं और न मरण की निन्दा करते है ॥ २४ ॥ हे ब्राह्मण ! यह प्राण निरन्तर चेष्टारूप शक्ति वाला और सदा गतिमान है । बाहर और भीतर सहित देह में यह प्राण ऊर्ध्वगति वाला रहता है ॥ २५ ॥

अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे अपानोऽयमवाक् स्थितः ॥ २६ ॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव प्राणायामो य उत्तमः ।
प्रवर्तते ह्यभिज्ञस्य तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥ २७ ॥
द्वादशांगुलपर्यन्त बाह्यमाक्रमतां ततः ।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥ २८ ॥
अपानश्चन्द्रमा देहमाप्याययति सुव्रत ।
प्राणः सूर्योऽग्निरथ वा पचत्यन्तरिदं वपुः ॥ २९ ॥
प्राणक्षयसमीपस्थमपानोदयकोटिगम् ।
अपानप्राणयोरैक्यं चिदात्मानं समाश्रय ॥ ३० ॥

हे ब्राह्मण ! अपान वायु भी निरंतर चेष्टा रूप शक्ति वाला और सदा गतिमान है । बाहर और भीतर सहित देह में यह अपान वायु नीची गति वाला रहता है ॥ २६ ॥ इस बात को जो समझ लेता है उसका प्राणायाम जागते और सोते सदैव चलता रहता है; इस रहस्य को कल्याण के लिये तू श्रवण कर ॥ २७ ॥ शरीर से बाहर बारह अंगुल तक जाकर जो प्राणवायु भीतर खींचा जाता है, वह पूरक कहा जाता है ॥ २८ ॥ हे उत्तम व्रत वाले ! अपान चन्द्रमा है, वह देह को पुष्ट करता है और प्राण सूर्य अथवा अग्नि रूप हैं, जो शरीर के अन्दर रह कर पाचन-क्रिया करता है ॥ २९ ॥ जहाँ प्राणवायु का नाश (अन्त) होता है और जहाँ से अपान का उदय

(आरम्भ) होता है, उस स्थान पर रहने वाली प्राण और अपान की जो एकता है, वही चिदात्मा है, उसका तू आश्रय ले ॥ ३० ॥

अपानोऽस्तंगतो यत्र प्राणो नाभ्युदितः क्षणम् ।
कलाकलङ्करहित तच्चित्तत्त्वं समाश्रय ॥ ३१ ॥
नापानोऽस्तंगतो यत्र प्राणश्चास्तमुपागतः ।
नासाग्रगमनावर्त तच्चित्तत्त्वमुपाश्रय ॥ ३२ ॥
आभासमात्रमेवेदं न सन्नासज्जगत्त्रयम् ।
इत्यन्यकलनात्यागं सम्यज्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥ ३३ ॥
आभासमात्रकं ब्रह्मन् चित्तादर्शकलङ्कितम् ।
ततस्तदपि सत्यज्य निराभासो भवोत्तम ॥ ३४ ॥
भयप्रदमकल्याण धैर्यसर्वस्वहारिणम् ।
मनःपिशाचमुत्सार्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥ ३५ ॥

जहाँ अपान अस्त होता है और प्राण का एक क्षण भी उदय नहीं हुआ है, वही कला रूप कलक रहित चैतन्य है, इस तत्व का तू आश्रय ग्रहणकर ॥ ३१ ॥ जिसमें अपान अस्त होता है और प्राण भी अस्त होता है, उस नाक की नोंक के पास जाकर घूमता हुआ चैतन्य रहता है और इस तत्व का तू आश्रय ले ॥ ३२ ॥ यह तीनों जगत सत् नहीं है और असत् भी नहीं हैं, मात्र आभास रूप हैं; इस प्रकार भेद ज्ञान का जो त्याग किया जाता है ज्ञानीजन उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं ॥ ३३ ॥ हे उत्तम ब्राह्मण ! मात्र चित्त रूप दर्पण का कलंक वाला आभास ही है, इसलिये इस आभास का भी त्याग करके तू आभासरहित हो जा ॥ २४ ॥ मन रूप पिशाच भय दिलाने वाला और अकल्याण रूप है और वह धैर्य रूप सर्वस्व का हरण करने वाला है; इसलिये उसको भगाकर तू जिस रूप में है उसी रूप में स्थिर हो ॥ ३५ ॥

चिद्व्योमेव किलास्तीह परापरविवर्जितम् ।
सर्वत्रासंभवच्चैत्यं यत् कल्पान्तेऽवशिष्यते ॥ ३६ ॥
वाञ्छाक्षणे तु या तुष्टिस्तत्र वाञ्छैव कारणम् ।
तुष्टिस्त्वतुष्टिपर्यन्ता तस्माद्वाञ्छां परित्यज ॥ ३७ ॥
आशा यातु निराशात्वमभावं यातु भावना ।
अमनस्त्वं मनो यातु तवासङ्गेन जीवतः ॥ ३८ ॥
वासनारहितैरन्तरिन्द्रियैराहरन् क्रियाः ।
न विकारमवाप्नोषि खवत् क्षोभशतैरपि ॥ ३९ ॥
चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारप्रलयोदयौ ।
वासनाप्राणसंरोधादनुन्मेषं मनः कुरु ॥ ४० ॥

यहाँ केवल चिदाकाश ही है और वह पर तथा अपर के भेद रहित है। उसमें दृश्य और विषय कहीं भी संभव नहीं हैं और कल्पना के अन्त में भी चिदाकाश ही बाकी रहता है ॥ ३६ ॥ किसी इच्छा के समय जो संतोष होता है, उसमें वह इच्छा ही कारण होती है और यह संतोष भी असंतोष तक का ही होता है; इसलिये इच्छा का ही तू त्यागकर ॥ ३७ ॥ तू संग रहित होकर जीवित रह; तब तेरी आशा निराशा रूप हो, भावना अभाव रूप बने और मन, मनरहितपन को प्राप्त हो ॥ ३८ ॥ भीतर वासना रहित इन्द्रियों द्वारा तू क्रियाएँ करेगा तो सैकड़ों क्षोभकारक विषयों से भी आकाश के समान तू विकार को प्राप्त नहीं होगा ॥ ३९ ॥ चित्त के जन्म तथा नाश से संसार का उदय तथा प्रलय होता है; इसलिये वासना तथा प्राण को रोक कर मन को तू जन्म-रहित बना ॥ ४० ॥

प्राणोन्मेषनिमेषाभ्यां संसृतेः प्रलयोदयौ ।
तमभ्याससप्रयोगाभ्यामुन्मेषरहितं कुरु ॥ ४१ ॥

मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां कर्मणां प्रलयोदयौ ।
तद्विलीनं कुरु बलाद्गुरुशास्त्रार्थसंगमैः ॥ ४२ ॥
असंवित्स्पन्दमात्रेण याति चित्तमचित्तताम् ।
प्राणानां वा निरोधेन तदेव परम पदम् ॥ ४३ ॥
दृश्यदर्शनसंबन्धे यत् सुखं पारमार्थिकम् ।
तदन्तैकान्तसंवित्त्या ब्रह्मदृष्ट्याऽवलोकय ॥ ४४ ॥
यत्र नाभ्युदितं चित्तं तद्वै सुखमकृत्रिमम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥ ४५ ॥

इसी प्रकार प्राण के उदय और अस्त से संसार का उदय तथा प्रलय होता है; इसलिये अभ्यास तथा प्रयोग द्वारा प्राण को तू उदय-रहित कर ॥ ४१ ॥ फिर मूर्खता के उदय-अस्त से भी कर्मों का उदय तथा प्रलय होती है; इसलिये गुरु के उपदेश और शास्त्रों के अर्थ द्वारा तू इस मूर्खता का बलपूर्वक नाशकर ॥ ४२ ॥ विषयों का अनुभव न होना—इस रूप में असंवेदन का स्पन्दनमात्र होता है, इसी से चित्त की अवस्था अचित्तपन की हो जाती है; अथवा प्राण का निरोध करने से भी वह परमपद प्राप्त होता है ॥ ४३ ॥ दृश्य तथा दर्शन का सम्बन्ध होने पर जिस पारमार्थिक (सत्य) सुख का अनुभव होता है; उसका एकांत (केवल) अनुभव रूप ब्रह्म दृष्टि से अन्त तक खोज कर ॥ ४४ ॥ जिसमें चित्त उदय न पाया हो, वही स्वाभाविक सुख है और वह किसी प्रकार नाशवान नहीं है, इसलिये वह न तो उदय होता है और न उसका शमन होता है ॥ ४५ ॥

यस्य चित्तं न चित्ताख्यं चित्तं चित्तत्त्वमेव हि ।
तदेव तुर्यावस्थायां तुर्यातीतं भवत्यतः ॥ ४६ ॥

संन्यस्तसर्वसंकल्पः समः शान्तमना मुनिः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा ज्ञानवान् मोक्षवान् भव ।। ४७ ।।
सर्वसंकल्पसंशान्तौ प्रशान्तघनवासनम् ।
न किंचिद्भावनाकारं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ।। ४८ ।।
सम्यज्ज्ञानावरोधेन नित्यमेकसमाधिना ।
सांख्य एवावबुद्धा ये ते सांख्या योगिनः परे ।। ४९ ।।
प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ।। ५० ।।

जिसका चित्त "चित्त" के नाम से नहीं रहता वरन चैतन्य तत्त्व रूप हो जाता है, वही इस कारण से तुरीयावस्था में तुरीयातीत (परब्रह्म रूप) हो जाता है ।। ४६ ।। इसलिये सर्व संकल्पों का त्याग करके समान भावयुक्त और शान्त मन वाला मुनि बन जा; और ऐसे संन्यास योग से युक्त अन्तःकरण वाला होकर ज्ञानवान तथा मोक्षवान बन ।। ४७ ।। जिसमें सर्व संकल्प अत्यन्त शान्त हैं और सघन वासनायें भी अत्यन्त शमित होगई हैं और जो किसी भावना का आकार रूप ही नहीं है, उसे परब्रह्म कहते है ।। ४८ ।। जो सम्यग्ज्ञान के अवरोध से और नित्य एक समाधि से सांख्य के विषय में ही बोध प्राप्त किये हों, उनको 'सांख्य' कहा जाता है और उनके अतिरिक्त दूसरे योगी कहे जाते हैं ।। ४९ ।। प्राण आदि वायु की भली प्रकार से शान्ति हो जाने पर इस युक्ति द्वारा जो आदि-अन्त रहित निर्दोष पद को प्राप्त कर चुके हैं, वे 'योगयोगी' कहे जाते है ।। ५० ।।

उपादेयं तु सर्वेषां शान्तं पदमकृत्रिमम् ।
एकार्थाभ्यसनं प्राणरोधश्चेतःपरिक्षयः ।। ५१ ।।
एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिध्यन्ति परस्परम् ।

अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी ॥ ५२ ॥
आधाराधेयवच्चैते एकभावे विनश्यतः ।
कुरुतः स्वविनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥ ५३ ॥
सर्वमेतद्धिया त्यक्त्वा यदि तिष्ठसि निश्चलः ।
तदाऽहंकारविलये त्वमेव परमं पदम् ॥ ५४ ॥
महाचिदेकैवेहास्ति महासत्तेति योच्यते ।
निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहंकाररूपिणी ॥ ५५ ॥

इन सब का उद्देश्य स्वभाव व शान्त पद को प्राप्त करना ही होता है और इसी एक वस्तु के लिये वे अभ्यास करते है, पर इनमे एक वर्ग तो प्राण निरोध करता है और दूसरा वर्ग चित्त का नाश करता है ॥ ५१ ॥ इन दोनों में से अगर एक की भी भली प्रकार से सिद्धि हो जाती है, तो परस्पर दोनों सिद्ध हो जाते है, क्योकि प्राणियो में प्राण और चित्त एक दूसरे के बिना कभी नही रह सकते (अर्थात् एक का नाश होने पर दूसरे का नाश अनिवार्य रूप से हो जाता है) ॥ ५२ ॥ यह दोनों आधार और आधेय जैसे हैं; दोनों में से एक का भी नाश होने पर दोनों का नाश हो जाता है; और दोनों अपना नाश करके 'मोक्ष' नाम के उत्तम कार्य को सिद्ध करते है ॥ ५३ ॥ इस सर्व जगत का त्याग करके जो तू निश्चल रहे, तो अहङ्कार का नाश होने पर तू स्वयं ही परमपद रूप हो जायगा ॥ ५४ ॥ इस सृष्टि में महान चैतन्य एक ही है, जो 'महासत्ता' कही जाती है। वह कलङ्क रहित, सर्वत्र समान, शुद्ध और अहङ्काररहित स्वरूप वाली है ॥ ५५ ॥

सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती समा ।
सा ब्रह्म परमात्मेति नामभिः परिगीयते ॥ ५६ ॥
सैवाहमिति निश्चित्य निदाघ कृतकृत्यवान् ।

न भूतं न भविष्यच्च चिन्तयामि कदाचन ॥ ५७ ॥
दृष्टिमालम्ब्य तिष्ठामि वर्तमानामिहात्मना ।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ॥ ५८ ॥
न स्तौमि न च निन्दामि आत्मनोऽन्यन्नहि क्वचित् ।
न तुष्यामि शुभप्राप्तौ न खिद्याम्यशुभागमे ॥ ५९ ॥
प्रशान्तचापलं वीतशोकमस्तसमीहितम् ।
मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥ ६० ॥

वह एक ही बार प्रकाशित होने वाली है और वही निर्मल, नित्य उदय वाली, समान, ब्रह्म और परमात्मा ऐसे नामों से पुकारी जाती है ॥ ५६ ॥ हे निदाघ ! यह चैतन्य मैं ही हूँ ऐसा निश्चय करके मैं कृतकृत्य हुआ हूँ और भूत अथवा भविष्य का कभी विचार नहीं करता ॥ ५७ ॥ केवल वर्तमान काल की दृष्टि से निश्चय करके आत्म स्वरूप में रहता हूँ । "आज मैंने यह प्राप्त किया है और भविष्य मे इस श्रेष्ठता को प्राप्त करूँगा"—ऐसा विचार मैं नहीं करता । इसी प्रकार मैं न तो किसी की स्तुति करता हूँ, न किसी की निन्दा करता हूँ, क्योंकि आत्मा से भिन्न कुछ है ही नहीं । फिर इसी कारण से मैं शुभ की प्राप्ति होने से संतोष नहीं करता और अशुभ की प्राप्ति होने से खेद नहीं करता ॥५८–५९॥ हे मुनि ! मेरा मन शान्त हो गया है, उसकी चपलता अत्यन्त शमित हो गई है; शोक दूर हो गया है और इच्छायें अस्त हो गई हैं; इसलिये मैं निर्दोष जीवन जीता हूँ ॥ ६० ॥

अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यकः ।
इति ब्रह्मन् न जानामि संस्पर्श न ददाम्यहम् ॥ ६१ ॥
वासनामात्रसंत्याग.ज्जरामरणवर्जितम् ।

सवासनं मनो ज्ञानं ज्ञेयं निर्वासनं मनः ॥ ६२ ॥
चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमेतच्च सर्वतः ।
शिष्यते परमं शान्तमेकमच्छमनामयम् ॥ ६३ ॥
अनन्तमजमव्यक्तमजरं शान्तमच्युतम् ।
अद्वितीयमनाद्यन्तं यदाद्यमुपलम्भनम् ॥ ६४ ॥
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलं ततम् ।
खादप्यतितरां सूक्ष्मं तद्ब्रह्मासि न संशयः ॥ ६५ ॥

हे ब्राह्मण ! यह सब है, यह पराया है, यह मेरा है और यह भिन्न है ऐसा मै कभी विचार ही नही करता और भावनाओं का प्रवेश ही नही होने देता ॥ ६१ ॥ समस्त वासनाओं का त्याग करने से वृद्धावस्था और मरणरहित पद प्राप्त होता है । वासना वाला मन ही अज्ञान है और वासनारहित हुआ मन ही (जानने योग्य) तत्व है ॥ ६२ ॥ चित्त का त्याग कर देने से यह समस्त द्वैत चारों तरफ से लय को प्राप्त होता है; और परम शान्त, एक, स्वच्छ, और निर्दोष तत्व बाकी रहता है ॥ ६३ ॥ जो अनन्त, जन्म-रहित, अव्यक्त, अजर, शात, अस्खलित, अद्वितीय, आदि-अन्त रहित; आदि में रहने वाला, प्राप्ति रूप, एक, केवल चैतन्य रूप, निर्मल व्यापक और आकाश से भी अतिशय सूक्ष्म है, वही ब्रह्म मैं हूँ, इसमें संशय नही ॥ ६४—६५ ॥

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं स्वच्छं नित्योदितं ततम् ।
सर्वार्थमयमेकार्थं चिन्मात्रममलं भव ॥ ६६ ॥
सर्वमेकमिदं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
भावाभावमजं सर्वमिति मत्वा सुखी भव ॥ ६७ ॥
न बद्धोऽस्मि न मुक्तोऽस्मि ब्रह्मैवास्मि निरामयम् ।
द्वैतभावविमुक्तोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः ।
एवं भावय यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥ ६८ ॥

पदार्थवृन्दे देहादिधिया संत्यज्य दूरतः ।
आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्मपरो भव ॥ ६९ ॥
इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःखसंततेः ।
तस्मिन् साम्याग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः ॥७०॥

इसलिये दिशा काल आदि से न नापा जा सकने योग्य, स्वच्छ, नित्य उदय होने वाला, व्यापक, सर्व पदार्थमय और एक ही अर्थ वाला निर्मल चैतन्य तू बन जा ॥ ६६ ॥ यह समस्त एक ही शान्त तत्व है, वह आदि-मध्य-अन्त रहित है, भाव-अभाव रूप है और सम्पूर्ण अजन्मा है, ऐसा जानकर सुखी हो ॥ ६७ ॥ 'मैं बन्धा हुआ नही हूँ और मुक्त भी नही हूँ; मैं तो निर्दोष ब्रह्म ही हूँ, द्वैत भाव से रहित हूँ और सच्चिदानन्दरूप लक्षण वाला हूँ, ऐसी भावना यत्नपूर्वक कर जिससे तू जीवन्मुक्त हो जायगा ॥ ६८ ॥ पदार्थो के समूह में देहादि बुद्धि का दूर से ही त्याग करके, अत्यन्त शीतल अन्तःकरण वाला होकर नित्य आत्मा में परायण हो ॥ ६९ ॥ 'यह अच्छा है और यह अच्छा नही है' ऐसा मानना ही दुःखों की परम्परा का बीज है; इसलिये समान भाव रूप अग्नि से यह बीज जल जाय, तो दुःख का अवसर ही कहाँ है ? ॥ ७० ॥

शास्त्रसज्जनसंपर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ॥ ७१ ॥
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम् ।
अत्यर्थममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ७२ ॥
तथाऽस्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥ ७३ ॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत ।
अहमस्मीत्यभिध्यायेद्द्येहातीतं विमुक्तये ॥ ७४ ॥
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥ ७५ ॥

एकः सन्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ।
तस्मादद्वैत एवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः ॥ ७६ ।

हे उत्तम व्रत वाले ! प्रथम तो शास्त्रों और सज्जनों के संग से प्रज्ञा को बढाना चाहिये और फिर अपनी आत्मा ही परमपूज्य, सत्य, परब्रह्म, सर्व संसार की औषधि, अतिशय, निर्मल, नित्य, आदि-मध्य-अन्त रहित, स्थूल, आकाशरहित, स्पर्श का अविषय, चक्षु का अविषय, रसरहित, गंधरहित, प्रमाण का अविषय, उपमा-रहित और अनन्त है, ऐसा समझकर अपने लिये ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विचार किया कर, जिससे ध्येयातीत होकर मुक्ति का अधिकारी बन जाता है ॥ ७१—७४ ॥ जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही 'समाधि' है; क्योंकि एक ही आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ और दोष रहित है; मायारूप भ्रांति के कारण ही उसमें भेद मान लिया जाता है, वास्तविक रीति से विचार किया जाय तो ये स्वरूप एक दूसरे से भिन्न नहीं है । इसलिये आत्मा अद्वैत ही है; प्रपंच नहीं है और संसार भी नहीं है ॥ ७५—७६ ॥

यथाऽऽकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः ।
तथा भ्रान्तेर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ॥७७॥
यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा ।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम् ॥ ७८ ॥
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ७९ ॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥ ८० ॥

जिस प्रकार आकाश एक ही है, तो भी उपाधि के भेद से घटाकाश, महाकाश ऐसा कहा जाता है, वैसे ही एक ही आत्मा भ्रांति के कारण जीवात्मा और ईश्वर के रूप में कही जाती है

॥ ७७ ॥ योगी के मन में जब एक ही चैतन्यसत्ता सर्वव्यापी, सदा प्रकाशित होती है; तब वह स्वयं उसी चैतन्यरूप में हो जाता है ॥ ७८ ॥ सब प्राणियों को जब अपनी आत्मा मे देखता है और अपनी आत्मा को सर्व प्राणियों में देखता है, तब मनुष्य ब्रह्म होता है ॥ ७९ ॥ समाधि में रह कर जब सर्व भूतों को देखता नहीं, वरन् परमात्मा के साथ ही एकरूप हो जाता है, तब वह केवल परब्रह्म बनता है ॥ ८० ॥

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासरूपिणी ।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता मुमुक्षुत्वप्रदायिनी ॥ ८१ ॥
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया साङ्गभावना ।
विलायिनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका ॥ ८२ ॥
शुद्धसंविन्मयाऽऽनन्दरूपा भवति पञ्चमी ।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥ ८३ ॥
असंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका ।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशी स्थितिः ॥ ८४ ॥
तुर्यावस्थोपशान्ता स मुक्तिरेव हि केवला ।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥ ८५ ॥

शास्त्र और सज्जनों का संग तथा वैराग्य का अभ्यास यह प्रथम भूमिका कहलाती है और वह मुमुक्षपन को प्रदान करने वाली है ॥ ८१ ॥ दूसरी भूमिका विचारणा नाम की है; तीसरी सांगभावना है; चौथी विलायिनी है, क्योंकि वह वासनाओं के लय रूप होती है ॥ ८२ ॥ शुद्ध ज्ञानमय और आनन्द रूप पांचवी भूमिका है, उसमें जीवन्मुक्त पुरुष आधा सोया हुआ और जगा हुआ होता है ॥ ८३ ॥ छठी भूमिका असंवेदन रूप होती है; वह केवल आनन्दमय आकार वाली और सुषुप्ति जैसी होती है ॥ ८४ ॥ जो तुरीयावस्था

है, वही केवल मुक्ति है और उसी के समान भावरूप स्वच्छ और सौम्य सातवीं भूमिका है ॥ ८५ ॥

तुर्यातीता तु याऽऽवस्था परा निर्वाणरूपिणी ।
सप्तमी सा परा प्रौढा विषयो नैव जीवताम् ॥ ८६ ॥
पूर्वावस्थात्रयं तत्र जाग्रदित्येव संस्थितम् ।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥ ८७ ॥
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी ।
असंवेदनरूपा तु षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥ ८८ ॥
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमो भूमिकोत्तमा ।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशसदात्मिका ॥ ८९ ॥
अन्तः प्रत्याहृतिवशाच्चैत्यं चेन्न विभावितम् ।
मुक्त एव न संदेहो महासमतया तया ॥ ९० ॥

इसी प्रकार निर्वाण रूप जो तुरीयातीत अवस्था है, वह भी परम प्रौढ़ सातवीं भूमिका है परन्तु वह जीवितों का विषय नही है ॥ ८५ ॥ इन भूमिकाओं में जो पहली तीन अवस्था है, उनमें जागृत अवस्था ही रहती है, चौथी को स्वप्न अवस्था कहते हैं, क्योंकि उसमें जगत स्वप्न के समान जान पड़ता है । पर पाँचवी तो सुषुप्ति के नाम से ही प्रसिद्ध है, क्योंकि उसमें केवल आनन्दमय आकार होता है और छठी असंवेदन रूप होती है, इसलिये उसे तुरीयपद कहते हैं ॥ ८८ ॥ सातवीं भूमिका तुरीयातीतपद की अवस्था वाली होने से उत्तम होती है । उसे मन और वचन से नही बतलाया जा सकता, क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश सदात्मा रूप ही होती है ॥ ८९ ॥ इन्द्रियों को अन्तःकरण में खींच लिया हो और इस कारण किसी विषय की जानकारी न होती हो, तो इस समता के कारण ही वह मुक्त हो गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ९० ॥

न म्रिये न च जीवामि नाहं सन्नाप्यसन्मयः ।
अहं न किंचिच्चिदिति मत्वा धीरो न शोचति ॥ ९१ ॥

अलेपकोऽहमजरो नीरागः शान्तवासनः ।
निरशोऽस्मि चिदाकाशमिति मत्वा न शोचति ॥ ९२ ॥

अहंमत्या विरहितः शुद्धो बुद्धोऽजरोऽमरः ।
शान्तः शमसमाभास इति मत्वा न शोचति ॥ ९३ ॥

तृणाग्रेष्वम्बरे भानौ नरनागामरेषु च ।
यस्तिष्ठति तदेवाहमिति मत्वा न शोचति ॥ ९४ ॥

भावनां सर्वभावेभ्यः समुत्सृज्य समुत्थितः ।
अवशिष्टं परं ब्रह्म केवलोऽस्मीति भावय ॥ ९५ ॥

'मैं मरता नहीं हूँ, जीता भी नहीं हूँ, मैं सत् नहीं हूँ और असत्मय भी नहीं हूँ; इसी प्रकार मैं कुछ भी नहीं हूँ, पर चैतन्य हूँ' यह मानकर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करता ॥ ९१ ॥ 'मैं निर्लेप हूँ, जरारहित हूँ, रागरहित, शान्त वासना वाला, अंशरहित तथा चिदाकाश हूँ' ऐसा जान कर ज्ञानी शोक नहीं करता ॥ ९२ ॥ इसी प्रकार 'मै अहंबुद्धि से रहित, शुद्ध, बुद्ध, अजर, शान्त और शम के समान आभास वाला हूँ' ऐसा जान कर ज्ञानी शोक नहीं करता ॥ ९३ ॥ 'घास की नोंक पर, आकाश में, सूर्य में, मनुष्यों में, हाथियों में तथा देवों में जो वस्तु है, वही मैं हूँ' ऐसा मान कर ज्ञानी शोक नही करता ॥ ९४ ॥ सर्व पदार्थों के ऊपर से भावना का त्याग करके तू खड़ा हो जा और ऐसी भावना करता रह कि 'सब का त्याग कर देने पर जो शेष रहता है, वही परब्रह्म मैं हूँ ।' ॥ ९५ ॥

वाचामतीतविषयो विषयाशादशोज्झितः ।
परानन्दरसाक्षुब्धो रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ९६ ॥

सर्वकर्मपरित्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
न पुण्येन च पापेन नेतरेण च लिप्यते ॥ ९७ ॥
स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथा नायाति रञ्जनम् ।
तज्ज्ञः कर्मफलेनान्तस्तथा नायाति रञ्जनम् ॥ ९८ ॥
विहरन् जनतावृन्दे देहकर्तनपूजनैः ।
खेदाह्लादौ न जानाति प्रतिबिम्बगतैरिव ॥ ९९ ॥
निस्स्तोत्रो निर्विकारश्च पूज्यपूजाविवर्जितः ।
संयुक्तश्च वियुक्तश्च सर्वाचारनयक्रमैः ॥ १०० ॥

जिसके विषय वाणी को उलाँघ गये हैं, विषयों की आशा वाली दशा से जो रहित हो गया है और परमानन्द के रस से जिसने क्षोभ न पाया हो, वह अपनी आत्मा द्वारा आत्मा में ही रमण करता है ॥ ९६ ॥ सर्व कर्मो का परित्याग करके जो नित्य तृप्त और निराश्रय हुआ हो, वह पुण्य से, पाप से या अन्य बात से लिप्त नहीं होता ॥ ९८ ॥ लोगों की भीड में वह देव-कीर्तन और पूजा करता हुआ बिहार करता है; तो भी मानो यह सब प्रतिविम्ब मात्र हो ऐसा समझ कर वह खेद अथवा आनन्द का अनुभव नहीं करता ॥ ९९ ॥ फिर वह स्तोत्र अथवा स्तुति से रहित, निर्विकार, पूज्य की पूजा से रहित और समस्त आचार तथा नीति के क्रम से संयुक्त और वियुक्त भी रहता है ॥ १०० ॥

तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथ वा ।
ज्ञानसंपत्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥ १०१ ॥
संकल्पत्वं हि बन्धस्य कारणं तत् परित्यज ।
मोक्षो भवेदसंकल्पात् तदभ्यासं धिया कुरु ॥ १०२ ॥
सावधानो भव त्वं च ग्राह्यग्राहकसंगमे ।
अजस्रमेव संकल्पदशाः परिहरन् शनैः ॥ १०३ ॥

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ १०४ ॥
किंचिन्न्द्रोचते तुभ्यं तद्बद्धोऽसि भवस्थितौ ।
न किंचिद्रोचते चेत्तो तन्मुक्तोऽसि भवस्थितौ ॥ १०५ ॥

यह मुक्त पुरुष ऐसी ज्ञान सम्पत्ति प्राप्त कर लेने पर किसी तीर्थ में शरीर तजे अथवा किसी चाडाल के घर में मरण को प्राप्त हो, पर इससे किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता ॥ १०१ ॥ सब तरह का संकल्प ही बन्धन का कारण है, इसलिये तू उसका त्याग कर; क्योंकि असंकल्प से मोक्ष होती है, इसलिये उसी का बुद्धि द्वारा तू अभ्यास कर ॥ १०२ ॥ निरन्तर धीरे-धीरे संकल्प की दशा का तू त्याग कर और विषयों से तथा विषयों को ग्रहण करने वाले के संग से तू सावधान रह ॥ १०३ ॥ ग्राह्य-विषयों का भावरूप तू मत बन और उन विषयों को ग्रहण करने वाले का रूप भी तू मत हो; परन्तु समस्त वासनाओं का त्याग करने पर जो शेष रहे उस स्वरूप में तू तन्मय हो ॥ १०४ ॥ संसार की स्थिति मे जो कुछ भी तुझे अच्छा लगा तो तू बँधा हुआ ही है और जो तुझे कुछ भी आकर्षक नही लगा तो संसार की स्थिति में ही तू मुक्त बन गया ॥ १०५ ॥

अस्मात् पदार्थनिचयाद्यावत् स्थावरजङ्गमात् ।
तृणादेर्देहपर्यन्तान्मा किंचित्तत्र रोचताम् ॥ १०६ ॥
अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥ १०७ ॥
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः ।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्या कलनोच्यते ॥ १०८ ॥
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नः संकल्पानामसंभवात् ।
सुषुप्तभावो नोऽप्येतदभावाज्जडतास्थितेः ॥ १०९ ॥

शान्तसम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत् ।
विलीनं तुर्यमित्याहुरबुद्धानां स्थितं स्थिरम् ।। ११० ।।

तिनके से लेकर शरीर तक जो यह स्थावर-जंगम पदार्थो का समूह है, उसमें से तुझे कुछ भी रुचना न चाहिये (किसी में आसक्ति नहीं रहनी चाहिये) ।। १०६ ।। अहंभाव और अनहंभाव का, सत् और असत् के भाव का त्याग करदे, इसके पश्चात् जो आसक्ति-रहित, समान और स्वच्छ तत्व रहेगा, वही तुरीयपद कहलाता है ।। १०७ ।। जीवन्मुक्त की जो स्वच्छ, समभाव वाली, शान्त और व्यवहार में भी साक्षी रूप अवस्था वाली स्थिति होती है, वही तुरीयावस्था कहलाती है ।। १०८ ।। यह जागृति नहीं होती और संकल्पों का अभाव होने से इसे स्वप्न भी नहीं कहा जा सकता; साथ ही उसमें जड़ता की स्थिति नहीं होती इसलिये वह सुषुप्ति भी नहीं है ।। १०९ ।। जिन्होंने शान्त होकर उत्तम ज्ञान को प्राप्त किया है, उनकी दृष्टि में जैसा यह जगत (मूलरूप) में है, वैसा ही रहता है और वे तो यहाँ तक कहते है कि तुरीय अवस्था का भी विलय हो जाता है। पर अज्ञानियों की दृष्टि में तो जगत स्थिर ही रहता है ।। ११० ।।

अहंकारकलात्यागे समतायाः समुद्गमे ।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ।। १११ ।।
सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्लमम् ।। ११२ ।।

शान्त एव चिदाकाशे स्वच्छेशमसमात्मनि ।
समस्तशक्तिखचिते ब्रह्मेति कलिताभिधे ।। ११३ ।।

सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवानघ ।
निर्वाणवान् निर्मननः क्षीणचित्तः प्रशान्तधीः ।। ११४ ।।

आत्मन्येवास्स्व शान्तात्मा मूकान्धबधिरोपमः ।
नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः स्वात्मनाऽन्तः प्रपूर्णधीः ॥११५॥

अहंकार के अंश को त्याग दिया जाता है और समान भाव का उदय होता है, तब चित्त का विनाश किया जा सकता है और तुरीयावस्था प्राप्त हो जाती है ॥ १११ ॥ सर्व पदार्थों का अभाव ही है, ऐसा अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है; इसलिये यहाँ अविद्या नहीं है और माया भी नही है; परन्तु केवल शान्त और श्रम रहित ब्रह्म ही है ॥ ११२ ॥ चैतन्यरूप आकाश शान्त, स्वच्छ, शम-समान स्वरूप वाला और समग्र शक्तियों से व्याप्त है; उसी का 'ब्रह्म' ऐसा नाम पड़ गया है; इसलिये हे निर्दोष ! उसीमें सबका परित्याग करके महामौनधारी, निर्वाणयुक्त, ममता रहित, नाश हुये चित्त वाला और अति शान्त बुद्धि वाला बन कर तू रह ॥ ११३—११४ ॥ इस ब्रह्म के स्वरूप में ही शान्त स्वरूप वाला और मूक, अन्ध, बधिर जैसा बनकर नित्य अन्तर्मुख रह; साथ ही स्वच्छ बन कर अपनी आत्मा द्वारा ही अन्तर में परिपूर्ण बुद्धि वाला बन जा ॥ ११५ ॥

जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि वै द्विज ।
अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथाऽऽगतम् ॥ ११६ ॥
चित्तासत्ता परं दुःखं चित्तत्यागः परं सुखम् ।
अतश्चित्तं चिदाकाशे नय क्षयमवेदनात् ॥ ११७ ॥
दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत् सदा ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ॥ ११८ ॥
वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं न चाशिष्यायवै पुनः ॥ ११९ ॥

अन्नपूर्णोपनिषद् योऽधीते गुर्वनुग्रहात् ।
स जीवन्मुक्ततां प्राप्य ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।। १२० ।।

हे ब्राह्मण ! जागृत अवस्था में रहने पर भी तू सुषुप्ति में रहने के समान कर्म कर और अन्तर से सब का परित्याग करके बाहर से जैसा चाहे वैसा कर ।। ११६ ।। चित्त का अस्तित्व ही परम दुःख है और चित्त का त्याग ही परमसुख है; इसलिये अनुभव न करता हुआ चित्त को चिदाकाश में लय करदे ।। ११७ ।। सुन्दर अथवा असुन्दर वस्तु देखकर पत्थर के समान (अप्रभावित) रहना, बस इतना ही आत्मयत्न करने से संसार जीत लिया जाता है ।। ११८ ।। वेदान्त का यह परम गुह्य रहस्य प्राचीन कल्प में प्रेरणा (अथवा प्रचार) को प्राप्त हुआ था; इसे अशान्त मन वाले को तथा जो शिष्य न हो उसको नहीं देना चाहिये ।। ११६ ।। जो मनुष्य गुरु की कृपा प्राप्त करके इस अन्नपूर्णा उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह स्वयमेव ही जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त करके ब्रह्म ही बन जाता है ।। १२० ।। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होता है ।

।। पाँचवा अध्याय समाप्त ।।

।। इति अन्नपूर्णा उपनिषद् समाप्त ।।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुच्यते। पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः।

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम। तं गत्वोवाच। भगवन् किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥ १ ॥

स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि। किं तु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं सृष्ट्वा तप्तायःपिण्डवत् ऐक्यं भिन्नवत् अवभासते। तद्भासकं किमिति चेत् उच्यते। सच्छब्दवाच्यं अविद्याशबलं ब्रह्म ॥२॥

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥ ३ ॥

तदखिलं किमिति। भूतविकारविभागादिति। एकस्मिन् पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति। तत्कार्यकारणभेदरूपेण अंशतत्त्ववाचकवाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति ॥ ४ ॥

अथाकाशः अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः। वायुः समानोदानोव्यानापानप्राणाः। वह्निः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाः। आपः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः ॥ ५ ॥

त्रिशिखी ब्राह्मण ने आदित्य लोक में जाकर भगवान आदित्य से पूछा—"भगवन् ! देह क्या है ? प्राण क्या है ? कारण क्या है ? आत्मा क्या है ?" आदित्य भगवान ने उत्तर दिता—"इस समस्त को शिव रूप जानो। वही नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वय शिव अपने एक ही प्रकाश से सब को देख कर तप्त लोहे के पिण्ड के समान एक को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि वह प्रकाश करने वाला कौन है तो कहा जायगा कि अविद्यायुक्त ब्रह्म 'सत्' शब्द का वाच्य है। ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्रा, पंच तन्मात्राओ से पञ्चमहाभूत और पञ्चमहाभूत से यह समस्त जगत उत्पन्न होता है। वह सम्पूर्ण क्या है ? यह भूतों के विकार से उत्पन्न विभाग रूप है। भूतों के विकार सै एक ही पिण्ड के विभाग किस प्रकार होते है ? उन विभिन्न भूतों के कार्य कारण भेद से अंश तत्व, वाचक-वाच्य, स्थान भेद, विषय, देवता कोश भेद—ये विभाग होते हैं। जैसे अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त अहङ्कार पांच आकाश है। समान, उदान, व्यान, अपान, प्राण—ये पाँच वायु है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—ये अग्नि से हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच जल से हैं। वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ पृथ्वी से है॥ १—५॥

ज्ञानसंकल्पनिश्चयानुसंधानाभिमाना आकाशकार्यान्तः-करणविषयाः। समीकरणोन्नयनग्रहणश्रवणोच्छ्वासा वायुकार्य-प्राणादिविषयाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रिय-विषया अबाश्रिताः। वचनादानगमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्य-कर्मेन्द्रियविषयाः। कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः। मनोबुद्धयोश्चित्ताहंकारौ चान्तर्भूतो॥ ६॥

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा जैव-तन्मात्रविषयाः ॥ ७ ॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि। अत्र निशाकरचतुर्मुखदिग्वातार्कवरुणाश्व्यग्नीन्द्रोपेन्द्र-प्रजापतियमा अक्षाधिदेवतारूपैर्द्वादशनाड्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि अङ्गज्ञानं तदेव ज्ञातेति ॥ ८ ॥

अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति। ज्ञातृत्वं समानयोगेन श्रोत्रद्वारा शब्दगुणो वागधिष्ठित आकाशे तिष्ठति आकाशस्तिष्ठति। मनो व्यानयोगेन त्वग्द्वारा स्पर्शगुणः पाण्यधिष्ठितो वायौ तिष्ठति वायुस्तिष्ठति। बुद्धिरुदानयोगेन चक्षुर्द्वारा रूपगुणः पादाधिष्ठितोऽग्नौ तिष्ठत्यग्निस्तिष्ठति। चित्तमपानयोगेन जिह्वाद्वारा रसगुण उपस्थाधिष्ठितोऽप्सु तिष्ठत्यापस्तिष्ठन्ति। अहंकारः प्राणयोगेन घ्राणद्वारा गन्धगुणो गुदाधिष्ठितः पृथिव्यां तिष्ठति पृथिवी तिष्ठतीत्येवं वेद ॥ ९ ॥

ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसंधान अभिमान आकाश के कार्य तथा अन्तःकरण के विषय है। समीकरण, नेत्र खोलना, पकड़ना, सुनना, उच्छ्वास—ये वायु के कार्य और प्राणादि के विषय है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये अग्नि के कार्य और ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और जल के आश्रित है। बोलना, दान, गमन, विसर्जन तथा आनन्द ये पृथ्वी के कार्य तथा कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषयों में प्राण तथा तन्मात्राओं के विषय भी अन्तर्भूत हैं। मन और बुद्धि में चित्त और अहङ्कार अन्तर्भूत हैं। अवकाश, हटाना, दर्शन, पिण्डीकरण, धारणा सूक्ष्मतम तन्मात्रा के विषय हैं। इस प्रकार बारह अङ्ग है, जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—तीनों में भागों में हैं। इनमें चन्द्रमा,

ब्रह्मा, दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम—ये बारह इन्द्रियों के अधिदेवता रूप से बारह नाडियों में स्थित रहते हैं, ये प्राण ही है । अंगों का ज्ञानरूप ही ज्ञात है । अब आकाश, वायु, अग्नि, जल, अन्न का पञ्चीकरण इस प्रकार है । समान वायु के योग से ज्ञात करना होता है; श्रोत्र द्वारा शब्दरूपी गुण वाणी के आश्रय से आकाश में स्थित है और आकाश भी स्थित है । व्यान वायु के योग से मन है, त्वचा द्वारा स्पर्श गुण हाथ के सहारे वायु में स्थित है और वायु भी स्थित है । उदान वायु के योग से बुद्धि है, चक्षु द्वारा रूप गुण पैर के सहारे अग्नि में स्थित है और अग्नि स्थित है । अपान वायु के योग से चित्त है, जिह्वा द्वारा रस गुण उपस्थ के सहारे जल मे स्थित है और जल भी स्थित है । प्राणवायु के योग से अहङ्कार है, नासिका द्वारा घ्राण गुण गुदा के सहारे पृथिवी में स्थित है और पृथिवी भी स्थित है, यह ज्ञातव्य है । इस विषय के ये श्लोक है ॥ ६—९ ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

पृथग्भूते षोडश कलाः स्वार्धभागान् परान् क्रमात् ।
अन्तःकरणव्यानाक्षिरसपायुनभःक्रमात् ॥ १ ॥
मुख्यान् पूर्वोक्तरैर्भागैर्भूतेभूते चतुश्चतुः ।
पूर्वमाकाशमाश्रित्य पृथिव्यादिषु संस्थितः ॥ २ ॥
मुख्या ऊर्ध्वे परा ज्ञेया ना[आ]परानुत्तरान्विदुः ।
एवमंशो अभूत्तस्मात्तेभ्यश्चांशो अभूत्तथा ॥ ३ ॥
तस्मादन्योन्यमाश्रित्य ह्योतं प्रोतमनुक्रमात् ।
पञ्चभूतमया भूमिः सा चेतनसमन्विता ॥ ४ ॥
तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्चतुर्विधाः ।
रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः ॥ ५ ॥

प्रत्येक तत्व के आवे भाग से और दूसरे तत्वों की सोलह कलाओं से अन्तःकरण, व्यान, चक्षु, रस, गुदा (अर्थात् आकाशादि पाँचों) भूतों की स्थिति है। आकाश से लगाकर प्रत्येक भूत का मुख्य पूर्व भाग और अन्य भूतो के पिछले चार-चार भाग पाँचों भूतों में स्थित रहते हैं ।।१–२।। मुख्य भाग से ऊपर वाले को सूक्ष्म भूत जाने और पिछले को स्थूल जाने । इसी प्रकार ये एक दूसरे के अंश से सम्मिलित होते है ।। ३ ।। ये सब भूत इसी प्रकार एक दूसरे का आश्रय लेकर परस्पर में ओतप्रोत है और इनसे युक्त यह पंचभूतमय पृथ्वी चेतन तत्व से समन्वित है ।। ४ ।। फिर इस पृथ्वी से औषधि, अन्न, चारों प्रकार के पिण्ड, रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, वीर्य आदि सप्त धातुओं की उत्पत्ति होती है ।। ५ ।।

केचित्तद्योगतः पिण्डा भूतेभ्यः संभवाः क्वचित् ।
तस्मिन्नन्नमयः पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः ।। ६ ।।
अस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत् ।
सत्वान्तर्वर्तिनो देवाः कर्त्रहंकारचेतनाः ।। ७ ।।
अस्य बीजं तमःपिण्डं मोहरूपं जड घनम् ।
वर्तते कण्ठमाश्रित्य मिश्रीभूतमिदं जगत् ।। ८ ।।
प्रत्यगानन्दरूपात्मा मूर्ध्नि स्थाने परंपदे ।
अनन्तशक्ति संयुक्तो जगद्रूपेण भासते ।। ९ ।।
सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं जाग्रति वर्तते ।
सुषुप्तं च तुरीयं च नान्यावस्थासु कुत्रचित् ।। १० ।।

उन धातुओं के योग से कहीं पिण्डों की उत्पत्ति हो जाती है, नाभिस्थान में अन्नमय पिण्ड स्थित है ।। ६ ।। उसके मध्य भाग में नालयुक्त पद्मकोश के समान हृदय है, उसके भीतर वे देवता,

स्थित हैं जिनमें कर्तापन का अहङ्कार तत्व पाया जाता है ॥ ७ ॥ इसका मोह रूपी तमोगुण का पिण्ड अज्ञान कण्ठ के आश्रय से रहता और समस्त जगत्त में व्याप्त है ॥ ८ ॥ प्रत्येक आनन्दरूपी आत्मा परमपद मूर्धा स्थान मे अनन्त शक्तियो से संयुक्त होकर जगत स्वरूप में प्रकाशित्त हो रहा है ॥ ९ ॥ जाग्रत सर्वत्र विद्यमान है, स्वप्न जाग्रति में रहता है। सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाये अन्य अवस्थाओं मे नही पाई जाती ॥ १० ॥

सर्वदेशेष्वनुस्यूतश्चतूरूपः शिवात्मकः ।
यथा महाफले सर्वे रसाः सर्वप्रवर्त्तकाः ॥ ११ ॥
तथैवान्नमये कोशे कोशास्तिष्ठन्ति चान्तरे ।
यथा कोशस्तथा जीवो यथा जीवस्तथा शिवः ॥ १२ ॥
सविकारस्तथा जीवो निर्विकारस्तथा शिवः ।
कोशास्तस्य विकारास्ते ह्यवस्थासु प्रवर्तका. ॥ १३ ॥
यथा रसाशये फेनं मथनादेव जायते ।
मनोनिर्मथनादेव विकल्पा बहवस्तथा ॥ १४ ॥
कर्मणा वर्तते कर्मी तत्त्यागाच्छान्तिमाप्नुयात् ।
अयने दक्षिणे प्राप्ते प्रपञ्चाभिमुखं गतः ॥ १५ ॥

सब स्थानों मे शिव स्वरूप चार रूपो में वर्तमान है जैसे उत्तम फलों में रस सर्वत्र व्याप्त रहता है ॥ ११ ॥ वहाँ अन्नमय-कोश के भीतर अन्य कोश रहते हैं। जैसे-जैसे कोश हैं वैसा-वैसा ही जीव है और जैसा जीव है वैसा ही शिव (परमात्मा) है ॥ १२ ॥ अन्तर इतना ही है कि जीव विकार सहित है और शिव विकारों से रहित है। कोश ही जीव के विकार हैं जो सब अवस्थाओं में प्रवर्तक हैं ॥ १३ ॥ जैसे दूध को मथने से फेन की उत्पत्ति होनी है उसी

प्रकार मन के मथे जाने से नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥ कर्म से कर्मी का अस्तित्व है, कर्मत्याग से शान्ति हो जाती है । दक्षिण अयन में आने से उसे प्रपञ्च में लिप्त होना पड़ता है ॥ १५ ॥

अहंकाराभिमानेन जीवः स्याद्धि सदाशिवः ।
स चाविवेकप्रकृतिसङ्गत्या तत्र मुह्यते ॥ १६ ॥
नानायोनिशतं गत्वा शेतेऽसौ वासनावशात् ।
विमोक्षात्संचरत्येव मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥ १७ ॥
ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः ।
उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥१८॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान्योगाभ्यासं स्थितश्चरन् ।
योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥ १९ ॥
योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति ।
विकारस्थं शिवं पश्येद्विकारश्च शिवे न तु ॥ २० ॥
योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः ।
योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिध्यति ॥ २१ ॥

अहङ्कार से युक्त हो जाने के कारण सदाशिव (परमात्मा) को जीव कोटि में आना पड़ता है । वहाँ अविवेक और प्रकृति के संयोग से वह मोहग्रस्त हो जाता है ॥ १६ ॥ वासनाओं में फँस कर वह सैकड़ों योनियों में जाता रहता है और मछली के घूमने के समान सर्वत्र भटकता रहता है ॥ १७ ॥ फिर काल प्रभाव से वह विवेक और आत्मज्ञान को प्राप्त होकर उत्तरामुख होकर एक दर्जा से दूसरे दर्जा को प्राप्त होता जाता है ॥ १८ ॥ तब वह अपने प्राणों को मूर्धा में धारण करके योगाभ्यास में प्रवृत्त होता है । योग से ज्ञान और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है ॥ १९ ॥ जो

योगी सदैव ज्ञानयोग में संलग्न रहता है वह नष्ट नहीं होता। वह विकारों में भी सदैव शिव (ब्रह्मभाव) के दर्शन करता है। ऐसा विज्ञान-योगी सर्व विकारों से रहित ब्रह्म का अनन्य भाव से ध्यान करे। जिसको इस प्रकार ज्ञानयोग नही होता उसको सिद्धि प्राप्त नही होती ॥ २०—२१ ॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनःप्राणान्निरोधयेत् ।
योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत् ॥ २२ ॥

शिखा प्राणमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः ।
ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः ॥ २३ ॥

क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम ।
अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धन विषये क्वचित् ॥ २४ ॥

इस प्रकार योग के अभ्यास द्वारा प्राणों से मन का निरोध करे मानो छुरी की पैनी धार से उसको काट दे। यम-नियम आदि अष्टाङ्ग योगसाधन से ज्ञानमयी शिखा उत्पन्न होती है। योग की दो श्रेणियाँ है—ज्ञानयोग और कर्मयोग ॥ २२—२३ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण! अब क्रिया (कर्म) योग के विषय मे बतलाते है कि जिसका चित्त व्याकुलता रहित होता है वह विषयों के बन्धन में नही पड़ता ॥ २४ ॥

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते ।
कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥ २५ ॥
बन्धनं मनसो नित्य कर्मयोगः स उच्यते ।
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ॥ २६ ॥
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः ॥ २७ ॥
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा ।

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥ २८॥
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
सर्ववस्तुन्युदासीनभाव आसनमुत्तमम् ॥ २९॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥ ३० ॥

इसी प्रकार संयोग भी दो प्रकार के होते हैं । शास्त्रानुकूल कर्मों में सदैव मन का निग्रह करते रहना कर्मयोग कहलाता है । चित्त को निरन्तर आत्म-कल्याण मे संलग्न रखना ज्ञानयोग है। इससे सब प्रकार की आत्मा सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त होती है । इस प्रकार दोनों तरह के योगों का जो निर्विकार भाव से करता है वह बिना विलम्ब मोक्ष रूपी परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है। देह और इन्द्रियों के प्रति सब प्रकार से वैराग्य भावना यम कहलाता है ॥ २५—२८ ॥ और परमतत्व में सदा अनुराग रखना नियम कहा गया है । सब वस्तुओं में उदासीन वृत्ति ही सर्वोत्तम आसन है ॥ २९ ॥ जगत के मिथ्या स्वरूप को भली प्रकार समझ लेना प्राणायाम है। चित्त की अन्तर्मुखी वृत्ति ही प्रत्याहार है ॥ ३० ॥

चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥ ३१ ॥
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य दयाऽऽर्जवम् ॥ ३२ ॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।
तपस्सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥ ३३ ॥
वेदान्तश्रवणंचैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥

आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज ॥ ३४ ॥
वर्ण्यंते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि ।
पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे कृत्वाऽऽसनमुदीरितम् ॥ ३५ ॥

चित्त को निश्चल बना लेना धारणा है और मैं चिन्मात्र रूप हूँ—यह भावना ध्यान है ॥ ३१ ॥ ध्यान का भी पूर्णतः विस्मरण कर देना समाधि है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, मिताहार और शुद्धता—ये दश नियम है । तप, संतोष, अस्तिकता, दान, भगवत्-आराधन, वेदान्त-श्रवण, ह्री और जप को व्रत कहा जाता है । अब स्वस्तिक आदि आसन और उनकी विधि को बतलाते हैं ॥३२—३४॥ दोनों पैरों के तलुओं को दोनों घुटनों के बीच में करके बैठना स्वास्तिक आसन है ॥ ३५ ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फ तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्य गोमुगं गोमुखं यथा ॥ ३६ ॥
एकं चरणमन्यस्मिन्नूरावारोप्य निश्चलः ।
आस्ते यदिदमेनोघ्नं वीरासनमुदीरितम् ॥ ३७ ॥
गुद नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ ३८ ॥
ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ३९ ॥
पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदंगुष्ठद्वयं पुनः ।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥ ४० ॥

पीठ के बांई ओर दाहिने गुल्फ को और दांयी ओर बाँये गुल्फ को लगाने से जो गौ के मुख की तरह होता है वही गोमुख आसन होता है ॥ ३६ ॥ एक चरण को बांयी जाँघ पर और दूसरे को दाहिनी जाँघ पर रखने से वीरासन होता है ॥ ३७ ॥ दाहिनी

ऐड़ी को गुदा के बाँयी तरफ और बाँयी ऐड़ी को गुदा के दाहिनी तरफ लगाकर बैठे तो वह योगासन कहा जाता है ॥ ३८ ॥ दोनों जाँघों पर दोनों पैर के तलवों को रखकर बैठने से पद्मासन होता है जो सब व्याधियों और विषों का नाशक बतलाया गया है ॥ ३९ ॥ पद्मासन पर अच्छी तरह से बैठकर दाहिने हाथ से बाँये पैर के अँगूठे को और बाँये हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ना बद्ध-पद्मासन कहलाता है ॥ ४० ॥

पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौं ।
निवेश्य भूमावातिष्ठेद्व्योमस्थः कुक्कुटासनः ॥४१॥
कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां संबध्य कन्धरम् ।
शेते कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ ४२ ॥
पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥ ४३ ॥
सीवनीं गुल्फदेशेभ्यो निपीड्य व्युत्क्रमेण तु ।
प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥ ४४ ॥
गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्युभयपार्श्वयोः ।
निवेश्य भूमौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत् ॥ ४५ ॥

पद्मासन पर अच्छी तरह बैठकर दोनों हाथों को जानु और और जंघाओं के बीच से निकालकर भूमि पर लगाकर शरीर को आकाश में अधर स्थित रखने से कुक्कुट-आसन होता है ॥ ४१ ॥ कुक्कुट आसन लगाकर दोनों भुजाओं से दोनों कंधों को बाँधकर कछुये के समान सीधा हो जाना उत्तान-कूर्मासन कहा जाता है ॥ ४२ ॥ दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़ कर धनुष के आकार में कानों तक खींचे तो यह धनुरासन होता है ॥ ४३ ॥ दोनों एड़ियों से सीवन-स्थान को विपरीत विधि से दबा कर दोनों घुटनों तथा हाथों

को फैलाकर स्थित होने को सिंहासन कहते हैं ॥ ४४ ॥ सीवन के दोनों तरफ दोनों एड़ियों को रखकर हाथ पैरों को बाँधकर बैठने से भद्रासन होता है ॥ ४५ ॥

सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम् ॥ ४६ ॥
अवष्टभ्य धरां सम्यक्तलाभ्यां हस्तयोर्द्वयोः ।
कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत् ॥ ४७ ॥
समुन्नतशिरः पादो मयूरासनमिष्यते ।
वामोरुमूले दक्षांघ्रि जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥ ४८ ॥
वामेन वामांगुष्ठं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् ।
योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ॥ ४९ ॥
ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् ।
प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामंगुष्ठमादरात् ॥ ५० ॥
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं तानमुच्यते ।
येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते ॥ ५१ ॥
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् ।
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ॥ ५२ ॥

सींवन के दोनो पार्श्वों को दोनों एडियों से विपरीत रीति से दबाकर बैठने से मुक्तासन होता है ॥ ४६ ॥ दोनो हथेलियों को भूमि पर स्थापित करके दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों तरफ लगावे, फिर मोर की तरह सब शरीर को अधर करके सिर और पैरों को ऊपर की तरफ उठाये रहने से मयूरासन होता है। बाँई जाँघ की जड़ में दाहिने पैर को रखे और फिर बाँये घुटने को हाथ से लपेटकर उसी पैर के अँगूठे को पकड़े तो यह मत्स्येन्द्र आसन होता है। बाँये पैर की एड़ी को सींवन पर लगाये और दाहिने पैर को

उपस्थ के उपर रखे, इस प्रकार सीधा शरीर करके बैठने को सिद्धासन कहते है। दोनों पैरों को जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के अँगूठों को पकडले और फिर सिर को घुटनों पर लगावे, यह पश्चिमोत्तान आसन होता है। जिस प्रकार बैठने से सुख और स्थिरता प्राप्त हो उसी प्रकार बैठने को सुखासन कहते है। जो व्यक्ति असमर्थता के कारण अन्य आसनों को न लगा सके वह इसको लगावे। जिसने आसन को जीत लिया उसने तीनों लोकों को जीत लिया ॥ ४६—५२ ॥

यमैश्च नियमैश्चैव ह्यासनैश्च सुसंयतः ।
नाडीशुद्धिं च कृत्वाऽऽदौ प्राणायामं समाचरेत् ॥५३॥
देहमानं स्वांगुलिभिः षण्णवत्यंगुलायतम् ।
प्राणः शरीरादधिको द्वादशांगुलमानतः ॥ ५४ ॥
देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वह्निना ।
न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्ब्रह्मविदिष्यते ॥ ५५ ॥
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ।
त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरश्रं चतुष्पदाम् ॥ ५६ ॥
वृत्तं विहङ्गमानां तु षडश्रं सर्पजन्मनाम् ।
अष्टाश्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवांगुलम् ।
चतुरंगुलमुत्सेधं चतुरंगुलमायतम् ॥ ५७ ॥
अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम् ।
तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते ॥ ५८ ॥
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्णवादिमूर्तयः ।
अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥ ५९ ॥
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तमः ।
स ा यथा भ्रमति लूतिका ॥ ६० ॥

यम, नियम और आसन द्वारा भली प्रकार नाड़ी-शोधन करके प्राणायाम करे ।। ५३ ।। मानव-देह का प्रमाण अपनी अँगुलियों से छियानवे अँगुल का है। शरीर से प्राण बारह अँगुल अधिक प्रमाण वाला होता है ।। ५४ ।। देह में स्थित वायु को देहस्थ अग्नि के योग द्वारा न्यून और सम करने से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जाता है ।। ५५ ।। मानव-देह के मध्य मे तप्त सुवर्ण की प्रभा वाला तीन कोणयुक्त अग्नि का स्थान होता है। चार पैर वाले पशुओं में यह अग्नि स्थान चार कोने का होता है। पक्षियों का गोल, सर्प-जाति वालों का छः कौने और स्वेदजो का आठ कौने वाला होता है । मानव-देह में उस स्थान पर नौ अँगुल प्रमाण का एक कन्द रहता है जो दीपक के समान प्रकाशित होता है । वह चार अँगुल ऊंचा और चार अंगुल चौडा होता है ।। ५६—५७ ।। तिर्यक, पक्षी और चौपायों मे यह कन्द अण्डाकार होता है और उसका मध्यस्थान नाभि कहा जाता है ।। ५८ ।। इसमे बारह आरे वाला चक्र है जिसमे विष्णु आदि देवों की मूर्तियाँ है। इस चक्र को मै (ब्रह्म) अपनी माया से फिराता रहता हूँ ।। ५९ ।। इन बारह आरों में जीव इस प्रकार घूमता रहता है जैसे मकड़ी अपने जाले मे फिरती है ।। ६० ।।

प्राणाधिरूढश्चरति जीवस्तेन विना न हि ।
तस्योर्ध्वे कुण्डलीस्थान नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ।। ६१ ।।

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता ।
यथावद्वायु संचार जलान्नादि च नित्यशः ।। ६२ ।।

परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्येव सदा स्थिता ।
मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं यथा ।। ६३ ।।

योगकालेन मरुता साग्निना बोधिता सती ।

स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥ ६४ ॥
अपानाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता ।
देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥ ६५ ॥

जीव प्राण पर आरूढ़ होकर ही भ्रमण करता है, उसके बिना नहीं कर सकता । उसके ऊपर कुण्डलिनी का तिरछा और ऊँचा स्थान है ॥ ६१ ॥ वह अष्ट प्रकृतिरूपा आठ प्रकार की कुण्डली करके कन्द को घेरे हुये है और वायु तथा अन्न-जल के सञ्चार को रोकती रहती है । उसने ब्रह्मरंध्र के मुख को अपने मुख से ढका हुआ है ॥ ६२—६३ ॥ योगाभ्यास द्वारा यह कुण्डलिनी शक्ति पवन द्वारा जागृत अग्नि के समान हृदयाकाश में नाग रूप से अत्यन्त उज्ज्वल स्फुरित होती है ॥ ६४ ॥ अपान से दो अँगुल ऊपर और मेढ्र से नीचे, मानव-देह का मध्य भाग माना जाता है । चौपायों का मध्य भाग उनके हृदय-स्थान में होता है ॥ ६५ ॥

इतरेषां तुन्द मध्यं नानानाडीसमावृतम् ।
चतुष्प्रकारद्व्ययुते देहमध्ये सुषुम्नया ॥ ६६ ॥
कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ।
पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ६७ ॥
ब्रह्मणो विवरं यावद्विद्युदाभासनालकम् ।
वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥ ६८ ॥
इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते ।
इडा समुत्थिता कन्दाद्वामनासापुटावधिः ॥ ६९ ॥
पिङ्गला चोत्थिता तस्माद्दक्षनासापुटावधिः ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते ॥७०॥
पुरतः पृष्ठतस्तस्याः वामेतरदृशौ प्रति ।
पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते ॥ ७१ ॥

सव्येतरश्रु त्यवधि पायु मूलाद्वलम्बुसा ।
अधोगता शुभा नाडी मेढ्रान्तावधिरायता ।। ७२ ।।

अन्य प्राणियों का मध्य भाग नाभि के मध्य में होता है । प्राण और अपान से संयुक्त सुषुम्ना नाड़ी देह में चार प्रकार से प्रकाशित होती है ।। ६६ ।। कन्द के मध्य भाग में जो सुषुम्ना-नाड़ी स्थिति है, वह पद्मसूत्र के समान अत्यन्त सूक्ष्म है और सीधी ऊपर की तरफ गई है ।। ६७ ।। ब्रह्मरंध्र तक जाने वाली यह "वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी" विद्यु त के समान प्रकाशयुक्त और निर्वाण प्राप्त कराने वाली है ।। ६८ ।। उसके अगल-बगल मे इड़ा और पिङ्गला नाड़ियाँ स्थित हैं । इड़ा कन्द से निकलकर बाँये नासापुट तक गई है और पिङ्गला दाँये नासापुट तक । गान्धारी और हस्तजिह्वा दो अन्य नाडियाँ भी वहाँ है जो उनके आगे-पीछे बाँयी और दांयी आँख तक गई है । पूषा और यशस्विनी दो नाडियाँ गुदा मूल से निकलकर दाँये और बाँये कान तक गई है । अलम्बुसा नाम की नाड़ी मेढ़ स्थान के अन्त तक नीचे की ओर गई है ।। ६९—७२ ।।

पादांगुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी ।
दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसंभवाः ।। ७३ ।।

तन्मूला बहवो नाड्यः स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडिकाः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः ।। ७४ ।।

संख्यातु नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः ।
यथाऽश्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा ।। ७५ ।।
प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।। ७६ ।।
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः ।
प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ।। ७७ ।।

प्राण एवाथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं बिभर्ति यः ।
आस्यनासिकयोर्मध्य हृदयं नाभिमण्डलम् ॥ ७८ ॥
पादांगुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम ।
अपानश्चरति ब्रह्मन् गुदमेढ्रोरुजानुषु ॥ ७९ ॥
समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः ।
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ॥ ८० ॥

कन्द से पैर के अँगूठे तक कौशिकी नाम वाली नाड़ी गई है। इस प्रकार ये दश नाड़ियाँ कन्द से निकली हुई कही गई हैं ॥ ७३ ॥ उनसे निकलने वाली अन्य बहुत सी स्थूल और सूक्ष्म नाडियाँ है, जिनकी संख्या सब मिलाकर बहत्तर हजार कही गई है ॥ ७४ ॥ इन स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों की गिनती कर सकना कठिन है, वे उसी प्रकार फैली हुई हैं जिस प्रकार पीपल के पत्ते में नसें फैली होती हैं ॥ ७५ ॥ प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय—ये दश वायु भी नाड़ियों में चलते रहते है। इनमें प्राण आदि प्रथम पाँच मुख्य है, अथवा दो (प्राण और अपान) मुख्य है अथवा प्राणवायु ही सबसे मुख्य है जो जीव को धारण किये रहता है। हे द्विज श्रेष्ठ ! प्राण के मुख्य स्थान पाँच है—मुख, नासिका का मध्य भाग, हृदय, नाभि-मण्डल और पैर का अँगूठा। अपान, गुदा, मेढ्र, जङ्घा और घुटने में चलता है। समान वायु सब अङ्गों में व्याप्त रहता है और उदान चारों हाथ पैरों और सब संधि स्थानों में स्थित है ॥ ७६—८० ॥

व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च ।
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ॥ ८१ ॥
तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादि च समीकृतम् ।
तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥ ८२ ॥

इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक्स्थितः ।
अपानवायुर्मूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥ ८३ ॥
प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना ।
उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता ॥ ८४ ॥
पोषणादि शरीरस्य समानः कुरुते सदा ।
उद्गारादिक्रियो नागः कूर्मोऽक्ष्यादिनिमीलनः ॥ ८५ ॥

व्यान नामक वायु श्रोत्र, जङ्घा, कमर, एडी, कन्धा, गला में रहता है तथा नाग आदि पाँच उपवायु त्वचा, अस्थि आदि में स्थित है ॥ ८१ ॥ आमाशय में स्थित जल, अन्न रसादिक को प्राणवायु एकत्र करके फिर पृथक-पृथक करता है ॥ ८२ ॥ इन कार्यों को प्राणवायु पृथक रह कर करता है। मल और मूत्र के विसर्जन का कार्य अपान-वायु द्वारा होता है ॥ ८३ ॥ प्राण, अपान वायुओं की चेष्टाऐं व्यान वायु के योग से की जाती हैं और शरीरस्थ उदान से ऊर्ध्वगामी हुआ जाता है ॥ ८४ ॥ शरीर का पोषण सदैव समान वायु द्वारा होता है। डकार आदि क्रिया नाग से होती है और आँखों का खोलना बन्द करना कूर्म का कार्य है ॥ ८५ ॥

कृकरः क्षपयोः कर्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् ।
मृतगात्रस्य शोभादि धनंजय उदाहृतः ॥ ८६ ॥
नाडीभेदं मरुद्भेदं मरुतां स्थानमेव च ।
चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैवं द्विजसत्तम ॥ ८७ ॥
शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः ।
विविक्तदेशमास्थाय सर्वसंबन्धवर्जितः ॥ ८८ ॥
योगाङ्गद्रव्यसंपूर्णे तत्र दारुमये शुभे ।
आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः ॥ ८९ ॥

तावदासनमुत्सेधे तावद्द्वयसमायते ।
उपविश्यासनं सम्यक्स्वस्तिकादि यथारुचि ॥ ९० ॥

भूख लगाना कृकर का, निद्रा आदि देबदत्त का और मृत शरीर की शोभा आदि धनञ्जय वायु का कार्य है ॥ ८६ ॥ हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! नाड़ी, वायु, प्राणों के स्थान और चेष्टायें विविध प्रकार की है, उनको जानना चहिये ॥ ८७ ॥ जब पूर्वोक्त विधि से नाडियों को शुद्ध करले तब सब प्रकार के सम्बन्धों को त्याग कर एकान्त स्थान में, सब प्रकार की योग-साधन में आवश्यक सामग्री लेकर लकड़ी की बनी कुटी में दर्भ, कुशा और मृग चर्म का आसन प्रस्तुत करे ॥ ८८—८९ ॥ जब तक दोनों तरफ के अङ्ग समान न हो जाँय तब सक आसन-साधन करता रहे । इसके लिये आसन स्थान पर बैठकर अपनी रुचि के अनुसार स्वास्तिक आदि कोई-सा भी आसन लगाता रहे ॥ ९० ॥

बद्ध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकाय: समाहित: ।
नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥ ९१ ॥
रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामय: ।
आकुञ्चितशिर: किंचिन्निबध्नन्योगमुद्रया ॥ ९२ ॥
हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत् ।
रेचनं पूरणं वायो: शोधनं रेचनं तथा ॥ ९३ ॥
चतुर्भि: क्लेशनं वायो: प्राणायाम उदीर्यते ।
हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम् ॥ ९४ ॥
शनै: शनैरथ बहि: प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम् ।
इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्षोडशमात्रया ॥ ९५ ॥
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतु:षष्ट्या तु मात्रया ।

द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम् ॥ ९६ ॥

पहले आसन लगा कर, शरीर को सीधा रख कर, नासाग्र पर दृष्टि रखते, दाँतों को दाँतों से स्पर्श न करते हुये, जिह्वा को तालु में रखकर, स्वस्थ चित्त और निरामय भाव से, शिर को आकुंचित करके, योगमुद्रा में हाथों को बाँधकर विधिपूर्वक प्राणायाम करे। रेचक, पूरक, वायु का शोधन तथा रेचक करे ॥ ९१—९३ ॥ इन चार विधियों से वायु को चलाने से प्राणायाम कहते है। दाहिने हाथ से नासापुटो को दवा कर पिङ्गला (दांयी नासिका) से वायु को बाहर निकाले। फिर सोलह मात्रा से वायु को भीतर खीचे और चौसठ मात्रा में कुम्भक करे और बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिङ्गला द्वारा बाहर निकाल दे ॥ ९६ ॥

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु।
संपूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ॥ ९७ ॥

पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना।
एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥ ९८ ॥

हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम्।
तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम् ॥ ९९ ॥
प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ १०० ॥

इस प्रकार बारम्बार क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करे और देह के भीतर भरे वायु को कुम्भ के समान रोके ॥ ९७ ॥ इससे सब नाडियाँ वायु से भर जाती है और उनमें दशों वायु भली प्रकार चलने लगते है ॥ ९८ ॥ तब हृदयरूपी कमल विकसित होकर स्पष्ट हो जाता है और वहाँ भगवान वासुदेव के दर्शन होने लगते हैं

॥ ९९ ॥ इस विधि से प्रातः, मध्याह्न, सायं और आधीरात को चार बार कुम्भक करे और उसे क्रमशः अस्सी मात्रा तक पहुँचा दे ॥ १०० ॥

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः ॥ १०१ ॥
योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः ।
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत् ॥ १०२ ॥
अपमृत्युमपक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात् ।
प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामेषु सोऽधमः ॥ १०३ ॥
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः ।
उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥ १०४ ॥
अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः ।
पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥ १०५ ॥
अल्पमूत्रोऽल्पविष्ठश्च लघुदेहो मिताशनः ।
पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥ १०६ ॥

इस विधि से एक दिन अभ्यास करने से ही सब पापों से छुटकारा हो जाता है और तीन वर्ष तक इस प्रकार प्राणायाम करने वाला योग सिद्ध हो जाता है । वह योगी वायु को जीतने वाला, जितेन्द्रिय, अल्प आहार, स्वल्प निद्रा वाला, तेजस्वी तथा बलवान होता है। अकाल मृत्यु का भय मिटकर दीर्घ आयु प्राप्त होती है। जिस प्राणायाम में पसीना आता है वह अधम है, जिसमें शरीर में कँपकँपी होती है वह मध्यम है और जिसमें शरीर ऊपर को उठता है वह उत्तम है ॥ १०१—१०४ ॥ अधम प्राणायाम से व्याधि और पापों का नाश होता है; मध्यम से महाव्याधियाँ, पाप तथा रोग मिट जाते हैं, उत्तम से अल्प-मूत्र, अल्प-मल, शरीर की लघुता,

अल्प भोजन होता है; इन्द्रियाँ और बुद्धि तीव्र हो जाती है और तीनों काल का ज्ञाता हो जाता है ॥ १०५—१०६ ॥

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः ।
करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥ १०७ ॥
नाभिकन्दे च नासाग्रे पादांगुष्ठे च यत्नवान् ।
धारयेन्मनसा प्राणान्सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥ १०८ ॥
सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः ।
कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥ १०९ ॥
नासाग्रधारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवः ।
ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया ॥ ११० ॥
पिवतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत् ।
अभ्यस्यतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥ १११ ॥

जो रेचक और पूरक को छोड़कर केवल कुम्भक ही करने लगता है उसके लिये तीनो काल मे कुछ भी कठिन नही रहता ॥ १०७ ॥ प्रयत्नशील साधक नाभिकन्द, नासाग्र और पैर के अंगूठे मे सदैव, संध्या समय मन द्वारा प्राण को धारण करे ॥ १०८ ॥ ऐसा साधक सब रोगों से छूटकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है । नाभिकन्द में प्राण-धारण करने से कुक्षि रोग नष्ट होते है ॥ १०९ ॥ नासाग्र मे धारण करने से दीर्घायु और देह की लाघवता प्राप्त होती है । ब्राह्म मुहूर्त मे जिह्वा से वायु को खीच कर पीने से तीन मास में वाक्य-सिद्धि प्राप्त होती है और छः मास में महारोग से छुटकारा मिल जाता है ॥ ११०—१११ ॥

यत्रयत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते ।
धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते ॥ ११२ ॥

मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत् ।
मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥ ११३ ॥

करणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत् ॥ ११४ ॥

बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम् ।
युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः ॥ ११५ ॥

शरीर का जो अङ्ग रोग पीडित हो तो उसमें वायु को धारण करने से वह दूर हो जाता है ॥ ११२ ॥ मन की धारणा हो जाने से वायु की धारणा भी होने लगती है। मन को स्थित करने के लिये प्राण को साधन बतलाया गया है ॥ ११३ ॥ इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपान वायु को ऊपर खेंचकर ऊपर ही धारण करे, कानों को हाथों से बन्द किये रहे। इस साधन से मन वश में हो जाता है ॥ ११४—११५ ॥

मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा ।
नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्वते ॥ ११६ ॥

तिस्रश्च नाडिकास्तासु स यावन्तश्चरत्ययम् ।
शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम् ॥ ११७ ॥

तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति संततम् ।
इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः ॥ ११८ ॥

अहश्च रात्रिं पक्षं च मासं मत्वायनादिकम् ।
अन्तर्मुखो विजानीयात् कालभेदं समाहितः ॥ ११९ ॥

अंगुष्ठादिस्वावयवास्फुरणादर्शनैरपि ।
अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥ १२० ॥

इस प्रकार मन पर अधिकार हो जाने से प्राणवायु नियमित

हो जाता है और नासिका से क्रमपूर्वक आता जाता रहता है ॥ ११६ ॥ तीन नाडियाँ है। प्राणायाम करने वाले योगियों का स्वांस दाँये और बाँये नासापुट से समान समय तक चलता रहता है। इस प्रकार जिसका प्राणवायु क्रम से चलता है वह प्राणजित् हो जाता है। फिर वह दिन, रात्रि, पक्ष, मास, अयन आदि के काल-भेद को अन्तर्मुख होकर जानने लगता है ॥ ११७—११६ ॥ अंगूठा आदि अपने अवयवों मे स्फुरण (नाडियों का रक्त गति से फड़कना) बन्द हो जाने पर शीघ्र ही अपने जीवन अन्त होना समझ लेना चाहिये ॥ १२० ॥

ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः ।
पादांगुष्ठे करांगुष्ठे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥ १२१ ॥
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितव्यक्षयो भवेत् ।
मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥ १२२ ॥
षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत् ।
कूर्परास्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः ॥ १२३ ॥
कक्षे मेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलम्भने ।
मासावधिजीवितं स्यात् तदर्धं सत्त्वदर्शने ॥ १२४ ॥
आश्रिते जठरे द्वारे दिनानि दश जीवितम् ।
ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्धं तस्य जीवितम् ॥ १२५ ॥

इस प्रकार अनिष्ट सूचक संकेतों को जानकर योगी को मोक्ष-साधन में ध्यान लगाना चाहिये। जिसके पैर तथा हाथ के अंगूठों में स्फुरण न जान पड़े उसका जीवन एक वर्ष में समाप्त हो जाता है। मणिबन्ध (कलाई) और गुल्फ (टखना) का स्फुरण बन्द हो जाने पर छः महीने तक जीवित रहता है। जब कोहनी में स्फुरण न हो तो जीवन की अवधि-तीन मास रह जाती है

॥ १२१—१२३ ॥ अगर कुक्षि, उपस्थेन्द्रिय में स्फुरण न हो तो एक महीने में और नेत्रों में स्फुरण न हो तो पन्द्रह दिन में जीवन का अन्त हो जाता है ॥ १२४ ॥ जठर-द्वार पर स्फुरण न होने से जीवन की अवधि दस दिन रह जाती है और अगर ज्योति जुगनू के समान हो जाय तो पाँच ही दिन शेष रह जाते हैं ॥ १२५ ॥

जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः ।
ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम् ॥ १२६ ॥
एवमादीन्वरिष्टानि दृष्ट्वाऽऽयुःक्षारकारणम् ।
निःश्रेयसाय युञ्जीत जपध्यानपरायणः ॥ १२७ ।
मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात् ।
यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ॥ १२८ ॥
स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ।
पादांगुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च ॥ १२९ ॥
मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च ।
मेहनं देहमध्य च नाभिं च गलकूर्परम् ॥ १३० ॥
तालुमूलं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम् ।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्ध्वं च जानुनी ॥ १३१ ॥
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विजः ।
पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ॥ १३२ ॥

अगर जिह्वा दिखलाई पड़ना बन्द हो जाय तो तीन दिन का समय समझना चाहिये और ज्वाला का दिखाई देना बन्द हो जाय तो दो ही दिन समझना चाहिये ॥ १२६ ॥ ये सब अरिष्ट आयु के क्षय के कारण रूप हैं । इनको जानकर अपने कल्याणार्थ जप और ध्यान में संलग्न हो ॥ १२७ ॥ मन से परमात्मा का ध्यान करते हुये उसकी एकरूपता को प्राप्त होने का यत्न करे । शरीर के अठारह मर्म स्थानों में धारणा की जाती है ॥१२८॥ एक स्थान से दूसरे स्थान

को खींचना प्रत्याहार कहा जाता है। पैर का अंगूठा, एड़ी जाँघ का मध्यभाग उरु का मध्य, गुदा का मूल, हृदय, उपस्थ, देह का मध्य, नाभि, कंठ, कोहनी, तालु-मूल, नासिका का मूल, आँखों का मंडल, भौंहों का मध्य, ललाट, मस्तक का मूल, घुटने का मूल, हाथों का मूल स्थान—ये सब इस पञ्चभौतिक देह के मर्म स्थल हैं ॥ १२६—१३२ ॥

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः ।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥ १३३ ॥
आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते ।
पीतला चतुरस्रा च वसुधा वज्रलाञ्छिता ॥ १३४ ॥
स्मर्तव्या पञ्चघटिका तत्रारोप्य प्रभञ्जनम् ।
आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥ १३५ ॥
अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम् ।
स्मर्तव्यमम्भः श्वसनमारोप्य दशनाडिका ॥ १३६ ॥
आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम् ।
तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च ॥ १३७ ॥
स्मर्तव्या घटिका प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम् ।
नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै ॥ १३८ ॥
वेदिकाकारवद्धूम्रो बलवान्भूतमारुतः ।
स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम् ॥ १३९ ॥
घटिकाविंशतिस्तस्माद् घ्राणाद्ब्रह्मबिलावधि ।
व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ॥ १४० ॥

यमादि द्वारा मन का जो धारण करना है वही धारणा है जिससे मनुष्य संसार-सागर को पार करने में समर्थ होता है ॥ १३३ ॥ घुटना से पैर तक पृथ्वी-स्थान कहा जाता है, पीतवर्ण की

चारकोण वाली पृथ्वी वज्र-लंछिता है ॥ १३४ ॥ पाँच घड़ी तक वायु को धारण करके पृथ्वी का ध्यान करना चाहिये । घुटनों से कमर तक जल का स्थान कहा है ॥ १३५ ॥ इस जल स्थान का आकार आधे चन्द्रमा के समान है, वर्ण श्वेत है तथा चाँदी से लांछित है। इसमें दश घड़ी तक श्वांस रोककर जल का ध्यान करे ॥ १३६ ॥ कटि से देह के मध्य तक अग्नि-स्थान है। वह सिन्दूर के रङ्ग का है। उसमें पन्द्रह घडी प्राण को रोककर अग्नि का ध्यान करना चाहिये । नाभि से नासिका तक वायु का स्थान है, जिसका आकार वेदी के तुल्य है, धूम्रवत्, शक्तिशाली पवन का ध्यान बीस घड़ी तक कुम्भक द्वारा वायु को रोक कर करना चाहिये । नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाश स्थान है जिसकी नीले रङ्ग की प्रभा है ॥ १३९—१४० ॥

व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्नवान् ।
पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ १४१ ॥
अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये ।
अबंशे पूरयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः ॥ १४२ ॥
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे संकर्षणमतः परम् ।
व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत् ॥ १४३ ॥
अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युञ्जानस्य न संशयः ।
बद्ध्वा योगासनं पूर्वं हृद्देशे हृदयाञ्जलिः ॥ १४४ ॥
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि ।
दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ॥ १४५ ॥
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्धया ।
चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ॥ १४६ ॥

प्रयत्नशील साधक कुम्भक द्वारा वायु को आकाश में रोके । फिर पृथ्वी अंश वाले भाग में चतुर्भुज किरीटधारी अनिरुद्ध हरि का

ध्यान करे, जिससे योगी मुक्ति को प्राप्त करने में समर्थ होता है। जल वाले अंश मे नारायण का ध्यान करे, अग्नि के अंश में प्रद्युम्न का, वायु-अंश में संकर्षण का और आकाश वाले अंश में परमात्मा वासुदेव का ध्यान करे ॥ १४१—१४३ ॥ जो सदैव इस अभ्यास को करता रहता है उसको परमात्मा का साक्षात्कार शीघ्र ही हो जाता है। पहले योगासन पर बैठकर हृदय-प्रदेश में हृदय को स्थित करते हुये नासाग्र पर दृष्टि को स्थिर करे, जिह्वा को तालु में लगावे, ऊपर और नीचे के दाँतों का स्पर्श न होने दे, शरीर को ऊँचा करके समाहित होकर बैठे और शुद्ध आत्मबुद्धि से इन्द्रियों का संयम करता हुआ भगवान वासुदेव का चिन्तन करे ॥ १४४—१४६ ॥

स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ।
याममात्रं वासुदेवं चिन्त्ययेत्कुम्भकेन यः ॥ १४७ ॥
सप्तजन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः ।
नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्धृदयगोचरम् ॥ १४८ ॥
जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम् ।
सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् ॥ १४९ ॥
तुर्यातीतं परं ब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत् ।
जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद्ब्रह्मबिलान्तरम् ॥ १५० ॥
तत्रात्माऽयं तुरीयः स्यात् तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते ।
ध्यानेनैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले ॥ १५१ ॥
सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम् ।
हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विश्वरूपिणम् ॥ १५२ ॥

इस प्रकार अपने भीतर व्याप्त परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करने से कैवल्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक प्रहर तक

कुम्भक करते हुये जो भगवान वासुदेव का ध्यान करता है उसके सात जन्म के पाप विनष्ट हो जाते है। नाभिकन्द से लेकर हृदय-प्रदेश तक जागृत वृत्ति का स्थान है, स्वप्न वृत्ति कण्ठ में रहती है, सुषुप्ति तालु के मध्य मे और तुरीय भ्रकुटियो के मध्य मे स्थित है ॥१४७–१४९॥ तुर्यातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र मे परब्रह्म की ओर होता है। जागृत वृत्ति से लगाकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीय का आत्मा रहता है। इसके पश्चात् वह विष्णु कहलाता है। तब साधक अत्यन्त निर्मल आकाश मे हृदय-कमल पर आसीन करोडों सूर्य के समान प्रभा वाले नित्य उदयरूप विश्वरूप विष्णु का ध्यान करे ॥ १५०—१५२ ॥

अनेकाकारखचितमनेकवदनान्वितम् ।
अनेकभुजसयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥ १५३ ॥
नानावर्णधर देवं शान्तमुग्रमुदायुधम् ।
अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ १५४ ॥
ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति ।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥ १५५ ॥
कदम्बगोलकाकार तुर्यातीतं परात्परम् ।
अनन्तमानन्दमय चिन्मय भास्कर विभुम् ॥ १५६ ॥
निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम् ।
ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥ १५७ ॥

उन नाना आकार वाले, अनेक मुखों वाले, अनेक भुजाओं वाले, अनेक आयुधों वाले, अनेक वर्ण वाले, देवरूप, शान्त, उग्र, आयुधों को उठाये हुये, अनेक नेत्रयुक्त, करोड़ों सूर्यों की प्रभा वाले विश्वरूप विष्णु का ध्यान करने से योगी की सब मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। हृदय-कमल के मध्य स्थान में स्थित चैतन्य, ज्योतिरूप, अव्यय, कदम्ब के समान गोलाकार, तुर्यातीत, परात्पर, अनन्त,

आनन्दमय, चिन्मय, प्रकाशमान, निर्वात स्थान में स्थित दीपक के समान अकृत्रिम मणि की प्रभा वाले परब्रह्म का ध्यान करने से मुक्ति योगी के करतलगत रहती है ॥१५३—१५७॥

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि ।
स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे ॥ १५८ ॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते ।
अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥ १५९ ॥
जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि ।
अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥ १६० ॥
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।
ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत् ॥ १६१ ॥
एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा ।
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥ १६२ ॥
ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसयुतः ।
शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥ १६३ ॥
मोहजालकसंघातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ॥ १६४ ॥
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते ॥
इत्युपनिषत् ॥

विश्व-रूप देव का जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म अथवा अन्य प्रकार का रूप है उसका अपने हृदय-कमल मे जो योगी ध्यान करता है वह साक्षात् उन्हीं के रूप का हो जाता है और अणिमादि सिद्धियों के फल को अनायास ही पा लेता है ॥ १५८—१५९ ॥ जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस

स्थिति को पा लेना ही समाधि कहा जाता है । उसमें समस्त वृत्तियों का अन्त हो जाता है । जो योगी इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है वह पुनः संसार में नहीं आता ॥ १६०—१६१ ॥ इस प्रकार योगी तत्व का शोध करता हुआ निस्पृह चित्त से ईन्धन रहित अग्नि के समान स्वयं ही शान्त हो जाता है ॥ १६२ ॥ फिर उसके लिये कुछ ग्रहण करने योग्य नहीं रहता, उसका मन और प्राण सच्चे आत्म-ज्ञान से युक्त हो जाते हैं और उसका जीव शुद्ध परमात्म तत्व में जल में नमक के समान लय हो जाता है ॥ १६३ ॥ उसे यह मोह जाल में फँसा हुआ संसार स्वप्न की तरह दिखाई देने लगता है और वह पूर्ण निश्चल हो स्वभाव से ही सुषुप्ति की-सी अवस्था में रहने लगता है ॥ १६४ ॥ ऐसा योगी निर्वाण पद को प्राप्त कर कैवल्य स्थिति में रहता है । यह उपनिषद् है ।

॥ त्रिशिख ब्राह्मण उपनिषद् समाप्त ॥

अद्वयतारकोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-मादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है । पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शान्तिः शांतिः शांतिः ।

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामो यतये जितेन्द्रि-याय शमादिषड्गुणपूर्णाय ॥ १ ॥

चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन् सम्यङ्निमीलिताक्षः किंचिदुन्मीलिताक्षो वाऽन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयन् तद्रूपो भवति ॥ २ ॥

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् सतारयति तस्मा-त्तारकमिति । जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वय ब्रह्म ॥ ३ ॥

तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसंधानं कर्तव्यम् ॥ ४ ॥

[देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते । सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति । तन्मध्ये तटित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धाऽस्ति । तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविना-शद्वारा मुक्तो भवति.] फालोर्ध्वगललाटविशेषमण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत् सिद्धो भवति । तर्जन्य-ग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते

मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिस्स्थलं विलोक्य अन्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं प्राप्नोति । एवं हृदये पश्यति । एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम् ।। ५ ।।

ॐ। अब अद्वयतारक उपनिषद् का कथन करते हैं जो संन्यासी, जितेन्द्रिय तथा शम-दम आदि षट गुणों से युक्त साधकों के लिये है ।। १ ।। आँखें बन्द अथवा अधखुली रख कर अन्तर दृष्टि से भ्रकुटियों के ऊपर के स्थान में "मै चित् स्वरूप हूँ" इस प्रकार का भाव निरन्तर रखते हुये सच्चिदानन्द, तेज स मूह रूप परब्रह्म की झाँकी करने से परब्रह्म रूप हो जाता है ।। २ ।। जो गर्भ, जन्म, जरा, मरण, संसार आदि महान पापों से तारता है उसे तारकब्रह्म कहा जाता है। जीव और ईश्वर को मायिक जानते हुये अन्य सब को 'नेति-नेति' कहते हुये जो कुछ शेष बचता है वही अद्वय ब्रह्म है ।। ३ ।। उसकी सिद्धि के लिये तीन लक्ष्यों का अनुसंधान करना उचित है ।। ४ ।। देह के मध्य में सुषुम्ना नाम की ब्रह्मनाड़ी पूर्ण चन्द्रमा के समान प्रकाश वाली उपस्थित है; वह मूलाधार से आरम्भ होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। इस नाड़ी के मध्य में करोड़ों बिजलियों के समान तेज वाली, मृणाल के सूत्र की तरह सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति प्रसिद्ध है। इसका मन के द्वारा दर्शन करने से मनुष्य सब पापों से छूट कर मुक्त हो जाता है। ललाट के ऊपर विशेष मण्डल में स्फुरित होने वाले तेज को तारक ब्रह्म के योग से सदैव देखता रहता है वह सिद्ध हो जाता है। दोनों कानो के छेदों को तर्जनी अँगुलियों के अग्रभाग से बन्दकर लेने पर फुत्कार का शब्द सुनाई देता है। उसमें मन को स्थित करके चक्षुओं के मध्य नीली ज्योति के स्थल को अन्तःदृष्टि से देखने पर अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार का दर्शन हृदय में भी किया जाता है। इस प्रकार के अन्तर्लक्षणों का मोक्षाभिलाषी पुरुष को अभ्यास करना चाहिये ।। ५ ।।

अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणम्। नासिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिरष्टभिः दशभिः द्वादशभिः क्रमात् अंगुलान्ते नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेत व्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति । चलदृष्टया व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्टयग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते । तद्दर्शनेन योगी भवति । तप्तकाञ्चनसंकाशज्योतिर्मयूखा अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति तद्दृष्टिः स्थिरा भवति । शीर्षोपरि द्वादशांगुलसमीक्षितुः अमृतत्वं भवति । यत्र कुत्र स्थितस्य शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टं चेत् स तु योगी भवति ॥ ६ ॥

अथ मध्यलक्ष्यलक्षण प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवत् वह्निज्वालावलीवत् तद्विहीनान्तरिक्षवत् पश्यति । तदाकाराकारितया अवतिष्ठति । तद्भूयोदर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति । विस्फुरत्तारकाकारदीप्यमानगाढतमोपमं परमाकाशं भवति । कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति । सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति । कोटिसूर्यप्रकाशवैभवसंकाशं सूर्याकाशं भवति । एव बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम् । तद्दर्शी विमुक्तफलस्तादृग्व्योमसमानो भवति । तस्मात् तारक एव लक्ष्य अमनस्कफलप्रदं भवति ॥ ७ ॥

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धं तारकं उत्तरार्धं अमनस्कं चेति । तदेष श्लोको भवति—

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः ।
पूर्वं तु तारकं विद्यात् अमनस्कं तदुत्तरमिति ॥ ८ ॥

अब बाह्य लक्ष्य के लक्षणों पर विचार करते हैं—नासिकाग्र से क्रमशः चार, छः, आठ, दश या बारह अँगुल की दूरी पर नील और श्याम रङ्ग का-सा रक्त भृङ्ग के वर्ण का प्रकाश, जो पीत शुक्ल वर्ण से भी युक्त होता है, उसे जो आकाश में देखता है वह योगी

होता है । चलती हुई दृष्टि से आकाश मे देखने से ज्योति किरणें दिखलाई देती हैं, उनको देखने वाला योगी होता है ! जब नेत्रों के कौने में तप्त सुवर्ण के समान ज्योति मयूख का दर्शन होता है तो दृष्टि स्थिर हो जाती है । मस्तक के ऊपर बारह अँगुल की दूरी पर ज्योति को देखने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है । चाहे जिस स्थान पर स्थित शिर के ऊपर जो व्योम ज्योति को देखता है वह योगी होता है ।। ६ ।। इससे आगे मध्य लक्ष के लक्षण कहते है—प्रातः समय चित्रादि वर्ण युक्त अखण्ड सूर्य चक्रवत्, अग्नि की ज्वाला के सदृश्य और उनसे रहित अन्तरिक्ष के तुल्य देखता है, उनके आकार का होकर स्थिर रहता है, उसके दर्शन से फिर निर्गुण 'आकाश' हो जाता है । चमकने वाले तारे से प्रकाशित और प्रातःकाल के अँधेरे के समान 'परमाकाश' होता है । 'महाकाश' कालानल के समान प्रकाशयुक्त होता है । 'तत्वाकाश' सबसे उत्कृष्ट प्रकाश और प्रखर ज्योति वाला होता है । 'सूर्याकाश' करोडो सूर्यो के प्रकाश के समान होता है । इस प्रकार बाहर और भीतर स्थित ये पाँच आकाश तारक का लक्ष्य है । इस विधि से आकाश को देखने वाला उसीके समान बन्धनमुक्त हो जाता है । तारक का लक्ष्य ही अमनस्क फल प्रदान करने वाला होता है ।। ७ ।। इस प्रकार यह तारक-योग दो प्रकार का होता है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध । इस विषय में यह श्लोक कहा है—"यह योग दो प्रकार का है—पूर्व और उत्तर । पूर्व को तारक कहा जाता है और उत्तर को अमनस्क ।" ।। ८ ।।

अक्ष्यन्तस्तारयोः चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति । तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनम् । अत्राप्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत्,तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात् । तस्मात् अन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः ।। ९ ।।

तत्तारकं द्विवि : मूर्तितारकं अमूर्तितारकं चेति । यत् इन्द्रियान्तं तत् मूर्तिमत् । यत् भ्रूयुगातीतं तत् अमूर्तिमत् । सर्वत्र अन्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते । तारकाभ्यां तदूर्ध्वस्थसत्त्वदर्शनात् मनोयुक्तेन अन्तरीक्षणेन सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मैव । तस्मात् शुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम् । तद्ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषा अन्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति । एव अमूर्तितारक-मपि । मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्य भवति, रूपग्रहण-प्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वात् बाह्यवदान्तरेऽपि आत्ममनश्चक्षुः संयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात् । तस्मात् मनोयुक्ता अन्तर्दृष्टिः तारकप्रकाशाय भवति ॥ १० ॥

हम आंख के तारक (पुतलियों) से सूर्य और चन्द्र को देखते है। जिस प्रकार हम नेत्र के तारको से बाह्य ब्रह्माण्ड के सूर्य और चन्द्र के दर्शन करते हैं उसी प्रकार अपने सिर रूप ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित सूर्य और चन्द्र का निश्चय करके उनका दर्शन करना चाहिये और दोनों को एक ही समझकर मन से उनका ध्यान करना चाहिये। क्योंकि यदि मन को इस भाव में युक्त न किया जायगा तो इन्द्रियाँ विपयों मे प्रवृत्त होने लगेंगी। इसलिये साधक को अन्तर दृष्टि से तारक का ही अनुसंधान करना चाहिये ॥ ६ ॥ तारक दो प्रकार का होता है—मूर्त और अमूर्त । जो इन्द्रियों के अन्त में है, वह मूर्ति तारक है और जो दोनों भ्रकुटियों से बाहर है वह अमूर्ति है । अन्तः पदार्थो के विवेचन में सर्वत्र मन द्वारा अभ्यास करना चाहिये । सत्व-दर्शन युक्त मन से अन्तर मे निरीक्षण करने से दोनों तारकों के ऊर्ध्व भाग में सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का दर्शन होता है । इससे विदित होता है कि ब्रह्म शुक्ल तेजोमय है। उस ब्रह्म को मन सहित चक्षुओं की अन्तःदृष्टि से देखकर जानना। अमूर्ति तारक भी इसी विधि से मन संयुक्त नेत्रों से विदित होता है । रूप

दर्शन के विषय में मन चक्षुओं के आधीन रहता है और बाहर के समान भीतर भी रूप ग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही होता है। इसलिये मन सहित चक्षुओं से ही तारक का प्रकाश जाना जाता है ॥ १० ॥

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टि तद्द्वारा ऊर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति । तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानतया किंचिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत् । इति पूर्व-तारकयोगः । उत्तरं तु अमूर्तिमत् अमनस्कमित्युच्यते । तालु-मूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिमयूखो वर्तते । तत् योगिभिर्ध्येयम् । तस्मात् अणिमादिसिद्धिर्भवति ॥ ११ ॥

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति । तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासात् भूमिः पवित्रा भवति । तद्दृष्ट्या सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति । तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥ १२ ॥

अन्तर्लक्ष्यज्वलज्ज्योतिःस्वरूप भवति । परमगुरूपदेशेन सहस्रारज्वलज्ज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितचिज्ज्योतिर्वा षोडशान्त-स्थतुरीयचैतन्यं वा अन्तर्लक्ष्यं भवति । तद्दर्शन सदाचार्यमूलम् ॥ १३ ॥

तारक योग का लक्ष्य दोनो भ्रकुटियों के मध्य स्थान के ऊर्ध्वभाग मे स्थित तेज का दर्शन करना है । उसके सहित मन से तारक की सुयोजना करके प्रयत्नपूर्वक दोनों भौंहो को किंचित उच्च रखे । यह तारक-योग का पूर्व भाग है । दूसरे उत्तर भाग— अमूर्तिमान को अमनस्क कहते है । तालुमूल के ऊर्ध्वभाग में महाज्योति किरण मण्डल होता है । वही योगियों का लक्ष्य है । उसी से अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त होती है ॥ ११ ॥ जब साधक की अन्तर

और वाह्य लक्ष्य को देखने वाली दृष्टि स्थिर हो जाती है तब शांभवी मुद्रा होती है। इस मुद्रा से युक्त ज्ञानी के निवास करने की भूमि पवित्र मानी जाती है और सब लोग उसके दर्शन से पवित्र हो जाते है। जो कोई ऐसे परम योगी की पूजा करता है वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है ॥ १२ ॥ अन्तःलक्ष्य तरल ज्योति के रूप में हो जाता है । परम गुरु का उपदेश प्राप्त होने से सहस्रदल-कमल में तरल जल-ज्योति अथवा बुद्धि-गुहा में रहने वाली ज्योति अथवा सोलह कला के अन्त में स्थित तुरीय चैतन्य अन्तर्लक्ष्य होता है। यह सदाचारमूलक दर्शन है ॥ १३ ॥

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥ १४ ॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवंलक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥ १६ ॥
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः ।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥ १७ ॥
गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम् ।
यस्मात्तादुपदेष्टाऽसौ तस्माद्गुरुतरो गुरुरिति ॥ १८ ॥

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति । सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति । सर्वान् कामानवाप्नोति । सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ १९ ॥

वह सम्पन्न आचार्य, विष्णु भक्त, मत्सरता रहित, योगज्ञाता,

योगनिष्ठा वाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मा में विशेष रूप से लीन, इन लक्षणों से युक्त गुरु कहा जाता है। 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार और 'रु' का अर्थ है उसको रोकने वाला। अन्धकार को दूर करने से गुरु होता है। गुरु ही परब्रह्म है, गुरु ही परमगति है, गुरु ही पराविद्या है, गुरु ही परायण योग्य है, गुरु ही पराकाष्ठा है, गुरु ही परम धन है ॥ १४—१८ ॥ वह गुरु उपदेश करने वाला होने के कारण श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ है। इसका उच्चारण करने से संसार से छुटकारा हो जाता है; सब जन्मों के पाप तुरन्त नष्ट हो जाते है; सब कामनायें पूरी हो जाती हैं; सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते है। जो इस प्रकार जानता है, वही उपनिषद् का ज्ञाता है ॥ १९ ॥

॥ अद्वयतारक उपनिषद् समाप्त ॥

पाशुपतब्रह्मोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे पूज्य देवो! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुडदेव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करे! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः॥

पूर्वकाण्डः

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः॥१॥ वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति—जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन्॥ २॥

स्वयंभूरुवाच—कृत्स्नजगतां मातृका विद्या॥ ३॥ द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो

मम प्राणात्मिका देवता ॥ ४ ॥ अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः ॥ ५ ॥ मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि च ॥ ६ ॥ अहोरात्रादि-मतिसंवर्धिताः कालाः ॥ ७ ॥ मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्र ग्रहतेजांसि ॥ ८ ॥ गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपः नान्यो मदस्ति ॥ ९ ॥ तमोमायात्मको रुद्रः सात्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको ब्रह्मा । इन्द्रादयस्तामसराजसात्मिका न सात्विकः कोऽपि अघोरः साधारणस्वरूपः ॥ १० ॥

हरि ॐ । एक समय स्वयंभूब्रह्मा के मन में इच्छा हुई कि "मैं प्रजा उत्पन्न करूँ" तो कामनाओं के पूर्ण करने वाले रुद्र और कुवेर की उत्पत्ति हुई ॥ १ ॥ तब कुवेर और बालखिल्य ऋषि ने स्वयंभू से पूछा—जगत में विद्या क्या है ? जाग्रत और तुरीयअवस्था के देवता कौन हैं ? जगत किसके वश में है, काल का क्या प्रमाण है ? सूर्य चन्द्रादि किस की आज्ञा से प्रकाशित होते हैं ? आकाश के समान विशाल किस की महिमा है ? हम इन बातों को जानना चाहते हैं, आपके सिवाय कोई इनका जानने वाला नही है, अतएव इन बातों को बतलाइये ॥ २ ॥ स्वयंभू ने कहा—जगत की मातृका वर्णमाला रूप माता विद्या है ॥ ॥ ३ ॥ वह दो वर्ण (हंस) और तीन वर्ण (प्रणव) वाली है । दो वर्ण वाली भी तीन वर्ण की (प्रणव) ही है । चार मात्रा वाला ॐकार मेरा प्राण रूप देव है ॥ ४ ॥ तीनों लोकों का मैं ही एकमात्र पति हूँ ॥ ५ ॥ समस्त युग मेरे वश में रहते हैं ॥ ६ ॥ मुझसे ही दिन-रात्रि आदि काल उत्पन्न हुये हैं ॥ ७ ॥ सूर्य का तेज और चन्द्रमा, तारागण, ग्रह आदि में जो ज्योति है वह मेरी ही है ॥ ८ ॥ यह आकाश मेरी तीन शक्तिशाली माया रूप है और मेरे सिवाय कहीं कुछ नहीं है ॥ ९ ॥ रुद्र-तमोगुणी माया रूप है; विष्णु सतोगुणी माया रूप है और ब्रह्मा रजोगुणी माया रूप हैं । इन्द्रदि देव रजोगुण और तमोगुण दोनों से युक्त हैं,

इनमें से कोई सात्विक नहीं है । केवल अघोर (शिव) ही सर्व सामान्य रूप के हैं ॥ १० ॥

समस्तयागानां रुद्रः पशुकर्ता रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुङ् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म ॥११॥

मानसो हंसःसोऽहं हंस इति तन्मयं यज्ञो नादानुसंधानम् । तन्मयविकारो जीवः ॥ १२ ॥

परमात्मस्वरूपो हंसः । अन्तर्बहिश्चरति हंसः । अन्तर्गतोऽनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः ॥ १३ ॥

षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतद्ग्रन्थिः ॥ १४ ॥ यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥ १५ ॥

उपवीतलक्षणसूत्र ब्रह्मगा यज्ञाः । ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम् । तद्ब्रह्मसूत्रम् । यज्ञसूत्रसंबन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥ १६ ॥

अङ्गानि मात्राणि । मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम् । प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम् । प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम् । तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः । संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम् ॥ १८ ॥

यज्ञ सूत्रं प्रणवम् । ब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः । ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः । हंससूत्रचर्या यज्ञाः । हंसप्रणवयोरभेदः ॥ १९ ॥

समस्त यज्ञों के कर्ता पशुपति रुद्र भगवान हैं; विष्णु अध्वर्यु,

इन्द्र होता है। महेश्वर का मानस रूप ब्रह्म ही यज्ञ को भोगने वाला देवता है ॥ ११ ॥ उस मानस ब्रह्म का रूप है "हंस सोऽहं हंस।" इस तन्मयता को प्राप्त करने के लिये जो यज्ञ किया जाता है वह नादानुसंधान है। तन्मयता का विकार ही जीव है ॥ १२ ॥ यह हंस परमात्मा का स्वरूप है जो बाहर और भीतर चलता रहता है। भीतर जाने पर अनवकाश वाले स्थान में यह हंस सुपर्ण स्वरूप (ईश्वर) होता है ॥ १३ ॥ छियानवे तन्तुओं के रूप में व्यक्त होने वाला, चित् के तीन सूत्रों से चिन्मय; नौ तत्वों से तिगुना किया हुआ; ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप तीन अग्नियों से संयुक्त, चिद् ग्रन्थि से बँधा; अद्वैत ग्रन्थि से युक्त; यज्ञ के साधारण अङ्ग रूप में बाह्य और अन्तर को सुप्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत हंस ही है ॥ १४—१५ ॥

इस प्रकार उपवीत के सूत्र ब्रह्म-यज्ञ रूप हैं; अर्थात् यज्ञोपवीत ब्रह्म का प्रतीक रूप है। इस प्रकार यज्ञोपवीत और ब्रह्म-यज्ञ एक दूसरे के स्वरूप हैं ॥ १६ ॥ इसके अङ्ग मात्रा हैं। यज्ञोपवीत इस मनोयज्ञ का हंस है। ब्रह्म-यज्ञ से युक्त प्रणव भी ब्रह्मसूत्र है। प्रणव का अन्तरवर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र है। यह ब्रह्म-यज्ञ मोक्ष का साधन रूप है ॥ १७ ॥ ब्रह्म-संध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है। संध्या-क्रिया मानसिक यज्ञ का लक्षण है ॥ १८ ॥ जो यज्ञसूत्र, प्रणव, ब्रह्म-यज्ञ की क्रिया से युक्त है वह ब्राह्मण है। ब्रह्मचर्य में देव रहते है। सूत्र रूप हंस यज्ञ में रहते हैं, हंस और प्रणव एक ही हैं ॥ १९ ॥

हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्माकृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः॥२०॥ चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो

हंसः॥२१॥ यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तितत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमाचरन्ति ॥ २२ ॥

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंससूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम् ॥ २३ ॥ हृदादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्राघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणवाधारा षडङ्गुलदशाशीतिः ॥ २४ ॥

वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः ॥ २५ ॥ ये जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं न प्रकाशकम् । प्रणवहंसान्तर्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः ॥ २६ ॥

हंस की प्रार्थना तीन समय की जाती है। तीन काल में तीन वर्ण होते है। यह यज्ञ तीनों अग्नियों से करने का है। तीन अग्नि, आत्मा की आकृति और वर्ण वाले ॐ कार रूप हंस का विचारना भीतर का यज्ञ है ॥ २० ॥ चित् रूप से तन्मय होना तुरीय का स्वरूप है। भीतर के सूर्य में हंस ही ज्योति रूप है ॥ २१ ॥ यज्ञ का यह अङ्ग ही ब्रह्म-सम्पति है। इसलिये ब्रह्म की प्राप्ति के निमित्त प्रणव रूप हंस की साधना ही विधेय है ॥ २२ ॥ ब्रह्मपुत्र बालखिल्य ने पुनः स्वयंभुव से पूछा—"हंस सूत्रों की संख्या कितनी है और उनका प्रमाण कितना है ? आप तो सब जानते हैं, बतलाइये।" ॥ २३ ॥ स्वयम्भू ब्रह्म ने उत्तर दिया—"हृदय—आदित्य की छियानवे किरणें हैं। चित् सूत्र रूप प्राण से स्वर सहित निकलने वाली धारा भी छियानवे अँगुल होती है ॥ २४ ॥ बाम भुजा के पास कमर के दाहिनी ओर के मध्य में परमात्मा हंस का निवास है ॥ २५ ॥ पर इस गुह्य विषय को कोई जान नहीं पाता। जिनको अमृतत्व प्राप्त हो गया है वे ही

उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को जानते हैं । प्रणव रूप हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होती ॥ २६ ॥

नवसूत्रान्परिचर्चितान् । तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति । अन्त-रादित्यं न ज्ञात मनुष्याणाम् ॥ २७ ॥ जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति ॥ २८ ॥ वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः ॥ २९ ॥ ब्रह्मो-पनिषदो ब्रह्म । स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति ॥ ३० ॥

अश्वमेधो महायज्ञकथा । तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति । सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति ॥ ३१ ॥

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच । उदितो हंस ऋषिः। स्वयंभूस्तिरोदधे । रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद ॥ ३२ ॥

जो रंगे हुये नौ सूत्रों के यज्ञोपवीत को धारण करते हैं वे भी ब्रह्म समझ कर ही उसकी उपासना करते हैं । पर इन लोगों को अन्तरादित्य रूप ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता ॥ २७ ॥ सूर्य जगत को प्रकाश देता है, यह समझकर वे बुद्धिमान मनुष्य शुद्ध बुद्धि और ज्ञान के लिये उसकी प्रार्थना करते हैं ॥ २८ ॥ बाजपेय यज्ञ पशुपति रूप हैं, उसका देवता इन्द्र होता है । अहिंसा का पालन बहुत बड़ा यज्ञ है, इसमें परमहंस अध्वर्यु, परमात्मा देवता है ॥ २९ ॥ वेद और उपनिषद् में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है उसी की ये स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानी उपासना करते हैं ॥ ३० ॥ इस महायज्ञ का ज्ञान ही अश्वमेध यज्ञ है । इसके आश्रय से ही वे ब्रह्मज्ञान का आचरण करते हैं । पूर्वोक्त सब ब्रह्म-यज्ञ ही मुक्ति प्रदान कर सकने वाले हैं ॥ ३१ ॥ ब्रह्मपुत्र ने फिर कहा–

"हंस विषयक ज्ञान का उदय हो गया ।" यह सुन कर स्वयंभू तिरोधान हो गये । उपनिषद् मे जिस हंस ज्योति को कहा गया है वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव ही पशुपति है ।। ३२ ।।

।। पूर्व काण्ड समाप्त ।।

उत्तरकाण्डः

हंसात्ममालिका वर्णब्रह्मकालप्रचोदिता ।
परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसपत्तिकारिणी ।। १ ।।

अध्यात्मब्रह्मकल्पस्य आकृतिः कीदृशी कथा ।
ब्रह्मज्ञानप्रभा सन्ध्या कालो गच्छति धीमताम् ।
हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजा कथम् ।। २ ।।

अन्तःप्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः ।
अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम् ।। ३ ।।

शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम् ।
नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्र विश्वविचेष्टितम् ।। ४ ।।

त्रियङ्गानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृति. ।
अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः ।। ५ ।।

'हंस' का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म की प्राप्ति होती है । परमात्मा और पुरुष भी यही है ।। १ ।। जो आत्मज्ञान से ब्रह्म सदृश्य हो गया हो उसके विषय में कहने को क्या रह जाता है ? ज्ञानीजन अपना समय ब्रह्म की चर्चा और उपासना में ही व्यतीत करते हैं । जब हंस और आत्मा में एकता स्थापित हो जाती है तो प्रजा कहाँ हो सकती है ।। २ ।। भीतर में होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस विदित होता है वही सब ज्ञान कराने वाला है । अन्तरानुभव द्वारा बाह्य ज्ञान की प्राप्ति होती है ।। ३ ।। शिव

शक्ति रूप, चिन्मय और आनन्द से विदित होने वाला वही है। नाद, विन्दु और कला—इन तीन नेत्रों से ही जगत चेष्टायुक्त है ॥ ४ ॥ तीन अङ्ग, तीन शिखा, और दो या तीन मात्राओ से उसकी आकृति विदित होती है। जब इस प्रकार अन्तर्ज्ञान हो जाता है तब इस गूढ आत्मा का ज्ञान बाह्यरूप से भी होने लगता है ॥ ५ ॥

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्म्यं विध्युक्तलक्षणम् ।
हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे ॥ ६ ॥
एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः ।
स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥ ७ ॥
सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु ।
विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥ ८ ॥
चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि ।
अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥ ९ ॥
स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम् ।
प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः ॥ १० ॥

जगत के सूत्र रूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और हंस रूपी सूर्य का प्रणव सहित ध्यान करना चाहिये यही ज्ञानियों का उपदेश है ॥ ६ ॥ इस तरह के ज्ञान की प्राप्ति होने से ही ज्ञान-सागर के पार पहुँचा जा सकता है। स्वयं शिव और पशुपति ही सर्वदा साक्षी रूप हैं ॥ ७ ॥ वही शिव सब के मन को प्रेरित और नियमन करने वाला है, जिसके प्रभाव से मन विषयों में जाता है, प्राण चेष्टा करते है और वाणी उच्चारण करती है ॥ ८ ॥ उसकी प्रेरणा से ही नेत्र देखते हैं, कान सुनते हैं और अन्य सब इन्द्रियाँ भी

अपने-अपने विषयों में निरन्तर प्रवृत्त रहती हैं। यह प्रवृत्त होना माया रूप होता है, स्वभावतः नहीं होता ॥ ९—१० ॥

> श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान् ।
> अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः ॥ ११ ॥
> मनः स्वात्मनि चाध्यस्त प्रविश्य परमेश्वरः ।
> मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥ १२ ॥
> स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि ।
> अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः ॥ १३ ॥
> तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु ।
> ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च ॥ १४ ॥
> न गच्छन्ति स्वयंज्योतिःस्वभावे परमात्मनि ।
> अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु ॥ १५ ॥
> विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः ।
> प्रत्यगात्मा परं ज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥ १६ ॥

श्रोत्र आत्मा के आश्रित है और स्वयं पशुपति ही श्रोत्र में प्रविष्ट होकर उसको श्रवण शक्ति देते है ॥ ११ ॥ मन भी आत्मा में अध्यस्त है और परमेश्वर उसमें प्रविष्ट होकर, वहाँ रहते हुये उसे नियम में रखते है और मनस्त्व प्रदान करते है ॥ १२ ॥ इसी प्रकार वे ही परमेश्वर सब इन्द्रियों को सचेष्ट करते हैं, पर लोग उनको जैसा जानते हैं या अनुमान करते है उससे वे भिन्न है ॥ १३ ॥ परमेश्वर ही इन सब इन्द्रियों को तदनुकूल रूप देते हैं और उनका नियमन करते हैं, इस लिये ये नेत्र, वाणी, मन आदि समस्त इन्द्रियाँ परमात्मा के स्वयं ज्योति रूप को प्राप्त नहीं हो सकतीं (उसे नहीं जान सकती)। जो यह समझता है कि परमात्मा अन्तः-

करण के विषयों से भिन्न है और इस लिये बिना तर्क और प्रमाण के उसे अपनी आत्मा से जानने का प्रयत्न करना चाहिये उसी को यथार्थ में परमात्मा का ज्ञान हो सकता है । यह आत्मा ही परम प्रकाश-रूप है, जब कि माया घोर तमरूप है ॥ १४—१६ ॥

तथा सति कथ मायासभवः प्रत्यगात्मनि ।
तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने ॥ १७ ॥
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि ।
व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याऽविद्या न चान्यथा ॥ १८ ॥
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम् ।
व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः ॥ १९ ॥
प्रकाश एव सतत तस्मादद्वैत एव हि ।
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः ॥ २० ॥

इसलिये प्रत्यगात्मा और माया की एकता किसी प्रकार संभव नहीं । इस प्रकार तर्क, प्रमाणों और अनुभव से विदित होता है कि चैतन्य रूप, स्वय प्रकाश परमात्मा में माया नही है । विद्या और अविद्या के विषय व्यवहारिक हैं, परमात्मा से उनका सम्बन्ध नहीं ॥ १७—१८ ॥ तत्व की दृष्टि से यह सब मिथ्या है, केवल एक तत्व ही वास्तविक है । व्यवहारिक दृष्टि से भी जो कुछ जान पड़ता है वह भी उसी प्रकाश का आभास है । इससे यह सब अद्वैत ही है और अद्वैत भी उस प्रकाश के अभेद से कहा जाता है ॥ २० ॥

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते ।
अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः ॥ २१ ॥
न स जीवो न च ब्रह्मा न चान्यदपि किंचन ।
न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च ॥ २२ ॥

न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च ।
यदा ब्रह्मात्मकं सर्व विभाति स्वत एव तु ॥ २३ ॥
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते ।
जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित् ॥ २४ ॥
न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति ।
धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते ॥ २५ ॥

इस प्रकार सब एक ही प्रकाश है और इसके सम्बन्ध में अधिक कुछ कहने की अपेक्षा मौन ही श्रेष्ठ है। जिसको यह महान ज्ञान स्वयं ही विदित हो गया है वह न जीव रूप है, न ब्रह्म है और न कुछ और है । उसको वर्ण भी नही है, आश्रम भी नही है, धर्म भी नही है, अधर्म भी नहीं है, निषेध भी नही, विधि भी नही है । जब उसको सब कुछ ब्रह्ममय दिखाई देता है, तो उसे यह दुःखादि भेद का आभास बिलकुल नही जान पड़ता । परब्रह्म का इस प्रकार ज्ञान रखने वाला इस जीवादि रूप वाले जगत को देखते हुये भी नही देखता । वह केवल चिद्रूप ब्रह्म को ही देखता है, धर्म तथा धर्मी का विषय भेद के रहते हुये भिन्न है ॥ २१—२५ ॥

भेदा[दोऽ]भेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः ।
नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा ॥ २६ ॥
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च ।
तथैव ब्रह्मविज्ज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥२७॥
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम् ।
यत्तादद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् ॥ २८ ॥
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थ तदपाणिपदं तथा ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥ २९ ॥

ब्रह्मैवेदममृत तत्पुरस्ता-
द्ब्रह्मानन्द परमं चैव पश्चात् ।
ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च
ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरं च ॥ ३० ॥

एकमात्र वह परमात्मा ही सदा से वर्तमान है और अन्य सब भेद, आदि तथा भेदाभेद उसमें ही व्याप्त हैं ॥ २६ ॥ वस्तु या अवस्तु जो कुछ है वह सब साक्षात् ब्रह्म ही है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मज्ञान रखने वाला किसी का ग्रहण या त्याग कैसे कर सकता है ? ॥ २७ ॥ जो ब्रह्म उपमारहित, वाणी और मन से अगोचर, दृष्टि से दिखाई न देने वाला, ग्रहण न कर सकने योग्य, अगोत्र, रूपरहित है; जो नेत्र, कान, हाथ, पैर आदि से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, अव्यय, मृत्युरहित है वही सब का अधिष्ठान या आधार स्वरूप है। उसके आगे और पीछे श्रेष्ठ ब्रह्मानन्द ही है, दाँये, बाँये भी वह परम ब्रह्मानन्द है ॥ ३० ॥

स्वात्मन्येव स्वयं सर्व सदा पश्यति निर्भयः ।
तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता ॥ ३१ ॥
एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसाऽपि च ।
ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना ॥ ३२ ॥
स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ॥ ३३ ॥
एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः ।
कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्णरूपिणः ॥ ३४ ॥
आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति ।
तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्ठः कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥ ३५ ॥

ऐसा साधक सब को सदा अपनी आत्मा के भीतर ही निःशङ्क भाव से देखता है। इस प्रकार भाव रखने से ज्ञानी ही नहीं अज्ञानी तक भी मुक्त हो जाता है ॥ ३१ ॥ यह पराविद्या सत्य, तपस्या और ब्रह्मचर्य से वेदान्त मार्ग द्वारा प्राप्त होती है ॥३२॥ जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, जिनके दोष क्षीण हो गये हैं वे ही अपने भीतर स्वयं प्रकाशमान परमात्मा को देख सकते है, माया में फँसे हुये उसको नही देख सकते ॥ ३३ ॥ जो योगी अपने स्वरूप को इस प्रकार जान ता है उस पूर्णताप्राप्त का आवागमन नहीं होता ॥ ३४ ॥ जैसे जो सर्वत्र उपस्थित है वह कही नही आता जाता, उसी प्रकार जिसने अपने को ब्रह्म रूप समझ लिया है वह कहीं नहीं आ-जा सकता ॥ ३५ ॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत् ।
आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः ॥ ३६ ॥
चित्ते शुद्धे क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ते ग्रन्थयः स्फुटम् ।
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः ॥ ३७ ॥
न सम्यज्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु ।
अहमन्नं सदाऽन्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥ ३८ ॥
ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु ।
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा ॥ ३९ ॥
यस्योपसेचनं मृत्युस्तज्ज्ञानी तादृशः खलु ।
ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु ॥ ४० ॥

आहार में अभक्ष्य का त्याग कर देने से चित्त शुद्ध हो जाता है, आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि स्वयमेव हो जाती है ॥ ३६ ॥ जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो क्रम से ज्ञान होता जाता और अज्ञान की ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। पर भक्ष्याभक्ष्य का विचार

उसके लिये ही आवश्यक है जिसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है ॥ ३७ ॥ क्योंकि सम्यक् ज्ञानी का स्वरूप अज्ञानी के समान भेद ज्ञानयुक्त नहीं होता। ज्ञानी यह जानता है कि खाने वाला मैं हूँ और अन्न भी मैं हूँ ॥ ३८ ॥ पर जो ब्रह्मज्ञानी होता है वह सब को ब्रह्ममय देखता है, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि की भावना ही उसका भोजन हो जाता है ॥ ३९ ॥ मृत्यु जिसका अन्न (भोजन) है ऐसे ब्रह्म को जानने वाला भी वैसा ही हो जाता है और यह समस्त जगत उसके लिये भोजन स्वरूप हो जाता है ॥ ४० ॥

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा।
ब्रह्मस्वात्मतया नित्य भक्षित सकलं तदा ॥ ४१ ॥

यदा भानेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत्।
मानतः स्वात्मना भात भक्षित भवति ध्रुवम् ॥ ४२ ॥

स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः।
अस्ति चेदस्तितारूप ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥ ४३ ॥

अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा।
नास्ति सत्ताऽतिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः ॥ ४४ ॥

योगिनामात्मनिष्ठानां माया ह्यात्मनि कल्पिता।
साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता ॥ ४५ ॥

ब्रह्मविज्ञानसंपन्न. प्रतीतमखिलं जगत्।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥ ४६ ॥

इत्युपनिषत् ॥

जब जगत को आत्मरूप में अनुभव किया जाता है, तो वह भोज्यरूप हो जाता है। आत्मरूप से ब्रह्म सदैव उसे भक्षण करता रहता है ॥ ४१ ॥ जिसका आभास होने से यह जगत भोजन रूप बन जाता है, जब वह आत्मरूप विदित हो जाता है तो अवश्य ही

ब्रह्म द्वारा भक्षित होती है ॥ ४२ ॥ इस प्रकार ब्रह्म अपने स्वरूप को स्वयं ही खाता है, क्योंकि भोज्य पदार्थ उनसे पृथक नहीं है,
यदि वह अस्तित्व रूप है तो भी वह ब्रह्म
अतिरिक्त किसी का अस्तित्व ही नहीं है ॥ ४३ ॥
अस्तित्व माना जाता है और सत्ता ब्रह्म से भिन्न नहीं होती
सिवाय कोई सत्ता नहीं है, माया से कोई वास्तविक वस्तु नहीं होती ॥ ४४ ॥ योगीजन माया की कल्पना अपनी आत्मा से करते है । ब्रह्मज्ञान से बाधित होकर वह उनको साक्षी-रूप भासती है ॥ ४५ ॥ इस प्रकार जिस ज्ञानी को ब्रह्मज्ञान का अनुभव हो गया है, वह चाहे जगत को अपने सम्मुख देखता रहे, पर वह उसे अपने से पृथक नहीं मानता ॥ ४६ ॥

॥ पाशुपत उपनिषद् समाप्त ॥

प्राणाग्निहोत्रोपनिषत

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे; वह हम दोनों का पालन करे; हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो; हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शारीर-यज्ञं व्याख्यास्यामो यस्मिन्नेव पुरुषशारीरे विनाऽप्यग्निहोत्रेण विनाऽपि सांख्येन संसारनिवृत्तिर्भवतीति ॥ १ ॥

स्वेन विधिनाऽन्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधयः सोमराज्ञी-रिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामभिमन्त्रयति ॥ २ ॥

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥
याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥
जीवला नघारिषां मा ते बध्नाम्योषधीः ।
यातयायु रुपाहरादप रक्षांसि चातयात् ॥ ५ ॥

अब सब उपनिषदों का सारभूत सांसारिक ज्ञान से अतीत (परे) अन्नसूक्त तथा शारीर यज्ञ की व्याख्या की जाती है । जिस पुरुष शरीर के जान लेने पर बिना ही अग्निहोत्र के, बिना ही

सांख्य आदि दर्शनो के ज्ञान के संसार की निवृत्ति (संसार से निवृत्ति) पराङ्मुखता (मोक्षप्राप्ति) हो जाती है ॥ १ ॥ बाह्य प्राणाग्नि होत्र की विधि अपनी २ विधि के अनुसार पृथ्वी मे बनाई वेदिका ... शाकयुक्त अन्न रख कर 'या ओषधय ' या फलिनी ·····जीवला नघारिषा······'इन तीन तथा' अन्नपते अन्नस्य ···· यदन्नमग्नि··· इन दो से अभिमन्त्रित करे ॥ २ ॥ अब क्रमशः वह उ-युक्त ती। व दो ऋचायें लिखी जाती हैं—जो सोमदेवता प्रधान शतवीर्य बहुशाखा वाली बृहस्पति प्रमूत औषधियाँ हैं वह हमें पापमुक्त करदें ॥ ३ ॥ जो फलयुक्त, फलहीन, पुष्पहीन, अथवा पुष्प (फूल) युक्त बृहस्पति प्रमूत (उत्पन्न) औषधियाँ है वह हमें पापमुक्त करदें ॥ ४ ॥ इन दो मन्त्रों तथा 'जीवला······रक्षांसि चानयान्'—इस तीसरे मन्त्र द्वारा एवं ·····अन्नपते······द्विपदे चतुष्पदे यदग्निनां······ईशानाय स्वाहा, इन दो मन्त्रों से अभिषेक करना चाहिये। अर्थात् क्रमशः दिये इन पाँच मन्त्रों से उस पिण्ड पर जलाभिषेक करना चाहिये ॥ ५ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ६ ॥
यदन्नमग्निर्बहुधा विरुद्धं रुद्रैः
प्रजार्धं यदि वा पिशाचैः।
सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु
शिवमीशानाय स्वाहा ॥ ७ ॥

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं ब्रह्मा त्व रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो
ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों नमः ॥ ८ ॥

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्।
पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम् ॥

यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम ।
सर्वं पुनन्तु मामापोऽसनां च प्रतिग्रहं स्वाहा ॥ ९ ॥

अमृतमस्त्वमृतोपस्तरणमस्यमृत प्राणे होम्यमाशिष्यन्तोऽसि ॐ प्राणाय स्वाहा ॐ अपानाय स्वाहा ॐ व्यानाय स्वाहा ॐ उदानाय स्वाहा ॐ समानाय स्वाहा ॐ ब्रह्मणे स्वाहा ॐ ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १० ॥

इन मन्त्रों से अन्न को छूकर अभिमन्त्रित कर दाहिने हाथ में जल लेकर 'अन्न श्चरसि...' 'आपः पुनन्तु' इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्न का प्रोक्षण करे (जल के छींटे दे) तू प्राणियों के हृदय में सर्वतोमुख रूप होकर (सर्वत्र व्यापक) स्थित है भ्रमण करता है। तू ही यज्ञ, ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु, वषट्कार, जलराशि, ज्योतिः, रस, अमृत ब्रह्म तथा भू भुर्वः एवं स्वः है, तुझे नमस्कार है ॥ ८ ॥ हे जल! तुम पृथ्वी को पवित्र करो और पवित्र हुई जो पृथ्वी वह मुझे पवित्र करे। ब्रह्मणस्पति भी पवित्र करें ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्र करे। जो उच्छिष्ट, अभक्ष्य या दुश्चरित मेरा हो उन सबको जल पवित्र करदे और पापों को रोकदें ॥ ९ ॥ इस प्रकार प्रोक्षण करके दो बार अभिषेक कर बायें हाथ से वेदिका को छूता हुआ दाहिने हाथ में ग्रहण कर 'अमृतभस्त्वमृतोपस्तरणमसि' यह कह कर उसे पी कर 'अमृतं प्राणे होम्यभाशिष्यन्नोसि' यह कह कर अमृतोपम होम करने योग्य वस्तु को तूने आस्वादित किया है यह समझ आत्मानुसन्धान पूर्वक प्राण मे आहुतियाँ करे—ॐ प्राण, अपान, उदान, समान व्यान ये इन आहुतियों को प्राप्त करें। ब्रह्म भी आहुतियाँ प्राप्त करे। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का आस्वादन करे॥ १० ॥

कनिष्ठिकाङ्गुल्याऽङ्गुष्ठेनप्राणे जुहोति अनामिकयाऽपाने मध्यमिकया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने ॥ ११ ॥ तूष्णीमेकामेकऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्नौ

एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये ॥ १२ ॥ अथापिधानमस्य मृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनः स्पृशेत् ॥ १३ ॥ सव्ये पाणावापो गृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्—

प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरावृतः ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन ॥ १४ ॥
विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम् ।
विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि ॥ १५ ॥

कनिष्ठिका अंगुली तथा अंगूठे से प्राण में अनामिका से, अपान में मध्यमा से व्यान में सभी अंगुलियों से उदान में तर्जिनी से समान में आहुति डाले (कल्पना करे) ॥ ११ ॥ मौन होकर एक आहुति 'प्राणाय स्वाहा' इस एक ऋचा से 'अपानाय स्वाहा' ये दो आहुतियाँ आहवनीय में होम करे । एक दक्षिणाग्नि, एक गार्हपत्य तथा एक सर्व प्रायश्चितीय अग्नि मे होम करे ॥ १२ ॥ इस प्रकार पाँच आहुतियाँ करके यथानियम खाकर (आहुति शेष) 'अथ पुरस्तात् चोप रिष्टाच्च अद्भिः परिदधाति' इति श्रुति के अनुरोध से—अपिधान स्वरूप को अमृतत्व के लिये छूकर फिर ग्रहणकर पुनः स्पर्श करे ॥ १३ ॥ बांये हाथ में जल ग्रहण कर हृदयालम्भन कर (हृदय के पास हाथ रख) जप करे—मुख्य प्राण ही अग्नि है स्वगत विशेष अंशों की समाप्ति पर वही परमात्मा है विराड् आदि स्थानीय पाँच वायुओं के द्वारा आवृत है । मुझे सब प्राणियों से अभय प्रदान करे मुझे उनसे कभी भय उत्पन्न न हो ॥ १४ ॥ हे मुख्य प्राण ! व्यष्टि (एक २) समष्टि (समूह रूप) के उपाधि भेद से तू ही विश्व (व्यावहारिक) वैश्वानर (विराड्) होकर विश्व रूप को धारण करता है 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः' । जिस रूप में कि तू ब्रह्मामृत स्वरूप है, तेरे से

प्रादुर्भूत होने वाला विश्व तो तुरीयाग्नि में सभी आहुतियाँ हो जाता विलीन हो जाता है) ॥ १५ ॥

पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः ।
तमद्भिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च ॥ १६ ॥
बाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोति । सर्वेषा-
यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति ॥ १७ ॥

स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति । चत्वारोऽग्नयस्ते किं धेयाः ॥ १८ ॥ तत्र सूर्याग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्र-रश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति । यस्मादुक्तो दर्शना-ग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति । शारीरोऽग्नि-र्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति । तत्र कोष्ठाग्निरिति—कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढ स्वादितं सम्यग्व्यष्टयं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्रो हिमांशुः प्रभुः प्रजननकर्मा ॥ २० ॥

"तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्" इस श्रुति के अनुरोध से जो पैर के दोनों अंगूठों के आगे प्राण रूप से प्रतिष्ठित है वह तू प्रतिक्षण अभिनव (नया २) पुरुष होता है अर्थात् नित्य नवीन रूप में रहता है। इस भोजन के (प्राशन के) अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति के लिये उस व्यापक अन्न जल द्वारा सिञ्चित करता हूँ (अर्थात् उच्छ्वास निश्वास रूप से अभिषिक्त करता हूँ) तेरा अभिषेक करता हूँ ॥ १६ ॥ ये चेष्टा विशिष्ट हैं अतः बाह्यात्मा इनका ध्यान करे । यह पुरुष प्रतिदिन प्राण रूपी अग्निहोत्र करता है क्योंकि सभी तुझ परमात्मा (अग्निरूप) का पुत्रवत् पोषण करते हैं अतः तू सब का पुत्र भी होता है; इस प्रकार

जो तू तेरी यह लोक आहुतियों का होम करता है ॥ १७ ॥ अपने शरीर में यज्ञ की कल्पना की जाती है । इन शरीर निर्वर्त्य अग्नियों की संख्या ४ चार है । उनका स्वरूप अत्यन्त (सूक्ष्म छोटा) है । ये सब अर्धमात्रिक मात्र हैं ॥ १८ ॥ इन चार में से सूर्याग्नि नामक अग्नि जो कि सूर्य मण्डल की आकृति का है हजारों अत्यन्त तेजस्वी किरणों से युक्त व्यापक रूप होकर सिर मे स्थित रहता है जैसे कि प्रसिद्ध है 'तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्' । क्योंकि यह जीवात्मा सर्वज्ञ ईश्वर रूप में दीखता है इसी कारण यह एक दर्शनाग्नि कहलाता है जो कि बीज, विराड् आदि चार आकृति वाला आहवनीय होकर (होम का आधार स्थल बनकर) मुख में रहता है । (स्थूल शरीर का दाह करने वाली) शरीर अग्नि (हिरण्यगर्भ) स्थूल शरीराश्रित जरादि (वृद्धावस्था) द्वारा क्षीण किया जाता है स्थूल प्रपञ्च रूप हवि को ग्रसित करता है जो कि अर्धचन्द्र की आकृति वाला दक्षिणाग्नि होकर सब प्राणियों के हृदय में स्थित रहता है । 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रितः प्राणायाम समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' इस रूप में सिद्ध 'कोष्ठाग्नि' है जो कि खाई, पी हुई, चाटी, तथा आस्वादित वस्तु को भली भाँति पकाकर गार्हपत्य रूप में नाभि स्थल में रहता है ॥ १९ ॥ प्रायः चित्तोपाधि स्वरूप विराड् आदि के नीचे प्रतिष्ठित वक्र, तीन (पराग् वृत्तियाँ) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्था के प्रकाशक हिमांशु अर्थात् चिद्रूप चन्द्र सभी प्रकार प्रभु है (समर्थ) है सब कुछ प्रकाशित कर देने वाला है ॥ २० ॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाऽशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्याः कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रति-

प्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः क उद्गाता का धारा कः के दर्भाः कः स्रुवः काऽऽज्यस्थाली कावाघारौ कावाज्यभागौ के प्रयाजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृथमिति ॥ २१ ॥ अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनायजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महऋत्विजः हकारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः प्रतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्गाता समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्य आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिदया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भाः इन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रियाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वाण्यस्मिन् देवता शरीरेऽधिसमाहिताः ॥ २२ ॥

बाराणस्यां मृतो वाऽपि इदं वा ब्राह्मणः पठेत् ।
एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत् ॥ २३ ॥

इस शरीर यज्ञ का, जो कि खम्भे तथा रशनाहीन है, कौन यजमान है ? तथा पत्नी, ऋत्विज, सदस्य कौन हैं ? यज्ञ-पात्र, हवि, वेदि, अन्तर्वेदिका (छोटी) द्रोण कलश, रथ, पशु (बलिपशु) अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, मैत्रावरुण उद्गाता, धारा, पवन करने वाला, दर्भ (कुश) स्रुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र) आघार, आज्यभाग, प्रयाज, अनुयाज, इडा, सूक्तवाक्, शंयोवाक्, पत्नीसंयाज, यूप (खम्भा), रशना इष्ट दक्षिणा एवं यज्ञ के

अन्त में किये जाने वाला अवभृथ (एक स्नान विशेष) कौन २ है ? अर्थात् जैसे यज्ञ में उपर्युक्त सभी वस्तुये अपेक्षित है वैसे ही इस शरीर-यज्ञ के लिये भी ये अवश्य अपेक्षित है, फिर ये कहाँ है तथा कौन है ? ॥ २१ ॥ इस शारीर यज्ञ का आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज है, अहङ्कार तत्व ही अध्वर्यु है, चित्त ही होता है प्राण ब्राह्मणाच्छसी है अपान प्रतिप्रस्थाता है व्यान प्रस्तोता उदान उद्गाता, समान मैत्रावरुण, शरीर वेदि नाक अन्तः वेदी, सिर द्रोण कलश, पैर रथ, दाहिना हाथ स्रुवा, बाँया हाथ घृतपात्र, कान आधार (प्रणिता प्रोक्षणीपात्र) आंख आज्यभाग, गर्दन धारा, तन्मात्रायें (पांच) पोता, पञ्चमहाभूत सदस्य, गुण प्रयाज अनुयाज, जीभ इडा दांत तथा ओष्ठ सूक्तवाक तालु शंयोर्वाक्, स्मृति दया शान्ति अहिंसा पत्नीसंयाज ॐकार खम्भा, आशा रशना, मन रथ, काम ही पशु, काल ही कुशायें, इन्द्रियाँ यज्ञपात्र, कर्मेन्द्रियाँ हवि, अहिंसा इष्टिकाये, त्याग ही दक्षिणा मृत्यु ही अवभृथ स्नान है । अर्थात् उपर्युक्त वस्तुओं मे तत्तद् वस्तु की स्थिति समझ उन्हीं के अनुसार क्रियाये भी समझनी चाहिये तभी यह यज्ञ पूरा फलदायक होता है (मोक्ष की प्राप्ति का साधन होता है) तथा सभी देवता इस शरीर मे समाहित होते है ॥ २२ ॥ यदि किसी का शरीर काशी मे छूटे अथवा यदि कोई ब्राह्मण इसे पढ़े तो एक ही जन्म से चित्त शुद्धि करने वाले ज्ञान तथा मोक्ष को प्राप्त करले ॥ २३ ॥

॥ प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् समाप्त ॥

———

योगकुण्डल्युपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे; वह हम दोनों का पालन करे; हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो; हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शांति, शांति, शांति, ।

प्रथमोऽध्यायः

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ।। १ ।।

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ।। २ ।।

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् ।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशावशेषकः ।। ३ ।।

भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ।। ४ ।।

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ।। ५ ।।

हरि ॐ । चित्त की अस्थिरता के दो कारण होते हैं, एक वासना, दूसरा श्वास (प्राण) । इनमें से एक के नष्ट हो जाने पर

दूसरा भी नष्ट हो जाता है ।। १ ।। इसलिये साधक को पहले प्राण को जय करना चाहिये और इसके लिये मिताहार, आसन और शक्ति-चालन को करना चाहिये ।। २ ।। हे गौतम ! अब मैं तुझको इनके लक्षण बतलाता हूं, उन्हें तू ध्यानपूर्वक सुन । सर्व प्रथम स्निग्ध और मधुर आहार करना चाहिये तथा पेट के एक चौथाई भाग को खाली छोड़ देना चाहिये ।। ३ ।। इस प्रकार का भोजन भगवान के उद्देश्य से किया जाय, यही मिताहार है । आसनों मे दो प्रकार के मुख्य है— पद्मासन और वज्रासन ।। ४ ।। दोनो जांघों पर एक दूसरे पैर के तलवों को सीधा रखने से पद्मासन होता है, जो सब पापों का नाश करने वाला है ।। ५ ।।

वामाङ्घ्रिमूलं कन्दाधः अन्य तदुपरि क्षिपेत् ।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ।। ६ ।।
कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ।। ७ ।।
तत्साधने द्वय मुख्य सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ।। ८ ।।
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्यैव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ।। ९ ।।
यस्याः संचालने नैव स्वय चलति कुण्डली ।
इडायां वहति प्राणे वद्ध्वा पद्मासन दृढम् ।। १० ।।

बाँये पैर की एड़ी को योनि स्थान में रखे और दाहिने की एड़ी उसके ऊपर रखे, गर्दन तथा सिर को समान और सीधा रखे तो यह वज्रासन होता है ।। ६ ।। कुण्डली ही मुख्य शक्ति है, ज्ञानी साधक उसको चालन करके दोनों भौहों के मध्य में ले जाता है तो वही

शक्तिचालन है ॥ ७ ॥ कुण्डलिनी को चलाने के दो मुख्य साधन हैं, सरस्वनी का चालन और प्राण निरोध, अभ्यास द्वारा लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है ॥ ८ ॥ पहले तुझको सरस्वती के चालन के विषय में समझाता हूँ, प्राचीनता वाले सरस्वती को अरुन्धती कहते है। इस सरस्वती नाड़ीका चालन करने से कुण्डलिनी अपने आप चलने लगती है। इसके लिये जब श्वांस इड़ा (बांयी) नाड़ी से बहती हो तो पद्मासन लगाकर बैठे ॥ ९—१० ॥

द्वादशांगुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् ।
विस्तीर्य तेन तन्नाडी वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥ ११ ॥
अंगुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥ १२ ॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्त निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुपुम्नां कुण्डलीगता ॥ १३ ॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १४ ॥
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते ।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत् ॥ १५ ॥

तब बारह अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े आकाश के टुकड़े से (कल्पित करके) कुण्डलिनी को लपेटे ॥ ११ ॥ तब बाँयी और दाहिनी नासिका को अंगूठे और तर्जनी से दृढतापूर्वक पकड़े और पहले दाहिनी से और फिर बाँयी नासिका से बार-बार रेचक और पूरक करे। साथ ही उसको मानसिक भावना द्वारा दाँयी और बाँयी ओर बार-बार चालन करता रहे ॥ १२ ॥ इस प्रकार दो मुहूर्त तक सरस्वती का चालन करता रहे। इसके पश्चात् सुषुम्ना नाड़ी को,

जो कुण्डलिनी के समीप ही रहती है किंचित ऊपर की तरफ खींचे ॥ १३ ॥ इस विधि से अभ्यास करने पर कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख में चढ़ने लगती है और प्राण भी स्वयं ही उस स्थान को छोड़ कर सुषुम्ना में चलने लगता है ॥ १४ ॥ पेट को ऊपर की तरफ खींच कर तथा कण्ठ का सकोच कर सरस्वती को चलाने से वायु वक्षस्थल में ऊपर चला जाता है ॥ १५ ॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षः स्यादूर्ध्वगो मरुत् ॥ १६ ॥
तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम् ।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १७ ॥
गुल्मं जलोदरप्लीहो ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥ १८ ॥
प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥ १९ ॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥ २० ॥

जब सरस्वती का चालन किया जाय तो सूर्य नाडी (दाहिनी) से वायु का रेचक करे, कण्ठ का संकोचन करले तो वायु वक्षस्थल से ऊपर चला जाता है ॥ १६ ॥ इस प्रकार शब्दगर्भा सरस्वती का लगातार चालन करते रहना चाहिये। इसके चालन से योगी सब प्रकार के रोगो से छूट जाता है ॥ १७ ॥ गुल्म, जलोदर, प्लीहा तथा पेट सम्बन्धी अन्य रोग शक्तिचालन से निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥ आगे प्राण-निरोध (प्राणायाम) को बतलाते है। देह में चलने वाले वायु को प्राण कहते हैं और जब वह स्थिर हो जाता है तब वह कुम्भक कहा जाता है ॥ १९ ॥ यह कुम्भक दो प्रकार का

बतलाया गया है—सहित और केवल। जब तक केवल-कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित-कुम्भक का अभ्यास करना चाहिये ॥ २० ॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका ।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः ॥ २१ ॥
पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते ।
धनुःप्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥ २२ ॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३ ॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः ।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥ २४ ॥
कपालशोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः ।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥ २५ ॥

सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका इन चार प्रकार के प्राणायामों के साथ सहित कुम्भक किया जाता है ॥ २१ ॥ एकान्त और पवित्र स्थान में जहाँ कंकड-पत्थर आदि न हो और पास में ही घास, अग्नि, जल आदि न हो, वहाँ न अधिक ऊँचा न अधिक नीचा ऐसे पवित्र सुखदायक आसन पर बद्ध-पद्मासन लगाकर बैठे और सरस्वती का चालन करे ॥ २२—२३ ॥ दाहिनी नासिका से बाहर की वायु को धीरे-धीरे खींचे और पर्याप्त परिमाण में वायु के भीतर जाने पर बाँयी नासिका से रेचन करे ॥ २४ ॥ कपाल शोधन की क्रिया में भी वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले। इससे चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं ॥ २५ ॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ।
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥ २६ ॥

यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ २७ ॥
शीर्षोदिता नलहर गलश्लेष्महरं परम् ।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥ २८ ॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ २९ ॥
जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिल सुधीः ॥ ३० ॥
गुल्मप्लीहादिका दोषाः क्षय पित्त ज्वर तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥ ३१ ॥

इस क्रिया को सूर्य भेदन कहते है, इसका अभ्यास बार-बार करते रहना चाहिये । अब उज्जायी को बतलाते है कि मुख बन्द करके दोनों नासिकाओ से वायु को धीरे से खींचे जिससे वह शब्द करती हुई कण्ठ से लेकर हृदय तक भर जाय। तब पूर्ववत् कुम्भक करके बॉयी नासिका से रेचक करे, इससे मस्तक की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक रोग दूर हो जाते है और देह की अग्नि की वृद्धि होती है। इससे नाड़ी सम्बन्धी जलोदर और धातु सम्बन्धी रोग भी दूर हो जाते है। इस उज्जायी कुम्भक को चलते, फिरते, स्थिर रहते सदैव करते रहना चाहिये ॥ २६—२९ ॥ शीतली नामक प्राणायाम करते समय वायु को जिह्वा द्वारा खींचकर पूर्ववत् कुम्भक किया जाता है, फिर नासिका के छिद्रों से वायु को शनैः शनैः निकाल दिया जाता है । इससे गुल्म, प्लीहा, पित्त ज्वर, तृषा आदि दूर होते हैं ॥ ३०—३१ ॥

ततः पद्मासन बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।
मुखं सयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ३२ ॥

यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः ।
वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ३३ ॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ३४ ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण रेचयेत् ॥ ३५ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ३६ ॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ३७ ॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ३८ ॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ ३९ ॥

अब भस्त्रिका प्राणायाम को बतलाते है कि पद्मासन लगाकर, गर्दन और देह को सीधा रखते हुये, मुख को बन्द करके वायु को सावधानीपूर्वक नासिका से रेचन करे। फिर वायु को वेगपूर्वक शब्द करते हुये ऐसे खीचे कि कण्ठ, तालु, कपाल तथा हृदय को उसका स्पर्श जान पड़े। फिर उसे बाहर निकालकर पुनः पूरक करे, इस प्रकार वायु को बार-बार वेगपूर्वक इस प्रकार खीचे और भरे जैसे लुहार की भाथी चलती है। इसी विधि से शरीर स्थिति वायु को सँभालकर चलावे। जब श्रम जान पड़े तब सूर्य नाड़ी से पूरक करे और तर्जनी के अतिरिक्त चारों अंगुलियों से नासिका को मध्य मे दृढ़तापूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे तथा फिर बाँयी नाक से रेचक करदे। यह अभ्यास कण्ठ की जलन को मिटाता है और शरीर की अग्नि को बढ़ाता है, कुण्डली को जगाता है, पुण्यकारी, पाप नाशक

शुभ और सुखदायक है। ब्रह्मनाड़ी (सुषुम्ना) के मुख पर जो कफ आदि रहता है उसको नष्ट करने वाला है। यह सत् आदि तीनों गुणों से उत्पन्न तीनो ग्रन्थियों का भेदन करने वाला है। इसलिये इस भस्त्रिका नामक प्राणायाम का विशेष रूप से अभ्यास करना चाहिये ॥ ३२-३९ ॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिद कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ४० ॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ४१ ॥
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वंग कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन त प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ ४२ ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥ ४३ ॥
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ४४ ॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता सप्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुता व्रजेत् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार इन चारों प्रकार के प्राणायामों को करने के साथ-साथ योगी को तीन 'बन्ध' भी करने चाहिये। इनमें से पहला मूलबन्ध दूसरा उड्डियाण और तीसरा जालन्धरबन्ध कहा जाता है ॥४०-४१॥ अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमंडल से मिलता है तो उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता बहुत अधिक हो जाती है। उस ज्वाला से संतप्त होकर सोई हुई कुण्डलिनी जागृत होती है और

दण्डे से मारी जाने वाली सर्पिनी के समान फुत्कार कर सीधी हो जाती है ॥ ४२-४५ ॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥४६॥
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥ ४७ ॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ ४८ ॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
पश्चिम ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले ॥ ४९ ॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धि निगच्छति ।
तुन्ददोष विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥ ५० ॥

तब वह बिल मे प्रवेश करने के समान सुषुम्ना के भीतर जाती है । इस कारण योगियों को मूलबन्ध का अभ्यास सदैव करना चाहिये ॥ ४६ ॥ कुम्भक के पश्चात् रेचक करने के पूर्व उड्डियानबंध करना चाहिये, जिससे प्राणवायु सुषुम्ना के भीतर उड़ती है । इसीलिये योगीजन इसको उड्डियाण कहते हैं । इसके लिये वज्रासन लगाकर पैरों को हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़े । जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है वहाँ कन्द स्थान को दबावे, पेट को ऊपर की तरफ खीचे और हृदय तथा गले को भी तनाव देकर खीचे । इस विधि से प्राण क्रमशः पेट की संधियों में प्रवेश करता है और पेट के सब दोषो को दूर करता है । इस कारण यह अभ्यास सदैव करते रहना चाहिये ॥ ४७-५० ॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥ ५१ ॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।

मध्ये पश्चिमतारणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ५२ ॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्या. कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥ ५३ ॥
प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥ ५४ ॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्धया दिने दिने ।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥ ५५ ॥

जालन्धरबंध मे कंठ का संकोचन वायु को रोकने के निमित्त किया जाता है, यह बंध पूरक के अन्त मे करना होता है ॥ ५१ ॥ अधोभाग मे मूलबंध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालंधर बन्ध द्वारा कण्ठ का संकोचन करे और मध्य में पश्चिमतान (उड्डियान) से प्राण को खींचे । इस प्रकार सब तरफ से रोका जाकर प्राण ब्रह्म-नाडी (सुषुम्ना) मे चढ़ता है ॥ ५२ ॥ जैसे पहले बतलाया गया है सम्यक प्रकार से आसन पर बैठकर सरस्वती का चालन करके प्राण का निरोध करना चाहिये ॥ ५३ ॥ प्रथम दिन चारो कुम्भकों को दस-दस बार करना चाहिये और दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार करना चाहिये । तीसरे दिन बीस-बीस करना चाहिये, इसी प्रकार प्रतिदिन पांच-पाँच बढाता जाय । इन कुम्भकों का अभ्यास प्रतिदिन तीन बन्ध सहित करना चाहिये ॥ ५४-५५ ॥

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।
बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ५६ ॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात् ।
शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥ ५७ ॥
योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते ।
ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥ ५८ ॥

द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता ।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥ ५९ ॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम् ।
विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥ ६० ॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः ।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥ ६१ ॥

दिन का सोना, रात का जगना, अति मैथुन, ज्यादा चलना, मल-मूत्र का सदैव रोकना, आसन की विषमता, हठपूर्वक प्राण का अभ्यास आदि दोषो से शीघ्र ही रोगों का आक्रमण होता है ॥५६॥ यदि कोई कहे कि मुझे योगाभ्यास से रोग हुआ, तो उसे समझ लेना चाहिये कि योगाभ्यास का त्याग ही सबसे पहला विघ्न है, दूसरा विघ्न संशय करते रहना, तीसरा प्रमत्तता, चौथा आलस्य, पांचवाँ अधिक निद्रा, छठा प्रेम न रहना, सातवाँ भ्रान्ति, आठवाँ विषमता, नवाँ अनाख्य और दसवाँ योगतत्व की अप्राप्ति है। बुद्धिमान साधक इन सबको विचार कर इनका त्याग करदे ॥ ५७-६१ ॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वास्थया धिया ।
सुषुम्ना लीयते चित्तं न च वायुः प्रधावति ॥ ६२ ॥
शुष्के मले तु योगी च स्यादनतिश्चालिता ततः ।
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥ ६३ ॥
आकुञ्चनेन त प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥ ६४ ॥
प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥ ६५ ॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीर तु सुषुम्नावदनान्तरे ॥ ६६ ॥

इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास नियमित रूप से सत्वमयी बुद्धि से करना चाहिये । इसके फलस्वरूप चित्त सुषुम्ना में संलग्न रहता है और उसमें प्राणवायु दौड़ता है ।। ६२ ।। जब मलशोधन हो जाय और प्राण चलने लगे तब प्रयत्नपूर्वक अपान की ऊर्ध्वगति करनी चाहिये ।। ६३ ।। इसके लिये जो गुदा का आकुंचन किया जाता है उसे मूलबन्ध कहते हैं । यह अपान ऊपर आकर अग्नि के साथ संयुक्त होता है और ऊपर चढ़ता है ।। ६४ ।। जब यह अग्नि प्राण स्थान में पहुँच प्राणवायु से मिलता है और वे सोती हुई कुण्डलिनी को प्राप्त होते है तो उसकी उष्णता से तप्त होकर तथा वायु से चलित होकर कुण्डलिनी सीधी हो जाती है और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है ।। ६५-६६ ।।

ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ।। ६७ ।।
विष्णुग्रन्थि प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थि तदुद्भवम् ।। ६८ ।।
भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम् ।
अनाहताख्य यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ।। ६९ ।।
तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम् ।
चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रविग्रहान् ।। ७० ।।

रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्म-ग्रन्थि को भेदकर यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के भीतर बिजली की रेखा की तरह चढती है ।। ६७ ।। शीघ्र ही यह हृदय स्थिति विष्णु-ग्रन्थि को प्राप्त होती हुई और भी ऊपर (आज्ञा चक्र) । जाती है और वहाँ रुद्रग्रन्थि को प्राप्त होती है ।।६८।। वहाँ से यह भौहों के मध्य स्थान को भेदती हुई चन्द्रमा के स्थान में पहुँचती है, जहाँ सोलह पँखुरियों वाला अनाहत चक्र स्थित है ।। ६९ ।।

वहाँ यह चन्द्रमा से उत्पन्न द्रव को सोख लेती है तथा प्राणवायु के वेग से रक्त और पित्त को सूर्य ग्रहण कर लेता है ॥ ७० ॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम् ।
तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम् ॥ ७१ ॥
तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते ।
ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं स्रवतेतराम् ॥ ७२ ॥
तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषमेषु यत् ।
तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थस्यात्मरतो युवा ॥ ७३ ॥
प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।
क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥ ७४ ॥
इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः ।
प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च ॥ ७५ ॥

यह चन्द्र मंडल में जाकर वहाँ के द्रव पदार्थ को शोषण कर लेती है और उसे उष्ण कर देती है । तब वहाँ शीतलता कैसे रह सकती है ? ॥ ७१ ॥ यह चन्द्रमा के शुक्ल रूप को तप्त कर देती है और क्षुब्ध होती हुई ऊपर चढ़ती है ॥ ७२ ॥ इसके प्रभाव से जो चित्त पहले बाहरी पदार्थों में संलग्न रहता था वह परमार्थ में लग कर आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है ॥ ७३ ॥ इस प्रकार कुण्डलिनी अष्टधा प्रकृति को प्राप्त होकर शिव के साथ मिलती है और उसी के साथ लय को प्राप्त हो जाती है ॥ ७४ ॥ इससे अधो-भाग का रज और ऊपर का शुक्ल मिलकर शिव में लीन हो जाते है, तथा प्राण और अपान भी उन्हीं में लीन हो जाते है, क्योंकि वे समान रूप से उत्पन्न होते हैं ॥ ७५ ॥

भूतेऽल्पे च मनोल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते ।
धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥ ७६ ॥

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे ।
देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥ ७७ ॥
जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् ।
तस्यातिवाहिकं मुख्य सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥ ७८ ॥
जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः ।
इति त स्वस्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत् ॥ ७९ ॥
मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।
रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा ॥ ८० ॥

भौतिक देह चाहे छोटा हो या बड़ा हो जब उष्णता बहुत बढती है तो वह समस्त देह मे उसी प्रकार फैल जाती है जैसे गर्मी पाकर सुवर्ण फैल जाता है ॥ ७६ ॥ इसके प्रभाव मे आधिभौतिक देह आधिदैविक हो जाता है और शरीर अत्यन्त विमल होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है ॥ ७७ ॥ वह जड़ता को त्याग कर निर्मल चित्स्वरूप हो जाना है, जब कि अन्य देह जडतायुक्त ही बने रहते है ॥ ७८ ॥ ऐसे साधक का गर्भवास छूट जाता है और काल का भी उस पर वश नही चलता। उसको अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी मे सांप का भ्रम होता है, सीपी में चादी का भ्रम होता है, स्त्री में पुरुप का भ्रम होना है इसी प्रकार वह अपने देह सम्बन्धी भ्रम को समझ जाता है कि यह मिथ्या है ॥ ७९—८० ॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥ ८१ ॥
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।
मूलकन्द फणाग्रेण दष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥ ८२ ॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥ ८३ ॥

वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन् कुम्भकाविष्टमानसः ।
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥
ज्वलनाघातपवना घातोरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थि ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थि भिनत्त्यतः ॥ ८५ ॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारणा ॥ ८६ ॥
इति ॥

इससे पिण्ड और ब्रह्माण्ड की; लिंग-देह और सूत्रात्मा की एकता होकर अपनी आत्मा और स्वयं प्रकाश रूप चैतन्य में एक्य भाव हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति पद्मतन्तु के समान होती है और कमल के कन्द के समान ही मूलकंद को फणाग्र से देखकर, अपनी पूंछ को मुख में डालकर ब्रह्मरंध्र के मुख को ढक कर सोती रहती है। उसके लिये साधक को पद्मासन लगाकर, गुदा का आकुंचन करके कुम्भक द्वारा वायु को ऊपर चढ़ाना चाहिये। वायु के जोर से स्वाधिष्ठान चक्र की अग्नि को प्रज्ज्वलित करे ॥ ८३—८४ ॥ तब अग्नि और पवन दोनों के आघात से सोई हुई कुण्डलिनी जागृत होती है और ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि तथा रुद्र-ग्रन्थि को तथा षटचक्र को भेदन करती हुई सहस्त्र दल कमल में पहुँच जाती है। वहाँ यह शिव से शक्तिरूप में मिलकर आनन्द को प्राप्त होती है । यही श्रेष्ठ और मोक्षदायक अवस्था होती है ॥ ८६ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा विज्ञातवानस्य लोकेऽस्मिन्नजरामरः ॥ १ ॥

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥ २ ॥
जरामृत्यु गदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥
त मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥
अभ्यासं मेलन चैव युगपन्नैव सिध्यति ।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह् मेलनम् ॥ ५ ॥

अब खेचरी विद्या के सम्बन्ध मे बतलाते है, जिसके जानने से वृद्धावस्था तथा मृत्यु से छूट जाते है ॥ १ ॥ बुढ़ापा, मौत और रोगों में जो मनुष्य ग्रस्त है उनको निश्चयपूर्वक इस विद्या का अभ्यास करना चाहिये और जो महापुरुष ग्रन्थों से, भाव मे, अभ्यास से इसका ज्ञान रखता है उसीको सर्व भाव से गुरु मान कर तथा उसका आश्रय ग्रहण करके इसकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये । क्योंकि यह खेचरी विद्या बड़ी कठिन है और उसका अभ्यास और भी अधिक कठिन है ॥ २—४ ॥ इसका अभ्यास और मेलन (योग) दोनो एक साथ करने से अथवा दोनों को अलग-अलग करने से भी सिद्धि प्राप्त कर सकना संभव नहीं होता ॥ ५ ॥

अभ्यासं लभते ब्रह्मन् जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलनं जन्मनां तत्तु शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधिनम् ।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥ ७ ॥
यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसन्ततौ ॥ ८ ॥
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा ।

तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृते ॥ ९ ॥
शास्त्रं विनाऽपि संबोद्धु गुरवोऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने ॥ १० ॥

अभ्यास तो किसी जन्म मे मिल भी जाता है पर मेलन (योग) सैकडों जन्म में भी नही मिलता ॥ ६ ॥ बहुत से जन्मों तक अभ्यास करने पर किसी जन्म मे योगी 'मेलन' को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ जब साधक गुरु के मुख से 'मेलन' का मंत्र प्राप्त करता है, तो उसे शास्त्रानुकूल सिद्धि की भी प्राप्ति हो जाती है ॥ ८ ॥ जब साधक ग्रन्थ के अर्थ को समझ कर 'मेलन' को प्राप्त करता है, तो भी वह संसार से छूटकर शिवत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥ शास्त्र का होना भी अत्यावश्यक है, क्योंकि इसके विना गुरु भी यथार्थ बोध नहीं करा सकते । इसलिये शास्त्र का प्राप्त होना भी बड़े महत्व का है ॥ १० ॥

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः ।
यदा सलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥ ११ ॥
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥ १२ ॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत् ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥ १३ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥ १४ ॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम् ।
तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥ १५ ॥

जब तक शास्त्र की प्राप्ति न हो तब तक पर्यटन करते हुये प्रयत्नशील रहे । जब सच्चा शास्त्र मिल जायगा तब सिद्धि हाथ में ही

रखी है ।। ११ ।। शास्त्र के बिना सिद्धि तीनो लोक में कहं।। २४ ।। नही देती। इसलिये मेलन (योग) का देने वाला, शास्त्र का जाना वाला और अभ्यास का कराने वाला गुरु भगवत स्वरूप ही है; ऐसा समझ कर उसका आश्रय लेना चाहिये और इस शास्त्र को प्राप्त कर लेने पर किसी अन्य के सम्मुख प्रकट न करना चाहिये ।। १२—१३ ।। इसलिये इसको हर तरह से प्रयत्न करके गुप्त रखना चाहिये और जहाँ कही इस दिव्य योग का ज्ञाता गुरु रहता हो, वहाँ उसके पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण करके सम्यक रूप से इसका अभ्यास करना चाहिये ।। १४—१५ ।।

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत् ।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन् खेचरीबीजपूरया ।। १६ ।।
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ।। १७ ।।
आख्यात खेचरीबीज तेन योगः प्रसिध्यति ।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ।। १८ ।।
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टम वर्णं विलोमेनापर मुने ।। १९ ।।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमा ।
इन्दोश्च बहुभिन्नं च कूटोऽय परिकीर्तितः ।। २० ।।

योगी को इस विद्या द्वारा खेचरी शक्ति की प्राप्ति होती है । खेचरी में खेचरी के बीज सहित खेचरी का योग करने से साधक खेचरो (देवताओं) का अधीश्वर बनकर सदा उन्ही में रहता है । खेचर का प्रतीक 'ह'कार आवसथ (धारणा) का 'ई'कार, अग्नि का 'र'कार और जल का 'म'कार है । इन सब का योग करने से 'ह्लीं' होता है जो कि खेचरी का बीज मंत्र है और इसी से खेचरी

होता है । सोमांश में 'स' कार है, उसका प्रतिलोम से अक्षर 'भ' होता है। फिर चन्द्रमा का बीजाक्षर 'स' है उसका आठवां अक्षर विलोम से 'म' होता है । फिर से पाँच अक्षर उलटा गिनने से 'प' अक्षर निकलता है। चन्द्रमा का बीज 'स' और अनेक वर्ण वाला 'क्ष' अन्तिम अक्षर है । (इस प्रकार "ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं" यह खेचरी का बीज मंत्र प्रकट होता है) ।। १६—२० ।।

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तास्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ।। २१ ।।
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः ।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेऽपि सुयन्त्रितः ।। २२ ।।
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ।। २३ ।।
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ।। २४ ।।
अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे ।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ।। २५ ।।
ततः समेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत् ।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत् ।। २६ ।।

यह खेचरी मंत्र सब प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। यह गुरु के उपदेश से ही सिद्ध होता है। जो नियम से इसका प्रतिदिन बारह बार जप करता है उसे अन्तःकरण में स्थित देहसम्बन्धी माया नहीं व्यापती। जो इसे भावपूर्वक पाँच लाख जपेगा उसको खेचरी की सिद्धि स्वयमेव हो जायगी, सब विघ्न दूर होकर देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होगी ।। २१—२३ ।। इससे शरीर पर पड़ी हुई झुर्रियाँ मिट जाती हैं इसमें कुछ भी संशय नहीं । इस महाविद्या को जब

भली प्रकार जान ले तब उसका अभ्यास भलीभांति करे ॥ २४ ॥ ऐसा न करने से खेचरी की सिद्धि न होकर उलटा कष्ट ही उठाना पड़ता है। विधिपूर्वक अभ्यास करने पर भी सफलता न हो तो भी 'संमेलक' (गुरु शिक्षक आदि) के बताये अनुसार सदैव इसका जप करता रहे। बिना उपयुक्त शिक्षक के इसमें कभी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ॥ २५—२६ ॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥ २७ ॥
तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥ २८ ॥
स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन लोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २९ ॥
हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥

जब इस विद्या के शास्त्र का ठीक तरह से ज्ञान हो जायगा तब साधक को सिद्धि प्राप्त करने में देर न लगेगी ॥ २७ ॥ सर्व प्रथम साधक को सात दिन तक तालु के मूल स्थान को गुरु के आदेश के अनुसार घिसकर वहाँ का सब मैल दूर करना चाहिये ॥ २८ ॥ फिर थूहर के पत्ते के समान उत्तम धार वाले शुद्ध चाकू आदि से तालु मूल को एक बाल के बराबर काटे (अथवा गुरु या शिक्षक से कटावे) ॥ २९ ॥ कटे हुये स्थान के ऊपर हर्रं और सैन्धे नमक का चूर्ण भुरभुराता रहे। सात दिन के पश्चात् फिर पूर्ववत् बाल बराबर काटे ॥ ३० ॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिरावन्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत् ।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥ ३२ ॥
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्य सङ्घर्षणान्मुने ।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥ ३३ ॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रम चारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥ ३४ ॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखाऽवधिर्मुने ।
अधस्तात्कण्ठकूपान्त पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥ ३५ ॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।
तिर्यक् चूलितल याति अधः कण्टबिलावधिः ॥ ३६ ॥

इस क्रम से निरन्तर प्रयत्न करते रहने से जीभ का तालू के साथ वाला बन्धन कट जायगा ॥ ३१ ॥ तब जीभ के अग्रभाग को कपड़े से लपेट कर धीरे-धीरे दोहन करे (बाहर की तरफ खीचे) इस प्रकार छः मास तक अभ्यास करने से जीभ बढ़ कर भौहो के मध्य तक पहुंचने लगेगी और बगल में कान के छेद तक पहुँचने लगती है। बाहर की तरफ जीभ ठोड़ी तक पहुँच जाती है। जब इस अभ्यास को बराबर किया जाय तो तीसरे वर्ष में जीभ बालो तक पहुँच जाती है और बगल मे कन्धे तक तथा नीचे कण्ठकूप तक पहुँचने लगती है। आगामी तीन वर्ष के अभ्यास से जीभ ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचकर उसे ढक लेगी इसमें संशय नही। तब वह गर्दन के पीछे तक और नीचे कण्ठ के अन्त तक पहुँच जायगी ॥३२—३६॥

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकवाटभित् ।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता यानि दुर्लभाम् ॥ ३७ ॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे ॥ ३८ ॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥ ३९ ॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥ ४० ॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अंगुल्यग्रेण सघृष्य जिह्वामात्रं निवेशयेत् ॥ ४१ ॥

धीरे-धीरे जिह्वा ब्रह्मरंध्र को भेद जाती है । यह समस्त बीजाक्षर की विधि सहित विद्या बडी ही कठिन है। इस पूर्वोक्त छःओं बीजाक्षरों से षडंगन्यास और कराऩ्यास करना चाहिये तब सम्पूर्ण सिद्धि सम्भव होती है ॥ ३७—३८ ॥ इस प्रकार का अभ्यास बहुत सावधानी से क्रमशः धीरे-धीरे करना चाहिये । जल्दी करने से शरीर की हानि होना सम्भव है । इसलिये इस अभ्यास में कभी जल्दी नही करनी चाहिये । जब बाहर के मार्ग से जीभ ब्रह्म विवर के भीतर जाने लगे तो उसे अंगुली से उठाकर उसके भीतर करदे ॥ ४०—४१ ॥

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत् ॥ ४२ ॥
मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।
खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥ ४३ ॥
जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वाऽपि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥४४॥
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ।
प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥ ४५ ॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषि ।
षाण्मासान्मथनावस्थाभावेनैव प्रजायते ॥ ४६ ॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् ।
न सदा मथनं शस्त मासे मासे समाचरेत् ।। ४७ ।।
सदा रसनया योगी मार्ग न परिसक्रमेत् ।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवं ।। ४८ ।।
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ।। ४९ ।।
इति ।।

इस प्रकार तीन वर्ष तक करने से जीभ ब्रह्म-द्वार में प्रवेश कर जायगी। जब वह प्रवेश कर जाय तब उसका विधिपूर्वक मंथन आरम्भ करना चाहिये ।। ४२ ।। कोई साधक बिना मंथन के ही खेचरी करते है। जिनको खेचरी मत्र सिद्ध हो चुका है वे ऐसा कर सकते हैं ।। ४३ ।। तो भी जप और मथन दोनो करने से फल शीघ्र प्राप्त होता है। मंथन के लिये सुवर्ण, चाँदी अथवा लोहे की शलाका के सिरे पर दुग्धयुक्त तन्तु लगाकर उसे नाक के भीतर डाले । फिर प्राण को हृदय में निरोध करके सुखासन पर बैठकर, आँखो को भ्रकुटी स्थान में लगाकर धीरे-धीरे मथन करे। छः मास तक इस प्रकार मंथन करने से उसका प्रभाव दिखलाई पड़ने लगता है ।। ४४—४६ ।। तब उसकी अवस्था इस प्रकार की होती है जैसी बालक की सुषुप्ति अवस्था में । मथन नित्य नही करना चाहिये वरन् महीने में एकबार करना होता है । इसी प्रकार जिह्वा को बार-बार ब्रह्मरंध्र में प्रविष्ट न करे। इस प्रकार बारह वर्ष अभ्यास करने पर सिद्धि निश्चित रूप से होती है ।। ४८ ।। उस समय योगी को समस्त विश्व अपने भीतर दिखाई देने लगता है, क्योंकि जीभ के ब्रह्मरंध्र तक जाने के मार्ग मे ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है ।। ४९ ।।

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

तृतीयोऽध्यायः

ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम् ।

पद्मज उवाच—

अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर ।
अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥ १ ॥
प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च ।
पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥ २ ॥
कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः ।
द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥ ३ ॥
अपरं संत्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम् ।
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम् ॥ ४ ॥
मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम् ।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥ ५ ॥

ब्रह्माजी बोले—मेलन मंत्र इस प्रकार है—"ह्रीं भं सं मं पं क्षम् । हे शङ्कर अमावस्या, प्रतिपदा और पौर्णमासी का मूल आशय क्या है ? ॥ १ ॥ प्रतिपदा से सूर्य का आशय है और पौर्णमासी से चन्द्रमा का । अमावस्या का अर्थ सूर्य और चन्द्र दोनो का अभाव है ॥ २ ॥ मनुष्य कामनाओं में ग्रसित होकर विषयाङ्काक्षी होता है और विषय में पड़कर कामना बढ़ती जाती है । इसलिये शुद्ध परमात्म-भाव की प्राप्ति के लिये विषय और कामना दोनों का त्याग करना और आत्मा में ध्यान लगाना ही आवश्यक है ॥ ३ ॥ जो अपने हित की इच्छा रखता हो उसे अन्य सब मिथ्या विषयों को त्याग देना चाहिये और शक्ति में प्रवेश करके उसी में स्थित रहना चाहिये ॥ ४ ॥ मन द्वारा मन को देखकर और समझकर उसका त्याग करना ही परमपद है । उत्पत्ति और स्थिति का प्रधान विन्दु मन ही है ॥ ५ ॥

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम् ॥ ६ ॥
चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम् ।
ज्ञात्वा सुषुम्ना तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥ ७ ॥
स्थित्वाऽसौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत् ।
वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्वं प्रकृतिमेव च ॥ ८ ॥
षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम् ।
मूलाधार स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥ ९ ॥
अनाहत विशुद्धि च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम् ।
आधार गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम् ॥ १० ॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम् ।
विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥ ११ ॥

यह विन्दु मन से ही उत्पन्न होता है, जैसे दूध से घी प्रकट होता है। उस विन्दु मे कोई बन्धन नही है, वरन जो कुछ बन्धन है वह सब मन का ही है ॥ ६ ॥ सूर्य और चन्द्र के मध्य मे जो शक्ति रहती है वही बधनरूप है । इसलिये इन दोनों के मध्य की सुषुम्ना का ज्ञान प्राप्त करके उसके भीतर प्राण को चलाना आवश्यक है ॥ ७ ॥ प्राण को इसी विन्दु स्थान में स्थिर करके नासिका से वायु का निरोध करना चाहिये । यही प्राणवायु, विन्दु, सत्व और प्रकृति का वर्णन है ॥ ८ ॥ इनके साथ ही षटचक्रों की जानकारी भी प्राप्त करनी चाहिये जिससे सुख की स्थिति प्राप्त हो सके । ये षटचक्र इस प्रकार हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा । मूलाधार का स्थान गुदा है, उसके ऊपर लिङ्ग के समीप स्वाधिष्ठान है, मणिपुर नाभि में है, अनाहत हृदय में, विशुद्ध कण्ठ में और आज्ञा-चक्र मस्तक में होता है ॥ ९—११ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले ।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तयैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥ १२ ॥
एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत् ।
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ॥१३॥
समाधिमेकेन सममममृतं यान्ति योगिनः ।
यथाऽग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ॥ १४ ॥
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ।
घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ॥ १५ ॥
भिन्ने तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते ।
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम् ॥ १६ ॥
गुरुवाक्यसमा भिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत् ।
कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्म तरन्ति च ॥ १७ ॥

इन समस्त चक्रों का ज्ञान प्राप्त करके सुख मण्डल रूप सहस्र दल कमल में प्रवेश करे और प्राण को ऊर्ध्व भाग मे खीचकर स्थित करे ॥ १२ ॥ इस प्रकार प्राण का अभ्यास करने से ब्रह्माण्ड मे स्थिति हो जाती है । प्राणवायु, विन्दु, चक्र तथा चित्त का उचित रूप से अभ्यास करके योगीजन एक्य रूप की समाधि तक पहुँच जाते है और अमृत-पद को प्राप्त होते हैं । जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि रहती है, पर घिसने के बिना वह प्रकट नही होती, उसी प्रकार सतत अभ्यास के बिना योग विद्या का दीपक भी प्रकाशित नहीं होता । अथवा जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बाहर प्रकाश नही कर सकता जब तक कि उस घड़े का भेदन न किया जाय उसी प्रकार शरीर रूपी घट के भीतर रखे हुये ब्रह्मरूपी दीप का प्रकाश भी उस समय तक बाहर नहीं निकलता जब तक गुरु के उपदेश से इस घट का भेदन नही होता । इस प्रकार इस अपार सागर को पार करने का उपाय गुरु रूपी कर्णधार ही है ॥ १३--१७ ॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ।
परायामंकुरी भूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता ॥ १८ ॥
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता ।
पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत् ॥ १९ ॥
तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः ।
सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥ २० ॥
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते ।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥ २१ ॥
विराट्हिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः ।
ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥२२॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।
अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह ॥ २३ ॥

अभ्यास और श्रेष्ठ वासना की शक्ति द्वारा ही वे इस भव सागर को तैर कर पार करने में समर्थ होते होते हैं । वाणी परा में अंकुरित होती है, पश्यन्ती में उसके दो भाग होते हैं, मध्यमा में पुष्पित होती है और बैखरी में विकास को प्राप्त हो जाती है । इस विधि से जिस प्रकार वाणी का आविर्भाव होता है उसके विलोम-क्रम से ही वह लय हो जाती है ॥ १८--१९ ॥ इस वाणी का बोध कराने वाला अथवा परमदेव मैं ही हूँ, इस प्रकार निश्चय करके जो व्यक्ति तदनुसार व्यवहार करता है ॥ २० ॥ उससे कोई उच्च या नीच कैसा भी शब्द कहे, पर वह उसमें लिप्त नहीं होता । विश्व, तैजस और प्राज्ञ--ये तीन पिण्डक तथा विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर--ये तीन ब्रह्माण्ड के और भूः, भुवः स्वः--ये तीन लोक के भेद हैं, जो अपनी उपाधि के लय होने पर प्रत्यगात्मा में लीन हो जाते हैं । ज्ञानाग्नि से तप्त होने पर ब्रह्माण्ड भी अपने मूल रूप में विलीन हो जाता है ॥ २१--२३ ॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते ।
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥ २४ ॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ।
ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् ॥ २५ ॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ।
प्रकाशयन्तमन्तस्स्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् ॥ २६ ॥
विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः ।
मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः ॥ २७ ॥
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति ।
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ॥ २८ ॥
जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम ।
इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः ॥ २९ ॥
अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः ।
दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥ ३० ॥

परमात्मा में मिल जाने से वह ब्रह्म रूप हो जाता है। उस समय एक ऐसा अगाध और गम्भीर रूप हो जाता है जो न प्रकाश कहा जा सकता है न अन्धकार। तब केवल सत्स्वरूप एक अव्यक्त तत्व ही शेष रहता है। जैसे घट के भीतर दीपक की ज्योति रहती है ऐसी ही एक निर्धूम ज्योति अपने अन्तःकरण में प्रकाशित होती रहती है। इसी स्वरूप में उस कूटस्थ अव्यय रूप का ध्यान करना चाहिये ॥ २४--२६ ॥ आत्मा अपने मूल रूप में विज्ञानमय होता है, पर देह में आकर वह मायावश, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त होकर विमोहित हो जाता है। कितने ही जन्मों के पश्चात् जब शुभ कर्म उदय होते हैं तब उसके भीतर अपने विकारों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं वास्तव कौन हूँ और

यह दोषमय संसार कहाँ से आ गया ? ॥ २७--२८ ॥ जाग्रत और स्वप्न अवस्था में तो मैं अपने को कर्ता समझकर व्यवहार करता हूँ, पर सुषुप्ति में मेरी क्या अवस्था होती है ? इस प्रकार चिन्ता करता हुआ वह अपने आभासरूप पर विचार करता है॥ २९ ॥ रुई का ढेर जैसे आग से जलने लगता है, वैसे ही चिदाभास अज्ञान में पड़कर सांसारिक ताप से नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् ।
विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ॥ ३१ ॥
मनोमयज्ञानमयान् सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु ।
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥ ३२ ॥
ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमा सुप्तेरा मृतेस्तु यः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ॥३३॥
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ३४ ॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥ ३५ ॥

इत्युपनिषत् ॥

इस प्रकार सांसारिक ज्ञान के मिटने पर प्रत्यगात्मा विस्तार को प्राप्त होकर विज्ञान का भी नाश कर देता है। इस प्रकार मनोमय और विज्ञानमय के पूर्णतः मिल जाने पर शाश्वत प्रकाश के समान आत्मा ही अन्तर में प्रकाशित होता रहता है॥ ३२ ॥ जो आत्मज्ञानी ऐसी आत्मा का नित्य प्रति ध्यान करता रहता है और मृत्यु के

समय भी उस ध्यान को स्थिर रखता है, वह जीवन्मुक्त ही है, वह धन्य है और कृतकृत्य है ॥ ३३ ॥ जब उसका अन्तिम समय आ जाता है तब वह जीवन्मुक्त से विदेहमुक्त पद को प्राप्त हो जाता है, उसका अन्त ऐसा ही होता है जैसे हवा का चलना बन्द हो जाता है ॥ ३४ ॥ जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित अर्थात् पञ्च-भूतों से परे, नित्य और अव्यय है, जो आदि और अन्त से रहित है, जो महान और ध्रुव (अटल) है, वही शुद्ध और अविकारी ब्रह्म अन्त में शेष रहता है ॥ ३५ ॥

॥ योगकुण्डली उपनिषद् समाप्त ॥

ध्यानबिन्दूपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्य करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे; वह हम दोनों का पालन करे; हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो; हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥ १ ॥
बीजाक्षरं परं बिन्दु नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥ २ ॥
अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥ ३ ॥
वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः ।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम् ॥ ४ ॥
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ॥ ५ ॥
एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ ६ ॥

यदि पर्वत के समान अनेक योजन विस्तार वाले पाप भी हों, तो भी वे ध्यान योग से नष्ट हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त और किसी तरह उनका नाश नहीं होता ॥ १ ॥ बीजाक्षर परम विन्दु है और उसके ऊपर नाद की स्थिति है। जब वह नाद (शब्द) अक्षर में

लय हो जाता है तब शब्द रहित परमपद का रूप होता है ॥ २ ॥ अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है, उसके पाने से ही योगी के सशय की निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥ केशाग्र के सौवे भाग का हज़ारवा और उसका आधे का आधा भाग, उसका भी क्षय हो निरजन होता है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार फूलो मे गन्ध रहती घी रहता है, तिल मे तेल और पाषाण मे सोना होता है, माला के दाने सूत मे पिरोये रहते है, उसी प्रकार सब भूत व्याप्त है। स्थिर बुद्धि वाला ज्ञानी मोह रहित होकर ऐसे ज्ञान प्राप्त करके उसमे स्थित रहता है ॥ ५—६ ॥

तिलाना तु यथा तैल पुष्पे गन्ध इवाश्रित ।
पुरुषस्य शरीरे तु सबाह्याभ्यन्तरे स्थित ॥ ७ ॥
वृक्ष तु सकल विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला ।
सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थित ॥ ८ ॥

ओमित्येकाक्षर ब्रह्म ध्येय सर्व मुमुक्षुभि ।
पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामह ॥ ९ ॥
अकारे तु लय प्राप्ते प्रथमे प्रणवाशके ।
अन्तरिक्ष यजुर्वायुर्भुवो विष्णुर्जनार्दन ॥ १० ॥

उकारे तु लय प्राप्ते द्वितीये प्रणवाशके ।
द्यौ सूर्य सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वर ॥ ११ ॥
मकारे तु लय प्राप्ते तृतीये प्रणवाशके ।
अकार पीतवर्ण स्याद्रजोगुण उदीरित ॥ १२ ॥
उकार सात्त्विक शुक्लो मकार कृष्णतामस ।
अष्टाङ्ग च चतुष्पाद त्रिस्थान पञ्चदैवतम् ॥ १३ ॥

जिस प्रकार तेल का आश्रय तिल है और गन्ध का आश्रय पुष्प है इसी प्रकार ब्रह्म पुरुष शरीर के भीतर और बाहर स्थित

रहता है ।। ७ ।। वृक्ष को सम्पूर्ण जान लेने पर उसकी छाया निष्कल होती है, इसी प्रकार आत्मा सब कला रहित स्थान मे स्थित रहता है ।। ८ ।। सब मोक्षाभिलाषी व्यक्ति ॐकार रूप एकाक्षर ब्रह्म का ही ध्यान करते है। इस प्रणव के प्रथम अंश 'अ'कार में पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद, भूः तथा पितामह का लय होता है । दूसरे अंश 'उ'कारमें अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवः और विष्णु का लय होता है । तीसरे अंश 'म'कार में द्यौ, सूर्य, सामवेद, स्वर्लोक और महेश्वर का लय होता है। 'अ'कार पीले रङ्ग और रजोगुण वाला कहा जाता है, 'उ'कार श्वेत वर्ण और सतोगुण वाला और 'म'कार कृष्णवर्ण तथा तामस गुण वाला है। इस प्रकार ॐकार आठ अङ्ग, चार पद, तीन नेत्र और पाँच दैवत वाला होता है ।। ९—१३ ।।

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः ।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।।१४।।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ।। १५ ।।

ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः ।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।। १६ ।।

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः ।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ।। १७ ।।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ।। १८ ।।

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।
अङ्गुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् । १९ ।

इडया वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम् ।
ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीवृतम् । २० ।

ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते।
रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥ २१ ॥

इस प्रकार से ॐकार को जो नही जानता वह ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। यह प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। बाण से सावधानी के साथ तन्मय होकर इस लक्ष्य को बेध करने और 'अवर' को जान लेने से सब क्रियाओं से निवृत्ति हो जाती है ॥ १४—१५ ॥ ॐकार से देवता हुये, ॐकार से स्वर हूये और ॐकार से ही तीनों लोक के समस्त चराचर हुये ॥ १६ ॥ इसका ह्रस्व अंश पापों को हरता है, दीर्घ अव्यय स्वरूप सम्पत्ति को देता है, इस प्रकार अर्धमात्रा युक्त प्रणव मोक्षदायक है ॥ १७ ॥ तेल की अविच्छिन्न धार के समान, घण्टा के दीर्घ निनाद के समान नाद के अग्र में वाच्य रहित प्रणव है, उसे जानने वाला ही वेदज्ञ है ॥ १८ ॥ हृदयरूपी कमल की कर्णिका मे दीपशिखा तुल्य, अंगुष्ठमात्र आकार के ॐकार रूप ईश्वर का ध्यान करे ॥ १९ ॥ इड़ा (बाँयी नासिका) से वायु को उदर में भरे और देह के मध्य में ज्वालामय ॐकार का ध्यान करे। पूरक को ब्रह्मा और कुम्भक को विष्णु और रेचक को रुद्र कहा गया है, ये तीनों प्राणायाम के देवता हैं ॥ २०—२१ ॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासा देवं पश्येन्निगूढवत् ॥ २२ ॥
ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्।
यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ्नादलयावधि ॥ २३ ॥
गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीप्तम्।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥ २४ ॥

आत्मा को नीचे की अरणी के रूप में ग्रहण करके प्रणव को ऊपर की अरणी बनावे। इन दोनों के मंथन रूप ध्यानाभ्यास से गूढ तत्व का दर्शन करे ॥ २२ ॥ ॐकार की ध्वनि के नाद सहित रेचक का अन्त होने पर नाद का लय हो जाता है। इस प्रकार का ध्यान अपनी सामर्थ्य के अनुसार करे ॥ २३ ॥ गमागम में स्थित और गमनादि से शून्य ऐसे करोड़ों सूर्य की दीप्ति के सदृश्य, सबके हृदय में रहने वाले हंसात्मक ॐकार का जो दर्शन करते है वे निष्पाप हो जाते है ॥ २४ ॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थिति प्रलयकर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २५ ॥
अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम् ।
तस्य मध्यगतो भानुर्भानुमध्यगतः शशी ॥ २६ ॥
शशिमध्यगतो वह्निर्वह्निमध्यगता प्रभा ।
प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥ २७ ॥
तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम् ।
श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम् ॥ २८ ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।
एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः ॥ २९ ॥
अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् ।
चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत् ॥ ३० ॥

सृष्टि, स्थिति और लय होने का कारण जो मन में है उसका जहाँ विलय होता है वही विष्णु का परमपद है ॥ २५ ॥ आठ दल और बत्तीस पंखुड़ियों का जो हृदय कमल है उसके मध्य में सूर्य और सूर्य के मध्य में चन्द्रमा स्थित है ॥ २६ ॥ चन्द्रमा के मध्य में

अग्नि है और अग्नि के मध्य मे प्रभा है, प्रभा के मध्य मे नाना प्रकार के रत्नो से जडा पीठस्थान है, उसके मध्य मे निरजन भगवान वासुदेव है जो श्रीवत्स कौस्तुभमणि और मणि मुक्ताओ को धारण किये हुये है ॥ २७—२८ ॥ शुद्ध स्फटिक के समान, करोडो चन्द्रमा की-सी प्रभा वाले महाविष्णु का विनयावनत भाव से ध्यान करे ॥ २९ ॥ अलसी के पुष्प के समान नाभिस्थान मे प्रतिष्ठित चार भुजा वाले महाविष्णु का पूरक करता हुआ ध्यान करे ॥ ३० ॥

कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम् ।
ब्राह्मण रत्नगौराभ चतुर्वक्त्र पितामहम् ॥ ३१ ॥
रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थ त्रिलोचनम् ।
शुद्धस्फटिकसकाश निष्कल पापनाशनम् ॥ ३२ ॥
अब्जपत्रमध पुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।
कदलीपुष्पसकाश सर्ववेदमय शिवम् ॥ ३३ ॥
शताब्द शतपत्राढ्य विप्रकीर्णाब्जकर्णिकम् ।
तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत् ॥ ३४ ॥
पद्मस्योद्घाटन कृत्वा सूर्यचन्द्राग्निवर्चस ।
तस्य हृद्बीजमाहृत्य आत्मान चरते ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

कुम्भक के समय हृदय स्थान पर कमलासन पर विराजमान लालिमायुक्त और गौर वर्ण वाले, चार मुह वाले पितामह ब्रह्मा का ध्यान करे ॥ ३१ ॥ रेचक के समय ललाट स्थान मे श्वेत स्फटिक के समान, निष्कल, पापनाशक त्रिलोचन भगवान शङ्कर का ध्यान करे ॥ ३२ ॥ कदली पुष्प के समान नीचे की तरफ फूल, ऊपर डण्डी, नीचे मुख, इस प्रकार सर्व वेदमय शिव है ॥ ३३ ॥ सौ आरे, सौ पत्ते और विस्तीर्ण पखुडियो से युक्त हृदय-कमल पर सूर्य, चन्द्रमा

और अग्नि का इक के ऊपर एक करके दर्शन करे। कमल के विकसित होने से सूर्य, चन्द्र, अग्नि का बोध होता है। इनके बीज को ग्रहण करने से स्थिर आत्म-स्थिति प्राप्त होती है ॥ ३४—३५ ॥

त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम् ।
त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३६ ॥
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्त वेद स वेदवित् ॥ ३७ ॥
यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः ।
तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः ॥ ३८ ॥
अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम् ।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत् ॥ ३९ ॥
भ्रूमध्ये तु ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतस्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥ ४० ॥

तीन स्थान, तीन पात्र, तीन ब्रह्म, तीन अक्षर, तीन मात्रा और अर्धमात्रा मे जो इनको जानता है वह वेदज्ञ है ॥ ३६ ॥ तेल की धार के समान अविच्छन्न और दीर्घ घण्टनिनाद के सदृश्य विन्दु, नाद, कला से अतीत को जो जानता है वह वेदज्ञ है ॥ ३७ ॥ जिस प्रकार कमल की नाल से जल को खीच लिया जाता है उसी प्रकार वायु को खीचकर योगी योग साधन करे ॥ ३८ ॥ सम्पुटित कमल को अर्धमात्रा रूप करके वायु को सुषुम्ना द्वारा खीचकर भ्रकुटी स्थान में लय करे ॥ ३९ ॥ भौहों के मध्य में ललाट स्थान में, जहाँ नासिका का मूल है, वहाँ पर अमृत स्थान है, वही ब्रह्म का महान स्थान है ॥ ४० ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।

ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ४१ ॥
आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः ।
एतेषामतुलान्भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥ ४२ ॥
सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम् ।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥ ४३ ॥
योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ।
आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥ ४४ ॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ।
योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुख तथा ॥ ४५ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के छः अङ्ग हैं ॥ ४१ ॥ संसार में जितनी जीव योनियाँ हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं, इनके बहुसंख्यक भेदों को महेश्वर ही जानते हैं ॥ ४२ ॥ सिद्ध, भद्र, सिंह, पद्म चार मुख्य आसन है। प्रथम चक्र आधार है और दूसरा स्वाधिष्टान है ॥ ४३ ॥ इन दोनों के मध्य में कामरूप योनिस्थान है। गुदास्थान मे जो आधार-चक्र है उसमें चार दल वाला कमल है। उसके मध्य में काम नाम वाली योनि है जिसकी वन्दना सिद्ध करते है। योनि के मध्य मे पश्चिमाभिमुख लिङ्ग वर्तमान है ॥ ४४—४५ ॥

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित् ।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥ ४६ ॥
चतुरस्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥ ४७ ॥
स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते ।
मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ॥ ४८ ॥
तन्नाभिमण्डल चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।

द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥ ४९ ॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत् ॥ ५० ॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ॥ ५१ ॥

उसके मस्तक में जो मणि के समान प्रकाश है उसे योगीजन ही जानते हैं। तप्त सुवर्ण के से वर्ण वाला और बिजली की धारा के समान सुप्रकाशित, अग्नि स्थान से चार अंगुल ऊर्ध्व और मेढ्र स्थान के नीचे स्वशब्दयुक्त प्राण स्थित है, जो स्वाधिष्ठान चक्र के आश्रय में रहता है ॥ ४६—४७ ॥ मेढ्र के मूल में स्वाधिष्ठान चक्र है। वहाँ मणि के तन्तु के समान वायु से पूर्ण शरीर है ॥ ४८ ॥ नाभि-मण्डल में जो चक्र है वह मणिपूरक कहा जाता है। वहीं पर बारह आरा वाले महाचक्र में पुण्य-पाप का नियंत्रण होता है ॥ ४९ ॥ जब तक जीव इस तत्व को नही जान लेता तब तक उसे भ्रमते रहना पड़ता है। मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के आकार वाला कन्द है, उसी से बहत्तर हजार नाडियाँ निकली हैं, जिनमें से बहत्तर को मुख्य कहा गया है ॥ ५०—५१ ॥

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥ ५२ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहुरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥ ५३ ॥
एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिनां सदा ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ५४ ॥
इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः ।
इडा वामे स्थिता नाडी पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥५५॥

सुषुम्ना मध्य देशस्था प्राणमार्गास्त्रय स्मृता ।
प्राणोऽपान समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥ ५६ ॥
नाग कूर्म कृकरको देवदत्तो धनजय ।
प्राणाद्या पञ्च विख्याता नागाद्या पञ्च वायव. ॥ ५७ ॥

इन बहत्तर मे से दश प्रधान नाडियाँ प्राण को चलाने वाली कही गई है जो इस प्रकार है—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शङ्खिनी ॥ ५२–५३ ॥ योगियो को इस नाडी-चक्र का ज्ञान होना परमावश्यक है। इनमे से इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन नाडिया सूर्य, चन्द्र अग्नि देवताओ द्वारा प्रतिष्ठित है और प्राण सदैव इन्ही मे चला करता है। इडा बॉयीं ओर, पिङ्गला दाहिनी ओर सुषुम्ना दोनो के मध्य मे स्थित है, ये तीनो प्राण के मार्ग स्वरूप है । प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूम, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय—इस प्रकार ये प्राणादि पाँच और नागादि पाँच वायु प्रसिद्ध है ॥ ५४-५७ ॥

एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिण ।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्व च धावति ॥ ५८ ॥
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुक ॥ ५९ ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत् ।
अपानात्कर्षति प्राणोऽपान प्राणाच्च कर्षति ॥ ६० ॥
खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित् ।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुन ॥ ६१ ॥
हसहसेत्यमु मन्त्र जीवो जपति सर्वदा ।
शतानि षड् दिवारात्र सहस्राण्येकविंशति ॥ ६२ ॥

एतत्संख्याऽन्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ।। ६३ ।।

इस प्रकार ये वायु जीव रूप से सहस्रो नाडियों में रहते है । प्राण और वायुओं के वश में पड़ कर जीव ऊपर नीचे आता-जाता रहता है । वह कभी बाँये और कभी दाहिने मार्ग से चलता है, पर चञ्चल होने से दिखाई नही पड़ता । जैसे हाथों से इधर-उधर फेंकी हुई गेंद दौड़ती रहती है इसी प्रकार प्राण और अपान वायुओं के फेंकने से जीव को कही विश्राम का स्थान नहीं मिलता । अपान प्राण को खीचता है और प्राण अपान को खींचता है, उसी प्रकार जैसे रस्सी मे बँधा हुआ पक्षी खीच लिया जाता है । इस रहस्य को जो जानता है वह योगी है । यह प्राण 'ह'कार ध्वनि द्वारा बाहर जाता है और 'स'कार से भीतर आता है । इस प्रकार जीव सदा 'हंस-हंस' मन्त्र का जप करता रहता है और एक दिन-रात्रि में इस जप की संख्या इक्कीस हजार छः सौ होती है । इसको अजपा गायत्री कहते हैं, यह योगियों के लिये मोक्ष प्रदायिनी है ।। ६०-६३ ।।

अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।। ६४ ।।
अनया सदृशं पुण्य न भूतं न भविष्यति ।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।। ६५ ।।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ।। ६६ ।।
सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।। ६७ ।।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।। ६८ ।।

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वाऽथ पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्ति प्रभावान्नरः ॥ ६९ ॥
पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन् ।
मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७० ॥

इस अजपा गायत्री के संकल्प मात्र से मनुष्य पापों से छूट जाता है। न तो इसके समान कोई विद्या है, न जप है, न कोई पुण्य है, न हो सकता है। इसके द्वारा मनुष्य बिना कठिनाई के ब्रह्म-स्थान तक पहुँच जाता है ॥ ६४—६५ ॥ परमेश्वरी-शक्ति उसी मार्ग को अपने मुख से ढक कर सोई हुई है। वह वह्नियोग द्वारा जागृत होती है और तब सुषुम्ना में मन और प्राण वायु सहित ऊपर जाती है, उसी प्रकार जैसे सुई तागे को ले जाती है और जैसे ताली से द्वार को खोल लिया जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी शक्ति द्वारा मोक्ष-द्वार को खोलते हैं ॥ ६६—६८ ॥ हाथों को सम्पुटित करके, दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर, ठोड़ी से उरु प्रदेश को मजबूती से दबाकर, ब्रह्म का चित्त में ध्यान करते हुये, अपान वायु को बारम्बार ऊपर की ओर चलाता हुआ और खींची हुई प्राणवायु को नीचे लेता हुआ साधक कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव को अनुभव करता है ॥ ६९ ॥ जो योगी पद्मासन पर स्थित होकर नाड़ियों में वायु को भरकर कुम्भक द्वारा रोकता है वह निःसंशय रूप से मुक्ति पाता है ॥ ७० ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥ ७१ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ७२ ॥

कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
अपानप्राणयोरैक्य क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।। ७३ ।।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।। ७४ ।।

अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
उड्यारणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ।। ७५ ।।

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र वन्धो विधीयते ।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।। ७६ ।।

श्रम करने मे जो पसीना निकले उसे शरीर में ही मल लेना चाहिये; कटु, अम्ल और नमक को त्यागकर दूध का भोजन करना चाहिये। इस प्रकार साधन करने वाला मिताहारी, ब्रह्मचारी योगी एक वर्ष के भीतर सिद्धि प्राप्त कर लेता है, इसमे संशय नही ।। ७१-७२ ।। कन्द के ऊर्ध्वभाग में रहने वाली कुण्डलिनी द्वारा योगी निश्चय रूप से सिद्ध होता है। नियमित रूप से मूलबन्ध का अभ्यास करने से प्राण और अपान की एकता होती है, मल-मूत्र कम हो जाता है और वृद्ध भी युवा हो जाता है। एड़ी से योनि स्थान को दबा कर गुदा को आकुंचित करे और अपानवायु को ऊपर की तरफ खींचे-इसको मूलबन्ध कहते हैं। अब उड्डियाण की विधि कहते हैं कि जिस प्रकार महाखग विश्राम करता है उस प्रकार होकर उदर की पश्चिम 'ताण' को नाभि के ऊपर करे ।।७३-७६।।

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ।। ७७ ।।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।। ७८ ।।

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ ७९ ॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥ ८० ॥

यह उड्डियाण बन्ध मृत्यु के लिये ऐसा ही है जैसे हाथी के लिये सिंह । अब जालन्धर बन्ध को कहते है जिससे शिरोकाश से उत्पन्न होने वाले जल (अमृत) को ऊपर ही रोक दिया जाता है और इस प्रकार कर्म बन्धन और क्लेशों को निवारण किया जाता है। जालन्धर बन्ध में कण्ठ का संकोचन किया जाता है जिससे अमृत अग्नि में नही गिरता और वायु नही दौड़ता। अब खेचरी को बतलाते है कि जिह्वा को लौटाकर कपाल कुहर में ले जाय और दोनों भौहो के मध्य में दृष्टि को जमाकर रखे। इसके अभ्यास से रोग और मरण का भय जाता रहता है और निद्रा, भूख, प्यास भी नहीं सताती ॥ ८० ॥

न च मूर्च्छा भवेत्तास्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥ ८१ ॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्राऽस्ति खेचरी ।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खेगता ॥ ८२ ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता ।
खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥ ८३ ॥
विन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च ।
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ८४ ॥
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।
गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले ॥ ८५ ॥

व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥ ८६ ॥

पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ।
विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥ ८७ ॥

शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥ ८८ ॥

जो खेचरी को जानता है उसे मूर्छा नहीं होती, न रोगों से पीडित होता है, न कर्मो मे लिप्त होता है । जिसका चित्त खेचरीमुद्रा के साधन से आकाश मे रहता है और जिह्वा भी आकाशगामिनी होनी है वह काल के बन्धन मे नहीं पड़ता ॥ ८१--८२ ॥ इसलिये इस खेचरीमुद्रा को सिद्ध योगी नमस्कार करते हैं । खेचरीमुद्रा द्वारा जिसने तालू के छेद को बन्द कर लिया है उसका वीर्य क्षय नहीं होता चाहै वह स्त्री का आलिङ्गन ही क्यों न करे और जबतक वीर्य देहमें स्थित है तब तक मृत्यु का भय कैसा ? ॥ ८३--८४ ॥ जब तक खेचरीमुद्रा रहेगी तब तक वीर्य पतन नही हो सकता । और यदि किसी प्रकार वीर्य स्खलित होकर योनिस्थान में चला भी जाय तो योनिमुद्रा द्वारा उसे शक्तिपूर्वक फिर ऊपर की तरफ खीच लिया जाता है । वह वीर्य श्वेत तथा रक्तवर्ण--दो प्रकार का होता है । श्वेत वर्ण वाला शुक्ल कहा जाता है और लालरङ्ग वाला महारज कहलाता है । मूँगे के समान रङ्ग वाला रज (योगी के) योनि स्थान में स्थित है और शुक्ल चन्द्रस्थान में रहता है । उन दोनों का एक होना बड़ा कठिन है । शुक्ल शिव रूप है और रज शक्ति रूप है, वीर्य चन्द्रमा है और रज सूर्य है ॥ ८५--८८ ॥

उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं वपुः ।
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥ ८९ ॥

रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यवपुस्तदा ।
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥ ९० ॥
द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित् ।
शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ ९१ ॥
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राऽभिधीयते ॥ ९२ ॥
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रविततं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
देषा पातक नाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥९३॥

इन दोनों के संयोग से परम देह प्राप्त होती है । वायु द्वारा शक्ति को चलित करने से जब रज आकाश को प्रेरित होता है और सूर्य के साथ मिल जाता है तब शरीर दिव्य हो जाता है । शुक्ल वर्ण बिन्दु चन्द्रमा से संयुक्त है और रज सूर्य से समन्वित है, जो इन दोनों की समरसता (एकता) को जानता है वह योगवित् है । मलों के शोधन के लिये चन्द्र और सूर्य का संयोग किया जाता है । अब रसों का सम्यक प्रकार शोषण करने वाली महामुद्रा को कहते हैं । छाती को ठोड़ी से दबाकर और बाँयी एड़ी से योनिस्थान को दबाकर तथा फैलाये हुये दूसरे पैर को पकड़ कर, दोनों कुक्षियों को बाँधकर भरी हुई श्वांस को धीरे-धीरे छोड़े—इसको पापनाशिनी महामुद्रा कहा जाता है ॥ ८९-९३ ॥

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते । तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्च-

रितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृशः स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते। पूर्वदले विश्रमते पूर्वदलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति। यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति। यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति। यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति॥ यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिकवर्णं तदा क्रीडा विनोदमतिर्भवति। यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमन चालनवैराग्यमतिर्भवति। यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृङ्गारमतिर्भवति। यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैडूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति। यदा सन्धिसन्धिषु मतिर्भवति तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्याधिप्रकोपो भवति। यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति। यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्हरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते प्रथमरेखा बन्धूकपुष्पवर्णं तदा निद्रावस्था भवति। निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति। स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसंभववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति। श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्त्यवस्था भवति सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसम्बन्धिनी बुद्धिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति पश्चात्परमेश्वररूपेण प्राप्तिर्भवति। तृतियरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति तुरीये केवलपरमात्म संबन्धिनी मतिर्भवति नित्यबोधस्वरूपो भवति तदा॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्व विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति यदा तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दस्वरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति यावद्देहधारणा वर्तते तावत्तिष्ठति पश्चात्परमात्मस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवात्मदर्शनोपायं भवति ॥

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवायुना ।
सहस्थित त्रिकोणोर्ध्वगमने दृश्यतेऽच्युतः ॥ ९४ ॥

अब आत्मा के निर्णय के विषय में विचार करते हैं । हृदय स्थान मे अष्टदल कमल है, उसमें रेखाओं का आश्रय लेकर जीवात्मा ज्योतिरूप अणुमात्र रूप मे रहता है । उसीमें सब कुछ प्रतिष्ठित है, वही सब कुछ जानता है, सब कुछ करता है । वही ऐसा विचार करता है कि मैं सब चरित्रों का कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी, दुखी, काना, खंज, बहिरा, गूँगा, दुबला, मोटा हूँ । इस प्रकार वह स्वतन्त्रता का व्यवहार करता है । उस कमल का पूर्वदल श्वेत वर्ण का है और उसमें निवास करने से भक्ति और धर्म में मति रहती है । जब आग्नेय दिशा के रक्त वर्ण के दल में निवास होता है तब निद्रा और आलस्य में मति होती है । जब दक्षिण वाले कृष्ण-दल में निवास करते हैं तब द्वेष और कोप की मति होती है । जब नैर्ऋत्य दिशा के नीलवर्ण दल में निवास करता है तब पापकर्म और हिंसा में मति रहती है । जब पश्चिम के स्फटिक वर्ण वाले दल में निवास करता है तब क्रीडा, विनोद में मति रहती है । जब वायव्यकोण के माणिक्य के से रङ्ग वाले दल में निवास करता है तब

चलने और वैराग्य की भावना होती है । जब उत्तर के पीतवर्ण दल मे निवास करता है तब सुख, शृङ्गार में मति होती है । जब ईशानकोण के वैडूर्यमणि के वर्ण के दल मे निवास करता है तब दानादि, कृपा करने मे मति रहती है । जब संधियों की संधि में मति रहती है तब बात, पित्त, कफ सम्बन्धी महाव्याधियों का प्रकोप होता है । जब मध्य में मति रहती है तब सब जानने गाने, नृत्य करने, पढ़ने, आनन्द करने में लगी रहती है । जब नेत्र को श्रम होता है तो उसे दूर करने के उद्देश्य से प्रथम रेखा के मध्य में डुबकी लगाती है जिससे निद्रावस्था होती है । यह प्रथम रेखा बन्धूक पुष्प के रंग वाली है । निद्रावस्था के मध्य में ही स्वप्न अवस्था रहती है । स्वप्न मे देखी हुई, सुनी हुई, अनुमान की हुई बातों की कल्पना की जाती है तो उससे श्रम होता है । उस श्रम के दूर करने के हेतु दूसरी रेखा के मध्य में डुबकी लगाती है जिसका वर्ण वीरबहूटी का-सा है । तब सुषुप्ति अवस्था होती है जिसमें बुद्धि ईश्वर के सम्बंध वाली तथा नित्य बोधरूप होती है, इससे बाद में परमेश्वर की प्राप्ति होती है । जब तीसरी पद्मराग के वर्ण वाली रेखा के मध्य मे डुबकी लगाई जाती हैं तब तुरीयावस्था होती है । तुरीया में बुद्धि परमात्मा से संबंध वाली और नित्य बोधरूप होती है । तब शनैः-शनैः सबसे पृथक होकर धैर्ययुक्त हो मन को आत्मा में स्थित करे और अन्य कुछ भी चिन्तन न करे । तब प्राण अपान में एक्यभाव स्थापित करके समस्त विश्व को आत्मरूप समझते हुये उसी का लक्ष्य रखा जाता है । जब तुरीयातीत अवस्था प्राप्त हो जाती है तब सब आनन्द रूप होकर द्वन्दभाव मिट जाता है । इसके पश्चात् प्रारब्ध को पूरा करने की अवधि तक ही जीव देह में ठहरता है फिर परमात्मतत्व में मिल जाता है । यही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है और इसी मार्ग से आत्म-दर्शन

होता है। चारों पथ संयुक्त महाद्वार में जाने वाले वायु के साथ स्थित होकर, अर्ध त्रिकोण में होकर अच्युत दिखाई देता है ॥ ९४ ॥

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि
पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम् ।
प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्ण च स्थानकम् ।
यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम् ।
रकारमग्निबीज च अपानादित्यसंनिभम् ॥ ९५ ॥
लकारं पृथिवीरूपं व्यानं वन्धूकसनिभम् ।
वकारं जीववीज च उदान शङ्खवर्णकम् ॥ ९६ ॥
हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम् ।
हृन्नाभि नासिकाकण्ठपादांगुष्ठादिसस्थितः ॥ ९७ ॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडिमार्गेषु वर्तते ।
अष्टाविंशतिकोटीषु रोमकूपेषु संस्थितः ॥ ९८ ॥
समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि ।
रेचकादित्रयं कुर्याद्दृढचित्तः समाहितः ॥ ९९ ॥
शनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटरे ।
प्राणापानौ च वध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत् ॥ १०० ॥

पूर्वोक्त त्रिकोण स्थान के ऊपर पाँच वर्ण वाले पृथ्वी आदि तत्व ध्यान करने योग्य है। बीज, वर्ण, और स्थान वाले पाँच वायु ध्यान करने योग्य हैं। 'म'कार वायु रूप प्राण का बीज है जो नीले बादल के तुल्य है। 'र'कार आदित्य रूप अपान का बीज है ॥ ९५ ॥. 'ल'कार पृथ्वी रूप का ध्यान बन्धूक पुष्प के वर्ण

का है। 'व'कार शङ्ख के वर्ण का जलरूप उदान का बीज है ॥ ९६ ॥ 'ह्'कार स्फटिक वर्ण का आकाश के समान है । हृदय, नाभि, नासिका, कान और पैर का अंगूठा समान के स्थान है ॥ ९७ ॥ यह समान वायु बहत्तर हजार नाडियो में तथा शरीर के रोम कूपों तक में रहती है ॥ ९८ ॥ समान और प्राण एक ही है, वही एक जीव है । चित्त को भली प्रकार समाहित करके, रेचक, पूरक, कुम्भक तीनों करे । सब को शनैः-शनैः खीचकर हृदय कमल के कोटर मे प्राणवायु और अपानयायु को रोककर प्रणव का उच्चारण करे ॥ १०० ॥

कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा ।
मूलाधारात्सुषुम्ना च बिसतन्तुनिभा शुभा ॥ १०१ ॥
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः ।
शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा ॥ १०२ ॥
व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च ।
कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे ॥ १०३ ॥
तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः ।
कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रेषु शक्ति च ॥ १०४ ॥
स्वात्मानं पुरुष पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम् ।
रत्नानि ज्योत्स्निनादं तु बिन्दु माहेश्वरं पदम् ॥ १०५ ॥
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्नुते ॥ १०६ ॥
इत्युपनिषत् ॥

कण्ठ और लिग का सङ्कोचन करे, फिर मूलाधार से पद्मतंतु के समान निकलने वाली सुषुम्ना का संकोचन करे ॥ १०१ ॥ वीणा

से उठने वाला अमूर्त नाद जान पड़ता है, उसी के मध्य में शङ्ख आदि के समान ध्वनि होती है ।। १०२ ।। कपाल कुहर के मध्य में चारों द्वारों का मध्य-स्थान है, वहाँ आकाशरन्ध्र में से जाना हुआ नाद मोर के शब्द के तुल्य होता है ।। १०३ ।। जैसे ाकाश मे सूर्य है वैसे ही यहाँ आत्मा विराजमान है और ब्रह्मरन्ध्र में दो कोदण्ड के मध्य शक्ति विराजमान है ।। १०४ ।। वहाँ पुरुष अपने मन को लय करके स्वात्मा को देखे, वहाँ रत्नो की ज्योति रूप नाद विन्दु महेश्वर का पद है । जो इसको जानता है वह कैवल्य को प्राप्त करता है । यह उपनिषद है ।। १०५—१०६ ।।

।। ध्यानबिन्दूउपनिषद समाप्त ।।

अक्षमालिकोपनिषत्

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांतिपाठ—ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो; मन वाणी में स्थिर हो; हे स्वय प्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनो मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिये मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ । मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो; मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ—भो भगवन् अक्षमालाभेदविधिं ब्रूहीति । सा किंलक्षणा कतिभेदा अस्याः कति सूत्राणि कथं घटनाप्रकारः के वर्णाः का प्रतिष्ठा कैषाऽधिदेवता किं फल चेनि ॥ १ ॥

तं गुहः प्रत्युवाच—प्रवालमौक्तिकस्फटिकशङ्खरजताष्टापदचन्दनपुत्रजीविकाब्जरुद्राक्षा इत्यादिक्षान्तरमूर्तिसविधानुभावाः । सौवर्णं राजतं ताम्रं चेति सूत्रत्रयम् । तद्विवरे सौवर्णं तद्दक्षपार्श्वे राजतं तद्वामे ताम्रं तन्मुखे मुखं तत्पुच्छे पुच्छं तदन्तरावर्तनक्रमेण योजयेत् ॥ २ ॥

यदस्यान्तरं सूत्रं तद्ब्रह्म । यद्दक्षपार्श्वे तच्छैवम् । यद्वामे तद्वैष्णवम् । यन्मुखं सा सरस्वती । यत् पुच्छं सा गायत्री । यत् सुषिरं सा विद्या । या ग्रन्थिः सा प्रकृतिः । ये स्वरास्ते धवलाः । ये स्पर्शास्ते पीताः । ये परास्ते रक्ताः ॥ ३ ॥

किसी समय प्रजापति ने गुह से पूछा—हे भगवन् ! अक्षमाला की भेद-विधि को कहिये । उसका क्या लक्षण है ? कितने भेद हैं ? इसके कितने सूत्र है ? कैसे घटना प्रकार है ? (पिरोने का प्रकार) कौन अक्षर है ? क्या प्रतिष्ठा है ? और कौन इसका अधिदेवता है ? और क्या फल है ? ॥ १ ॥ तब उन्हें गुह ने उत्तर दिया — प्रबाल, मोती, स्फटिक, शङ्ख, चाँदी, सोना, चन्दन, पुत्र जीविका, कमल तथा रुद्राक्ष ये दश प्रकार की होती है जो कि अ से लेकर क्ष तक के अक्षरों से अनुभावित करके धारण की जाती हैं । इसमें सोना, चांदी तथा तावा ये तीन सूत्र होते हैं । उस (मणके) के छेद में सोना, दाहिने भाग में चांदी तथा बॉयें हिस्सेमे ताँबा, उसके मुख मे मुख, पूंछ स्थानमें पूँछ, उसके अन्दर डालने के क्रम से लगाना चाहिये ॥ २ ॥ जो इसके अन्दर का सूत्र है वह ब्रह्म है । जो दाहिने भाग में है वह शैव है । जो बाँये हिस्से में है वह वैष्णव हैं। जो मुख है वह सरस्वती है। जो पूँछ है वह गायत्री है । जो छेद है वह विद्या है । जो गाठ है वह प्रकृति है। जो स्वर है वह सात्विक होने के कारण धवल अर्थात् सफेद है तथा जो स्पर्श है वह सत्व तथा तम मिश्रित होने के कारण पीले हैं एवं जो पर हैं वे राजस होने के कारण लाल हैं ॥ ३ ॥

अथ तां पञ्चभिर्गव्यैरमृतैः पञ्चभिर्गव्यैस्तनुभिः शोधयित्वा पञ्चभिर्गव्यैर्गन्धोदकेन संस्नाप्य तस्मात् सोङ्कारेण पत्र-

कूर्चेन स्नपयित्वाऽष्टभिर्गन्धैरालिप्य सुमनःस्थले निवेश्याक्षत-पुष्पैराराध्य प्रत्यक्षमादिक्षान्तैर्वर्णैर्भावयेत् ॥ ४ ॥

ओमंकार मृत्युंजय सर्वव्यापक प्रथमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमांकाराकर्षणात्मक सर्वगत द्वितीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमिकार पुष्टिदाक्षोभकर तृतीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमींकार वाक्प्रसादकर निर्मल चतुर्थेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमुंकार सर्वबलप्रद सारतर पञ्चमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमूंकारोच्चाटनकर दुःसह षष्ठेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमृंकार सक्षोभकर चञ्चल सप्तमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमॄंकार संमोहनकरोज्ज्वलाष्टमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओम्लृंकार विद्वेषणकर शूहक नवमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओम्लॄंकार मोहकर दशमेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमेंकार सर्ववश्यकर शुद्धसत्त्वैकादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमैंकार शुद्धसात्त्विक पुरुषवश्यकर द्वादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमोंकाराखिलवाङ्मय नित्यशुद्ध त्रयोदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमौंकार सर्ववाङ्मय वश्यकर शान्त चतुर्दशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमंकार गजादिवश्यकर मोहन पञ्चदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओमःकार मृत्युनाशनकर रौद्र षोडशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं कंकार सर्वविषहर कल्याणद सप्तदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं खंकार सर्वक्षोभकर व्यापकाष्टादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं गंकार सर्वविघ्नशमन महत्तरैकोनविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं घंकार सौभाग्यद स्तम्भनकर विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं ङंकार सर्वविषनाशकरोग्रैकविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं चंकाराभिचारघ्न क्रूर द्वाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं छंकार भूतनाशकर भीषण त्रयोविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं जंकार

कृत्याऽऽदिनाशकर दुर्धर्ष चतुर्विशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं झंकार भूतनाशकर पञ्चविशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं ञंकार मृत्युप्रमथन षड्विशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं टकार सर्वव्याधिहर सुभग सप्तविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं ठंकार चन्द्ररूपाष्टाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं डंकार गरुडात्मक विषघ्न शोभनैकोनत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं ढंकार सर्वसम्पत्प्रद सुभग त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं णंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं तंकार धनधान्यादिसंपत्प्रद प्रसन्न द्वात्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं थंकार धर्मप्राप्तिकर निर्मल त्रयस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं दंकार पुष्टिवृद्धिकर प्रियदर्शन चतुस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं धंकार विषज्वरनिघ्न विपुल पञ्चत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं नंकार भुक्तिमुक्तिप्रद शान्त षट्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं पंकार विषविघ्ननाशन भव्य सप्तत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं फंकाराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं बंकार सर्वदोषहर शोभनैकोनचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं भंकार भूतप्रशान्तिकर भयानक चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं मंकार विद्वेषिमोहनकरैकचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं यंकार सर्वव्यापक पावन द्विचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं रंकार दाहकर विकृत त्रिचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं लंकार विश्वंभर भासुर चतुश्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं वंकार सर्वाप्यायनकर निर्मल पञ्चचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं शंकार सर्वफलप्रद पवित्र षट्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं षंकार धर्मार्थकामद धवल

सप्तचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओं संकार सर्वकारण सार्ववर्गिकाष्टचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ । ओं हंकार सर्ववाङ्मय निर्मलैकोनपञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ । ओं ळंकार सर्वशक्तिप्रद प्रधान पञ्चादशक्षे प्रतितिष्ठ । ओं क्षंकार परापरतत्त्वज्ञापक परंज्योतीरूप शिखामणौ प्रतितिष्ठ ॥ ५ ॥

इसके बाद उसे नन्दा आदि पांच गायो के दूध से तथा गौ के शरीर से उत्पन्न गोमूत्र गोमय, दूध, दधि, घृत, इन पञ्चगव्यों से शोधित करके, पुन: पञ्चगव्य (नन्दादि पाँच गायों के दही मात्र से) तथा गन्ध मिश्रित जल से स्नान कराकर ओंकार का उच्चारण करते हुए पत्र कूर्च द्वारा स्नान करवा कर, मन्त्र शास्त्र मे प्रसिद्ध तक्कोल, उशीर कर्पूर आदि आठ गन्धो से लीपकर "मणशिला" नामक धातु पर स्थापित कर अक्षत तथा पुष्पों से उसकी पूजा करके प्रत्येक अक्ष (मणके) को अ से ..कर क्ष तक के अक्षरों द्वारा क्रमशः भावित करें (उनकी उसमें स्थापना करे) ॥४॥ ॐ हे ओंकार ! तुम मुत्यु को जीतने वाले हो। सर्वव्यापक इस प्रथम अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे ओंकार ! तुम आकर्षण शक्ति वाले हो, सर्वव्यापी हो इस दूसरे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ ओं हे इंकार ! तुम पुष्टि (पोषण) करने वाले तथा क्षुभिततारहित हो तीसरे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ईकार ! तुम वाणी की स्वच्छता को करने वाले तथा निर्मल हो इस चौथे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओ हे उंकार ! तुम सभी को सभी प्रकार के बल देने वाले तथा सारयुक्तो में श्रेष्ठ हो पाँचवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे ऊंकार ! तुम उच्चारण करने वाले तथा दुःस्सह (न सहे जा सकने वाले) हो इस छठे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ऋंकार ! तुम संक्षोभ (चलचित्तता) को करने

वाले तथा चञ्चल हो इस सातवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ॠंकार ! तुम सम्मोहन करने वाले तथा उज्ज्वल हो इस आठवे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे लृंकार ! तुम विद्वेष को उत्पन्न कर देने वाले तथा सब कुछ जानने वाले अत्यन्त गुप्त हो इस नवे अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ओ हे लॄंकार ! तुम मोहकारी हो इस दसवे अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे एंकार ! तुम सब को वश मे करने वाले तथा शुद्ध सत्व हो इस ग्यारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे ऐंकार ! तुम शुद्ध तथा सात्विक हो और पुरुषो को वश में करने वाले हो इस बारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे ओंकार ! तुम अखिल वाङ्मय (सारे ही अक्षरो के समूह) हो एवं नित्य शुद्ध हो इस तेरहवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे औंकार ! तुम भी अक्षर समूह स्वरूप वश मे करने वाले तथा शान्त हो इस चौदहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे अंकार ! हाथी आदियों को वश मे करने वाले एवं मोहित करने वाले हो इस पन्द्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे अःकार ! तुम मृत्यु नाशक तथा रौद्र (अत्यन्त भयानक) हो इस सोलहवे अक्ष में प्रतिष्ठा पाओ। हे ककार ! तुम सभी विषो को हरने वाले तथा कल्याण देने वाले हो इस सत्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे खंकार ! तुम सबको क्षुभित करने वाले एवं व्यापक हो इस अट्ठारहवें अक्षमें प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे गंकार ! तुम सभी विघ्नों को शान्त करने वाले तथा बड़ों में भी बड़े (विशाल) हो इस उन्नीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा पाओ। ओं हे घंकार ! तुम सौभाग्य देने वाले तथा स्तम्भन (गति को रोकने वाले) कर्ता हो बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा पाओ। ओं हे ङंकार ! तुम सभी विषों के नाशक तथा उग्र भयानक हो इस इक्कीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे चंकार ! तुम

अभिचार नाशक तथा क्रूर हो बाईसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे छंकार ! तुम भूत नाशक तथा भयानक हो तेईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे जंकार ! तुम कृत्या आदि (डाकिनी आदि) नाशक तथा दुर्धर्ष हो इस चौबीसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ । ओ हे झंकार ! तुम भूतनाशक हो इस पच्चीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । हे हे ञंकार ! तुम मृत्यु को मथित कर देने वाले हो इस छब्बीसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ओं हे टंकार ! तुम सभी रोगो को नाशक तथा सौम्य हो इस सत्ताईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओ हे ठंकार ! तुम चन्द्रस्वरूप हो इस अठ्ठाईसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ । ओ हे डकार ! तुम गरुड़ स्वरूप विपनाशक तथा सुन्दर हो उनतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे ढंकार ! तुम सभी तरह की सम्पत्तिदायक तथा सौम्य हो इस तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे णंकार ! तुम सभी सिद्धि देने वाले तथा मोह कर देने वाले हो इस इकतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे तंकार ! तुम धनधान्य आदि सम्पतिदाता तथा सदा प्रसन्न हो इस बत्तीसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे थंकार ! तुम धर्म की प्राप्ति कराने वाले तथा निर्मल हो इस तेतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे दंकार ! तुम पुष्टि तथा वृद्धिकर्ता हो तथा सुन्दर दीखने वाले हो इस चौंतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे धंकार ! तुम विप तथा ज्वर के नाशक हो तथा विशाल (बहुत) हो इस पैंतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे नंकार ! तुम भोग तथा मोक्षदाता तथा शान्त हो इस छत्तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे पंकार ! तुम विष एवं विघ्नों के नाशक तथा कल्याणमय हो इस सैंतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ । ओं हे फंकार ! तुम अणिमा महिमा गरिमा आदि आठ सिद्धि के

तथा प्रकाश स्वरूप हो इस अड़तीसवे अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे वंकार ! तुम सब दोषो को हरण करने वाले तथा सुन्दर हो इस उनतालीसवे अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे भकार ! तुम भूत बांधा शान्त करने वाले तथा भयानक हो इस चालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे मकार ! तुम विद्वेष (वैर) करने वाले को मोहित करने वाले अथवा विद्वेषी तथा मोह करने वाले हो इस इकतालीसवे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे यकार ! तुम सब जगह व्यापी तथा पवित्र हो इस बयालीसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे रकार ! तुम दाह (जलन) (तपन) उत्पन्न करने वाले तथा विकृत हो इस तेतालीसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे लकार ! तुम विश्व का पोषण करने वाले तथा तेजस्वी (चमकने वाले) हो इस चौवालीसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे वकार ! तुम सब को तृप्त (पुष्ट) करने वाले तथा निर्मल हो इस पैतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे शंकार ! तुम सभी प्रकार के फलो के दाता एवं पवित्र हो इस छयालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे षंकार ! तुम धर्म अर्थ तथा काम को देने वाले तथा श्वेत (सात्विक) हो इस सैतालीसवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे संकार ! तुम सब वस्तुओं के कारण सभी वर्णो से सम्बन्धित इस अड़तालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे हंकार ! तुम सभी सर्व वाङ्मय (सब अक्षरों के या साहित्य के स्वरूप) तथा निर्मल हो इस उनचासवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे ळंकार तुम सभी शक्तियों के दाता तथा प्रधान (प्रमुख) हो इस पचासवें अक्ष मे प्रतिष्ठित हो जाओ। ॐ हे क्षंकार ! तुम परात्पर तत्व के बताने वाले तथा परंज्योति स्वरूप हो इस शिखा मणि में (मेरुमाला का प्रधान मणका) प्रतिनिधि रूप से स्थित हो जाओ॥ ५॥

अथोवाच ये देवाः पृथिवीपदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥ ६ ॥

अथोवाच ये देवा अन्तरिक्षसदस्तेभ्य ॐ नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥ ७ ॥

अथोवाच ये देवा दिविपदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥ ८ ॥

अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोंनमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति ॥ ९ ॥

अथोवाच ये ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तेभ्यः सगुणेभ्य ओं नमस्तद्वीर्यमस्याः प्रतिष्ठापयति ॥ १० ॥

वे इस प्रकार बोले—'जो देवता पृथिवी में विचरने वाले हैं उन्हे नमस्कार है । हे भगवन् ! आप लोग इस माला में स्थित हो इस माला का अनुमोदन (मेरे द्वारा ग्रहण का समर्थन करें) तथा इसकी शोभा के लिये पितृगण भी अनुमोदन करें । इस ज्ञानमयी अक्षमालिका को प्राप्त कर अग्निष्वात्त आदि पितर अनुमोदन करे ॥ ६ ॥ पुनः बोले—'जो देवता आकाश में रहने वाले हैं उन्हें नमस्कार है वे भगवान् पितरों के सहित इस ज्ञानमयी माला में स्थित हो इसकी शोभा के लिये अनुमोदन करे ॥ ७ ॥ जो देवता स्वर्ग में (आकाश मे) निवास करने वाले है वे इस ज्ञान स्वरूपिणी अक्षमालिका में स्थित हो वरदान दायक बनकर पितरों सहित इसकी शोभा के लिये अनुमोदन करें ॥ ८ ॥ पुनः इस प्रकार कहे—'इस लोक मे जो सात करोड संख्यक मन्त्र है जो चौसठ कला स्वरूप विद्याये हैं, उन्हे नमस्कार है । उनकी शक्तियाँ इसमें विराजमान होवें

॥ ९ ॥ पुनः ऐसा कहे—'जो ब्रह्मा विष्णु तथा रुद्र है उन्हें नमस्कार है उनके वीर्य को (पराक्रम को) नमस्कार है उनका वीर्य इसमें प्रतिष्ठित हो ॥ १० ॥

अथोवाच ये सांख्यादितत्त्वभेदास्तेभ्यो नमो वर्तध्वं वरोधेनुवर्तध्वम् ॥ ११ ॥

अथोवाच ये शैवा वैष्णवा: शाक्ता: शतसहस्रशस्तेभ्यो नमो नमो भगवन्तोऽनुमदन्त्वनुगृह्णन्तु ॥ १२ ॥

अथोवाच याश्च मृत्यो: प्राणवत्यस्ताभ्यो नमो नमस्तेनैतां मृडयत मृडयत ॥ १३ ॥

पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं भावयित्वा भावेन पूर्वमालिकामुत्पाद्यारभ्य तन्मयीं महोपहारैरुपहृत्यादिक्षान्तैरक्षैरक्षमालामष्टोत्तरशतं स्पृशेत् ॥ १४ ॥

अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणीकृत्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले सर्ववशंकर्योंनमस्ते भगवति मण्त्रमातृकेऽक्षमालिकेऽशेषस्तम्भिन्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले उच्चाटन्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले विश्वामृत्यो मृत्युंजयस्वरूपिणि सकलोद्दीपिनि सकललोकदरक्षादिके सकललोकोज्जीविके सकलोत्पादिके दिवाप्रवर्तिके रात्रिप्रवर्तिके नद्यन्तरयासि देशान्तरयासि द्वीपान्तरयासि लोकान्तरयासि सर्वदा स्फुरसि सर्वहृदि वासयसि। नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे सर्वतत्त्वात्मिके सर्वविद्याऽऽत्मिके सर्वशक्त्यात्मिके सर्वदेवात्मिके वसिष्ठेन मुनिनाऽऽराधिते विश्वामित्रेण मुनिनोपसेव्यमाने नमस्ते नमस्ते ॥ १५ ॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत् सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो

भवति । एवमक्षमालिकया जप्तो मन्त्रः सद्यः सिद्धिकरो भवतीत्याह भगवान् गुहः प्रजापतिमित्युपनिषत् ॥ १६ ॥

पुनः बोले—जो सांख्यादिक दर्शनों मे छयानवे तत्व है तुम्हें नमस्कार है (हो) आप लोग इस माला में स्थित हो जपने वाले को वर देने वाले कामधेनु स्वरूप तथा (जपकर्ता के विरोधो के नाशक होकर) शोभित होवे ॥ ११ ॥ पुनः इस प्रकार बोले—इस ब्रह्माण्ड मे जो शैव, वैष्णव, तथा शाक्त सैकडो तथा हजारों की संख्या में निवास करते है उन्हें नमस्कार हो वे सभी भगवान् (शक्तिशाली) कृपा करें तथा अनुमोदन करें (समर्थन, आज्ञा) करें ॥ १२ ॥ अन्त में ऐसा कहे—जो मृत्यु की जो उपजीव्य शक्तियाँ है उन्हे नमस्कार हो आप लोग इस नमस्कार से स्तुति से प्रसन्न हो इस अक्षमालिका को अपने उपासकों को सुख देने वाली करदें ॥ १३ ॥ फिर इस मालिका में सर्वात्मकता (सर्वविधि पूर्णता) की भावना करके इसी भावना मे पूर्व मालिका (आधी माला) को पिरोकर पुनः शेष आधी पचास मणकों मे उसी प्रकार आवृत्ति करके (१०० पूरे हुए) और पुनः शेष आठ मणकों में 'अ' क, च, ट, त, प, य, तथा श इस अष्टवर्ग को (पूर्वोक्तक्रम से) योजित करे । तब एक सौ आठ हो जाते हैं (मेरु में तो वही पूर्वोक्त क्ष रहेगा) इस प्रकार मालिका की योजना एक २ का उपहार (पास मे पिरो २) करके करे ॥ १४ ॥ अक्ष मालिका की स्तुति—इसके बाद उठकर प्रदक्षिणा करके ओ भगवति मन्त्र मातृके ! अक्षमाले तुम सब को वश मे करने वाली हो तुम्हें नमस्कार है । हे मन्त्र मातृके ! अक्षमाले ! तुम सब की गति का स्तम्भन करने वाली, उच्चाटन (विक्षिप्तता (विनाशता)) करने वाली हो तुम्हे नमस्कार है । हे मन्त्रमातृके ! अक्षमाले ! तुम सबकी मृत्यु स्वरूप तथा मृत्युञ्जय स्वरूपिणी हो और तुम सब की उद्दीप्त करने वाली

हो साथ ही तुम सारे लोक की रक्षा करने वाली सकल संसार की प्राणदात्री, सब कुछ उत्पन्न करने वाली दिन तथा रात्रि की प्रवर्तक एवं नदियों से दूसरी नदियों, सभी देशों द्वीपों, लोक में संचार करने की शक्ति रखने वाली हो इन सभी जगह तुम विद्यमान हो तथा हमेशा स्फुरण करने वाली (हृदयो मे प्रकाशित होने वाली) तथा सभी के हृदयो में वास करती हो । परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी आदि जो वाणी है तुम उनकी स्वरूप हो तथा सभी तत्व रूपिणी, सर्व विद्यामय, सभी शक्तियों की अधिष्ठात्री, सर्व देवों की आराध्या हो । तुम वशिष्ठ मुनि द्वारा आराधित एवं विश्वामित्र मुनि द्वारा उपसेव्यमान (सेवा शुश्रूषा किये जाने वाली) हो तुम्हे बार २ नमस्कार है ॥ १५ ॥ इसे प्रातः अध्ययन करने वाला रात में किये गये पापों से मुक्त हो जाता है । सायंकाल इसे पढने वाला दिन मे किये पापो से छूट जाता है । जो सायं प्रातः दोनों समय हमेशा इसका पाठ करता है वह बड़ा पापी भी हो तो पापमुक्त हो जाता है । भगवान् गुह ने प्रजापति को अन्तमें यही कहा कि इस प्रकार अभिमन्त्रित पूजित अक्षमाला से जपा हुआ मन्त्र शीघ्र ही सिद्धिदायक होता है ॥ १६ ॥

॥ अक्षमालिकोपनिषद् समाप्त ॥

रुद्राक्षजाबालोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों; वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद् ब्रह्मरूप हैं। मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुये मुझको उपनिषद धर्म की प्राप्ति हो । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अथ हैनं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ—कथं रुद्राक्षोत्पत्तिः, तद्धारणात् किं फलमिति ।। १ ।।

तं होवाच भगवान् कालाग्निरुद्रः । त्रिपुरवधार्थमहं निमीलिताक्षोऽभवम् । तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः । सर्वानुग्रहार्थाय तेषां नामोच्चारणमात्रेण दशगोप्रदानफलं दर्शनस्पर्शनाभ्यां द्विगुणफलमत ऊर्ध्वं वक्तुं न शक्नोमि ।।२।।

तत्रैते श्लोका भवन्ति—

कस्मिन् स्थितं तु किं नाम कथं वा धार्यते नरैः ।
कतिभेदमुखान्यत्र कैर्मन्त्रैर्धार्यते कथम् ।। ३ ।।
दिव्यवर्षसहस्राणि चक्षुरुन्मीलितं मया ।
भूमावक्षिपुटाभ्यां तु पतिता जलबिन्दवः ।। ४ ।।

तत्राश्रुविन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षका: ।
स्थावरत्वमनुप्राप्य भक्तानुग्रहकारणात् ॥ ५ ॥

रुद्राक्ष के विपय मे भुसुण्ड का प्रश्न—एक समय इन कालाग्नि रुद्र से भुसुण्ड ने पूछा—कि रुद्राक्ष की उत्पत्ति कैसे हुई ? और उसको धारण करने मे क्या फल होता है ? ॥ १ ॥ भगवान् कालाग्नि रुद्र ने उसको कहा कि त्रिपुर नामक राक्षस को मारने के लिये मैने आखें बन्द करली अर्थात् समाधिस्थ होगया । तब उन आँखों से जल की बूँदें पृथ्वी मे गिरीं और वह रुद्राक्ष बन गई । सब के ऊपर कृपा करने के लिये (मैं इतना ही कहता हूँ) कि उनके नाम लेने मात्रसे दस गौ दान करने का फल और देखने तथा स्पर्श करने से दुगुना फल होता है । इससे अधिक (आगे) मैं नही कह सकता ॥ २ ॥ इस विपय मे ये श्लोक हैं—प्रश्न:—कहाँ स्थित है ? क्या नाम है ? और कैसे मनुष्य इसे धारण करते हैं ? कितने भेद हैं ? और किन मन्त्रों मे किस प्रकार धारण किये जाते है ? ॥ ३ ॥ उत्तर—एक हजार दिव्य वर्ष [देवताओं के वर्ष] में मैंने आंखे खोली तो पृथ्वी मे आंखो से जल की बूँदें गिरी ॥ ४ ॥ वहाँ आसू की बूँदे महारुद्राक्ष के पेड बन गईं और भक्तों पर दया की दृष्टि से स्थावर [अचल] हो गई ॥ ५ ॥

भक्तानां धारणात् पापं दिवारात्रिकृत हरेत् ।
लक्षं तु दर्शनात् पुण्यं कोटिस्तद्धारणाद्भवेत् ॥ ६ ॥
तस्य कोटिशतं पुण्य लभते धारणान्नर: ।
लक्षकोटिसहस्राणि लक्षकोटिशतानि च ॥ ७ ॥
तज्जपाल्लभते पुण्य नरो रुद्राक्षधारणात् ।
धात्रीफलप्रमाणं यच्छ्रेष्ठमेतदुदाहृतम् ॥ ८ ॥

बदरीफलमात्रं तु मध्यमं प्रोच्यते बुधैः ।
अधमं चणमात्रं स्यात् प्रक्रियैषा मयोच्यते ॥ ९ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति शिवाज्ञया ।
वृक्षा जाताः पृथिव्यां तु तज्जातीयाः शुभाक्षकाः ॥१०॥

यह रुद्राक्ष, धारण करने से दिन तथा रात के किये हुए भक्तों के पाप को हर लेता है । दर्शन से तो लाख गुना पुण्य तथा उसको धारण करने से करोड़ गुना पुण्य होता है ॥ ६ ॥ करोड ही नही अरब गुणा पुण्य उसको धारण करने से मनुष्य प्राप्त करता है । तथा रुद्राक्ष धारण से और जप करने से मनुष्य [जप की अपेक्षा] लाख करोड़ हजार गुना लाख करोड़ सौ गुना पुण्य प्राप्त करता है ॥ ७ ॥ जो रुद्राक्ष आंवले के बरावर हो वह श्रेष्ठ कहा गया है ॥ ८ ॥ और जो बेर के समान हो उसे विद्वान् मनुष्य मध्यम कहते है । तथा जो चने के बराबर हो वह रुद्राक्ष अधम कहा जाता है । अब उसकी प्रक्रिया कहता हूँ ॥ ९ ॥ शिवजी की आज्ञा से उस मङ्गलमय रुद्राक्ष के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र जाति के [रुद्राक्ष] वृक्ष उत्पन्न हुए ॥ १० ॥

श्वेतास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः क्षत्रिया रक्तवर्णकाः ।
पीता वैश्यास्तु विज्ञेयाः कृष्णाः शूद्रा उदाहृताः ॥११॥
ब्राह्मणो बिभृयाच्छ्वेतान् रक्तान् राजा तु धारयेत् ।
पीतान् वैश्यस्तु बिभृयात् कृष्णाञ्छूद्रस्तु धारयेत् ॥१२॥
समाः स्निग्धा दृढाः स्थूलाः कण्टकैः संयुताः शुभाः ।
कृमिदष्टं छिन्नभिन्नं कण्टकैर्हीनमेव च ॥ १३ ॥
व्रणयुक्तमयुक्तं च षड् रुद्राक्षाणि वर्जयेत् ।
स्वयमेव कृतद्वारं रुद्राक्षं स्यादिहोत्तमम् ॥ १४ ॥
यत्तु पौरुषयत्नेन कृतं तन्मध्यमं भवेत् ।

समान् स्निग्धान् दृढान् स्थूलान् क्षौमसूत्रेण धारयेत् ॥ १५ ॥

सफेद रुद्राक्षों को ब्राह्मण, लाल रुद्राक्षों को क्षत्रिय, पीले रङ्ग वालों को वैश्य तथा कालों को शूद्र कहा है ॥ ११ ॥ ब्राह्मण को सफेद, क्षत्रिय को लाल, वैश्य को पीले तथा शूद्र को काले रुद्राक्ष धारण करने चाहिये ॥ १२ ॥ बराबर (गोल), चिकने, मजबूत बड़े (मोटे) तथा काँटे वाले शुभ माने गये हैं । कीड़े के खाये हुए, छिन्न-भिन्न (जो टूटे हों, खण्ड २ से हों) काटों से रहित हों, छेद वाले हों, ठीक न लगते हों—इन छः प्रकार के रुद्राक्षों को छोड देना चाहिये । अपने आप (स्वतः) जिसमें छेद हो गया रुद्राक्ष उत्तम माना जाता है ॥ १३--१४ ॥ जिसमे छेद करना पड़े वह मध्यम होता है । सो एक जैसे, चिकने, मजबूत, मोटे २ रुद्राक्षों को रेशमी धागे मे पिरोकर धारण करना चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वगात्रेण सौम्येन सामान्यानि विचक्षणः ।
निकषे हेमरेखाभा यस्य रेखा प्रदृश्यते ॥ १६ ॥
तदक्षमुत्तमं विद्यात् तद्धार्यं शिवपूजकैः ।
शिखायामेकरुद्राक्षं त्रिंशतं शिरसा वहेत् ॥ १७ ॥
षट्त्रिंशतं गले दध्याद्बाह्वोः षोडशषोडश ।
मणिबन्धे द्वादशैव स्कन्धे पञ्चशतं वहेत् ॥ १८ ॥
अष्टोत्तरशतैर्मालामुपवीतं प्रकल्पयेत् ।
द्विसरं त्रिसरं वाऽपि सराणां पञ्चकं तथा ॥ १९ ॥
सराणां सप्तकं वाऽपि बिभृयात् कण्ठदेशतः ।
मुकुटे कुण्डले चैव कर्णिकाहारकेऽपि वा ॥ २० ॥

ये रुद्राक्ष सभी प्रकार से सौम्य सुन्दर एक जैसे होने चाहियें ।

सांग पर जिसकी रेखा सुनहरी प्रतीत हो उस को उत्तम समझना चाहिये तथा शिवभक्तों को (पूजको को) वही धारण करना चाहिये । चोटी में एक रुद्राक्ष तथा शिर पर (माला मे पिरोकर) तीस रुद्राक्षो को धारण करना चाहिये ॥ १६--१७ ॥ गले में छत्तीस तथा दोनों भुजाओं मे सोलह २ तथा मणिबन्ध गट्टा (पजे के प्रारम्भ के हिस्से) में बारह तथा कन्धे मे पन्द्रह रुद्राक्ष धारण करने चाहिये ॥ १८ ॥ एक सौ आठ रुद्राक्षो की माला बनाकर गले मे उपवीति रूप मे (जैसे मालाये पहनी जाती है) धारण करें (बनावे) । दो लड़ी, तीन लड़ी, अथवा पाँच लड़ी किवा सात लड़ियों को कण्ठ देश मे धारण करना चाहिये । मुकुट, कुण्डल, तथा कान की बाली (अथवा हार रूप में) भी धारण करने चाहिये ॥ १९--२० ॥

केयूरकटके सूत्र कुक्षिबन्धे विशेषतः ।
सुप्ते पीते सदाकालं रुद्राक्षं धारयेन्नरा ॥ २१ ॥
त्रिशतं त्वधमं पञ्चशतं मध्यममुच्यते ।
सहस्रमुत्तमं प्रोक्तमेवं भेदेन धारयेत् ॥ २२ ॥
शिरसीशानमन्त्रेण कण्ठे तत्पुरुषेण तु ।
अघोरेण गले धार्य तेनैव हृदयेऽपि च ॥ २३ ॥
अघोरबीजमन्त्रेण करयोर्धारयेत् सुधीः ।
पञ्चाशदक्षग्रथितान् व्योमव्याप्यभिचोदरे ॥ २४ ॥
पञ्च ब्रह्मभिरङ्गैश्च त्रिमाला पञ्च सप्त च ।
ग्रथित्वा मूलमन्त्रेण सर्वाण्यक्षाणि धारयेत् ॥ २५ ॥

बाजूबन्द, कुक्षिबन्ध में भी विशेष रूप से सूत्र को (सूत्र में बँधी माला को) सोते जागते हुए हमेशा धारण करना चाहिये ॥ २१ ॥ तीन सौ रुद्राक्ष (धारण ' अधम, पांच सौ मध्यम

तथा एक हजार उत्तम कहा गया है इस प्रकार के भेद से धारण करना चाहिये ।। २२ ।। शिर में 'ईशान. सर्वविद्याना.........इस मंत्र से कण्ठ में 'तत्पुरुषाय विद्महे' 'महादेवाय' इस मंत्र से गले में' 'अघोरेभ्यो' इस मंत्र से, गले तथा हृदय में भी रुद्राक्ष धारण करना चाहिये ।। २३ ।। अघोर बीजमंत्र के द्वारा विद्वान् को चाहिये कि हाथो मे धारण करे । तथा रुद्राक्षो के बीच जो छेद होता है उसमे अ से लेकर क्ष तक जो ये पचास अक्षर है इन्हे लिखकर पञ्चाक्षरी मंत्र [नमः शिवाय] से अभिमन्त्रित करके [अक्षमालोपनिषद मे कही गई रीतियों के अनुसार] प्राण प्रतिष्ठादि करके मूलमंत्र से गूंथ कर तीन पाच अथवा सात मालाओं के रूप में धारण करना चाहिये ।। २४--२५ ।।

अथ हैनं भगवन्तं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ रुद्राक्षाणां भेदेन यदक्ष यत्स्वरूपं यत्फलमिति तत्स्वरूपं मुखयुक्तमरिष्टनिरसन कामाभीष्टफलं ब्रूहीति होवाच ।। २६ ।।

तत्रैते श्लोका भ न्ति—

एकवक्त्रं तु रुद्राक्षं परतत्त्वस्वरूपकम् ।
तद्धारणात् परे तत्त्वे लीयते विजितेन्द्रियः ।। २७ ।।

द्विवक्त्रं तु मुनिश्रेष्ठ चार्धनारीश्वरात्मकम् ।
धारणादर्धनारीशः प्रीयते तस्य नित्यशः ।। २८ ।।

त्रिमुखं चैव रुद्राक्षमग्नित्रयस्वरूपकम् ।
तद्धारणाच्च हुतभुक्तस्य तुष्यति नित्यदा ।। २९ ।।

चतुर्मुखं तु रुद्राक्षं चतुर्वक्त्रस्वरूपकम् ।
तद्धारणाच्चतुर्वक्त्रः प्रीयते तस्य नित्यदा ।। ३० ।।

इसके बाद इन भगवान कालाग्नि रुद्र से भुसुण्ड ने पूछा कि रुद्राक्षों के भेद से जिन रुद्राक्षों का जो स्वरूप तथा जो फल होता है

उसके स्वरूप को मुखों के भेद से अरिष्ट [अमङ्गल] दूरीकरण तथा इच्छित वस्तु के फल को कहो (अर्थात् किन से क्या इच्छित वस्तुयें मिलती है ?) ।। २६ ।। इसके सम्बन्ध मे इस प्रकार श्लोक है– एक मुंह वाला रुद्राक्ष परतत्व का स्वरूप समझा जाता है उसे धारण करने से इंद्रियों को वश में करने वाला उस परात्पर (अंतिम) तत्व में (शिव) लीन हो जाता है ।। २७ ।। हे मुनि-श्रेष्ठ ! दो मुंह वाला रुद्राक्ष अर्धनारीश्वर का स्वरूप समझा जाता है उसको धारण करने वाले पर हमेशा अर्धनारीश्वर भगवान् (शिव) प्रसन्न होते है ।। २८ ।। तीन मुंह वाला रुद्राक्ष तीनो अग्नियों का स्वरूप समझा जाता है । उसे धारण करने से उस पर हमेशा अग्नि-देव प्रसन्न रहते है ।। २९ ।। चार मुंह वाला रुद्राक्ष चतुर्मुख भगवान् का स्वरूप समझा जाता है उसे धारण करने से चतुर्मुख भगवान् उस पर प्रसन्न होते है ।। ३० ।।

पञ्चवक्त्रं तु रुद्राक्षं पञ्चब्रह्मस्वरूपकम् ।
पञ्चवक्त्रः स्वयं ब्रह्म पुंहत्यां च व्यपोपति ।। ३१ ।।
षड्वक्त्रमपि रुद्राक्षं कार्तिकेयाधिदैवतम् ।
तद्धारणान्महाश्रीः स्यान्महदारोग्यमुत्तमम् ।। ३२ ।।
मतिविज्ञानसंपत्तिशुद्धये धारयेत् सुधीः ।
विनायकाधिदैव च प्रवदन्ति मनीषिणः ।। ३३ ।।
सप्तवक्त्रं तु रुद्राक्षं सप्तमात्रधिदैवतम् ।
तद्धारणान्महाश्रीः स्यान्महदारोग्यमुत्तमम् ।। ३४ ।।
महती ज्ञानसंपत्तिः शुचिर्धारयतः सदा ।
अष्टवक्त्र तु रुद्राक्षमष्टमात्रधिदैवतम् ।। ३५ ।।
वस्वष्टकप्रियं चैव गङ्गाप्रीतिकर तथा ।
तद्धारणादिमे प्रीता भवेयुः सत्यवादिनः ।। ३६ ।।

पाँच मुँह वाला रुद्राक्ष पञ्चमुखी भगवान् का (शिव) स्वरूप समझा जाता है उसे धारण करने से स्वयं ब्रह्म स्वरूप पञ्चमुखी भगवान् पुरुष हत्या को दूर करते हैं ॥ ३१ ॥ छः मुंह वाला रुद्राक्ष कार्तिकेय (शिव के बड़े पुत्र) का स्वरूप समझा जाता है । उसे धारण करने से महालक्ष्मी प्रसन्न होती है तथा आरोग्य की सुन्दर प्राप्ति होती है । इसे विद्वान् लोग गणेश का स्वरूप भी मानते है तथा इसे बुद्धि, विद्या, लक्ष्मी की वृद्धि के लिये चतुर मनुष्य को धारण करना चाहिये ॥ ३२—३३ ॥ सात मुंह वाला रुद्राक्ष सप्तलोक माताओं (ब्राह्मी आदि) का स्वरूप वाला समझा जाता है इसे धारण करने से अत्यन्त वैभव की तथा उत्तम आरोग्य की प्राप्ति होती है ॥ ३४ ॥ पवित्रता से धारण करने पर महान् ज्ञान उत्पन्न होता । आठ मुँह वाला रुद्राक्ष अष्ट माताओं का स्वरूप समझा जाता है तथा यह अष्ट वसुओं का भी प्रिय है तथा इससे गङ्गा भी प्रसन्न होती है । इसे धारण करने से ये तीनो स्वरूप प्रसन्न होते है ॥ ३५–३६ ॥

नववक्त्रं तु रुद्राक्षं नवशक्त्यधिदैवतम् ।
तस्य धारणमात्रेण प्रीयन्ते नव शक्तयः ॥ ३७ ॥
दशवक्त्रं तु रुद्राक्षं यमदैवमुदाहृतम् ।
दर्शात् प्रशान्तिजनकं धारणान्नात्र संशयः ॥ ३८ ॥
एकादशमुखं त्वक्षं रुद्रैकादशदैवतम् ।
तदिदं दवतं प्राहुः सदा सौभाग्यवर्धनम् ॥ ३९ ॥
रुद्राक्षं द्वादशमुखं महाविष्णुस्वरूपकम् ।
द्वादशादित्यरूपं च बिभर्त्येव हि तत्परः ॥ ४० ॥

नौ मुँह वाले रुद्राक्ष की नौ शक्तियाँ देवता समझी जाती हैं

(अर्थात् उनका बोधक है) इसे धारण करने से नौ शक्तियाँ प्रसन्न होती हैं ॥ ३७ ॥ दस मुख वाले रुद्राक्ष का देवता यम समझा जाता है । देखने मात्र से शान्ति उत्पन्न करने वाला तथा धारण करने से भी महाशान्ति देने वाला होता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ३८ ॥ ग्यारह मुंह वाले रुद्राक्ष के देवता एकादश रुद्र समझे जाते हैं । यह एकादश रुद्राधिदैवत रुद्राक्ष हमेशा सौभाग्य बढ़ाने वाला होता है ॥ ३९ ॥ बारह मुँह वाला रुद्राक्ष महाविष्णु का स्वरूप समझा जाता है । यह बारह सूर्यो का स्वरूप भी समझा जाता है तथा इनका उपासक इसे धारण करता है ॥ ४० ॥

त्रयोदशमुखं चाक्षं कामदं सिद्धिदं शुभम् ।
तस्य धारणमात्रेण कामदेवः प्रसीदति ॥ ४१ ॥
चतुर्दशमुखं चाक्षं रुद्रनेत्रसमुद्भवम् ।
सर्वव्याधिहरं चैव सर्वदाऽऽरोग्यमाप्नुयात् ॥ ४२ ॥
मद्यं मांसं च लशुनं पलाण्डुं शिग्रुमेव च ।
श्लेष्मातकं विड्वराहमभक्ष्यं वर्जयेन्नरः ॥ ४३ ॥
ग्रहणे विषुवे चैवमयने संक्रमेऽपि च ।
दर्शेषु पूर्णमासे च पूर्णेषु दिवसेषु च ।
रुद्राक्षधारणात् सद्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥
रुद्राक्षमूलं तद्ब्रह्मा तन्नाळं विष्णुरेव च ।
तन्मुखं रुद्र इत्याहुस्तद्बिन्दुः सर्वदेवताः ॥ इति ॥ ४५ ॥

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवन् रुद्राक्षधारणविधिम् । तस्मिन् समये निदाघजडभरतदत्तात्रेयकात्यायनभरद्वाजकपिलवसिष्ठपिप्पलादयश्च कालाग्निरुद्रं परि-

समेत्योचुः । अथ कालाग्निरुद्रः किमर्थं भवतामागमनमिति होवाच । रुद्राक्षधारणविधिं वै सर्वे श्रोतुमिच्छामह इति ॥ ४६ ॥

अथ कालाग्निरुद्रः प्रोवाच । रुद्रस्य नयनादुत्पन्ना रुद्राक्षा इति लोके ख्यायन्ते । अथ सदाशिवः महात्काले संहारं कृत्वा संहाराक्षं मुकुलीकरोति । तन्नयनाज्जाता रुद्राक्षा इति होवाच । तस्माद्रुद्राक्षत्वमिति कालाग्निरुद्रः प्रोवाच ॥ ४७ ॥ .

तेरह मुँह वाला रुद्राक्ष इच्छाओं तथा सिद्धियों को देने वाला होता है । इसे धारण करने मात्र से कामदेव प्रसन्न होते हैं । यह शुभ होता है ॥ ४१ ॥ चौदह मुँह वाला रुद्राक्ष भगवान् रुद्र की आँखों से विशेष रूप से उत्पन्न हुआ है । यह सब रोगों को हरण (दूर) करने वाला तथा परम आरोग्य का दायक होता है ॥ ४२ ॥ शराब, मांस, लहसुन, प्याज, सहजन, लसौड़ा विड्वराह (शाकविशेष) आदि अभक्ष्य वस्तुओं को इसके धारण करने वाले को छोड़ देना चाहिये ॥ ४३ ॥ ग्रहण के समय, जिन दिनों रात तथा दिन बराबर होते है (अर्थात् तुला तथा मेष संक्रान्ति (सूर्य की) के दिनों में, अयन परिवर्तन के समय, अमावस्या पौर्णमासी (मास समाप्ति पर) जब दिन पूर्ण हो जाय तब रुद्राक्ष धारण करने से शीघ्र पापमुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥ रुद्राक्ष का मूल भाग ब्रह्मा, तथा नाल भाग (छेद) विष्णु तथा मुख का भाग रुद्र तथा रुद्राक्ष के बिन्दु सब देवता कहे गये हैं ॥ ४५ ॥ इस के बाद भगवान् कालाग्नि रुद्र को सनत्कुमार ने पूछा (कहा) महाराज ! आप रुद्राक्ष धारण करने की विधि बतलाइये । इसी समय निदाघ, जड़ भरत, दत्तात्रेय, कात्यायन, भरद्वाज, कपिल वशिष्ठ, पिप्पलाद,

आदि कालाग्नि रुद्र के चारों तरफ बैठ गये तथा भगवान् कालाग्नि रुद्र के यह पूछने पर कि आप लोग क्यों आये है ? बोले—हम सब रुद्राक्ष धारण की विधि को सुनना चाहते है ।। ४६ ।। तब कालाग्नि रुद्र बोले—रुद्र के नेत्रों से उत्पन्न होने के कारण से यह रुद्राक्ष नाम से प्रसिद्ध हैं । भगवान् सदा शिव संहार के समय (प्रलय काल में) संहार करके अपने संसार का संहार करने वाले नेत्र को मुकुलित कर लेते है (जरा से खुले तथा अधिकतया बन्द) उन्हीं से उत्पन्न रुद्राक्ष है । यही रुद्राक्ष का अपना स्वत्व है । इस प्रकार कालाग्नि रुद्र ने उत्तर दिया ।। ४७ ।।

तद्रुद्राक्षे वाग्विषये कृते दशगोप्रदानेन यत् फलमवाप्नोति तत् फलमश्नुते । स एव भस्मज्योती रुद्राक्ष इति । तद्रुद्राक्षं करेण स्पृष्ट्वा धारणमात्रेण द्विसहस्रगोप्रदानफलं भवति । तद्रुद्राक्षे कर्णयोर्धार्यमाणे एकादशसहस्रगोप्रदानफलं भवति । एकादशरुद्रत्वं च गच्छति । तद्रुद्राक्षे शिरसि धार्यमाणे कोटिगोप्रदानफलं भवति । एतेषां स्थानानां कर्णयोः फलं वक्तुं न शक्यमिति होवाच ।। ४८ ।।

य इमां रुद्राक्षजाबालोपनिषदं नित्यमधीते बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति । स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवति । एतैरेव होमं कुर्यात् । एतैरेवार्चनम् । तथा राक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत । सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते। तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्गां दद्यात् सा दक्षिणा भवति । य इमामुपनिषदं ब्राह्मणः प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतपापं

नाशयति । मध्याह्ने ऽधीयान षड्जन्मकृतपाप नाशयति । सायं प्रात प्रयुञ्जानोऽनेकजन्मकृतपाप नाशयनि षट्सहस्रलक्षगायत्री-जपफलमवाप्नोति ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुदारगमनतत्स-योगपातकेभ्य पूतो भवनि सर्वतीर्थफलमश्नुते पनितसभाषणात् पूतो भवति पङ्क्तिशतसहस्रपावनो भवति शिवसायुज्यमवाप्नोति न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इत्यो सत्यमित्युपनिषत् ॥ ४९ ॥

सो रुद्राक्ष शब्दो क उच्चारण से दस गोदान करने का फल प्राप्त होता है । वही भस्म ज्योति रुद्राक्ष भी कहा जाता है । उस रुद्राक्ष को हाथ से छूकर धारण करने मात्र से दो हजार गौदान करने का फल प्राप्त करता है । इन रुद्राक्षो को दोनो कानो मे धारण करने मे (पर) ग्यारह हजार गौदान करन का फल होता है । तथा वह एकादश रुद्र के स्वरुप को प्राप्त करता है । उस रुद्राक्ष को शिर से धारण करने पर करोट गौओ के दान करने का फल होता है । इन स्थानो के कानो के फल (अधिक कहे नही जा सकते ॥ ४८ ॥ जो इस रुद्राक्ष जाबालोपनिषद् को हमेशा पढता है अथवा जानता है वह बालक हो अथवा जवान हो वह महान् आत्मा होता है । वह गुरु तथा सब मन्त्रो का उपदेश करने वाला होता है । इन्ही से होम करना चाहिये । इन्ही से पूजा करनी चाहिये । तथा राक्षसो के नाशक, मृत्यु नाशक, रुद्राक्षो को गुरु द्वारा प्राप्त कर, कण्ठ, भुजा अथवा चोटी मे बाँधना चाहिये । इसकी दक्षिणा के लिये (गुरु दक्षिणा) सातो द्वीपो युक्त पृथ्वी भी कम है । अत श्रद्धापूवक जिस किसी गौ को दे वही दक्षिणा होती है । जो ब्राह्मण इस उपनिषद को प्रात पढता है वह रात मे किये पापो को नष्ट कर देता है तथा जो सायकाल पढता है उसके दिन मे किये पाप नष्ट

हो जाते हैं। जो मध्याह्न, (दोपहर) में पढता है। उसके छः जन्मों के पाप नष्ट हो जाते है। प्रतिदिन प्रातः साय पढने से अनेक जन्मों के किये पाप नष्ट हो जाते है। तथा छः हजार लाख गायत्री जप के फल को प्राप्त करता है एवं ब्रह्महत्या, सुरापान (शराब पीना) सोना चुराना गुरु की पत्नी से सम्भोग करना, आदि २ पापों के करने पर भी पवित्र हो जाता है। तथा सभी तीर्थों के फल को प्राप्त करता है। नीचों से बातचीत करने पर जो पाप लगता है अथवा पुण्यक्षय होता है उससे भी छूट जाता है एव वह सैकड़ों हजारों पंक्तियों को (अर्थात् बहुत अधिक प्राणियों को) पवित्र करने वाला हो जाता है। तथा शिवजी की समीपता को प्राप्त करता है (अर्थात् सदा शिव के साथ विहरण करता है) और कभी फिर जन्ममृत्यु के चक्कर में नही फँसता ॥ ४६ ॥

॥रुद्राक्षजाबालोपनिषद् समाप्त ॥

रामपूर्वतापिन्युपनिषत

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।। स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें। सुदृढ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करे, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुडदेव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति. शांतिः शांतिः।।

ॐ चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः।। १।।

स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः।
राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा।। २।।

रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः।
राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा।। ३।।

प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम्।
धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः।। ४।।

तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात्।

तथा रात्यस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः ॥ ५ ॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ पर ब्रह्माभिधीयते ॥ ६ ॥

भगवान् विष्णु ने जब रघुवंशीय महाराज दशरथ के यहाँ जन्म लिया, तब उनका नाम 'राम' हुआ । विद्वज्जनों ने 'राम' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा कि जो पृथिवी पर स्थित होकर संतजनों की सब कामनाएं पूर्ण करते हैं और जो राजा के रूप में शोभायमान है, वे राम है। जिनके द्वारा राक्षसगण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे राम हैं। कुछ विद्वानो ने उन्हे अभिराम होने से राम माना और कुछ ने कहा कि अपनी ही उन्नति से जिनका पृथिवी पर बल प्रसिद्ध हुआ वह राम है। राहु जैसे चन्द्रमा को प्रभा-हीन कर देता है, वैसे राक्षसों को प्रभाहीन कर देने से वे राम हैं। कुछ विद्वानों के मत में राज्य प्राप्ति के अधिकारी जो राजा लोग है, उनको आदर्श चरित्र उपस्थित कर श्रेष्ठ मार्ग का उपदेश करते हैं तथा ध्यान करने वाले को वैराग्य देते और नामो-च्चारण करने वाले को ज्ञान-मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं तथा जो विग्रहपूजक को ऐश्वर्यवान् बनाते है, उनके इन गुणों के कारण ही पृथिवी पर उनका नाम राम हुआ होगा। परन्तु, इससे भिन्न मत यह है कि जिस नित्यानन्द स्वरूप, चिन्मय और अनन्त ब्रह्म में योगीजन लीन रहते हैं, वह परमेश्वर 'राम' के द्वारा ही प्रतिपाद्य है ॥ १—६ ॥

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ ७ ॥

रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना ।
द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश ॥ ८ ॥

अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः ।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना ॥ ९ ॥

शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा ।
कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना ॥ १० ॥

ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्रोऽन्वर्थादिसंज्ञिकः ।
जप्तव्यो मन्त्रिणा नैवं विना देवः प्रसीदति ॥ ११ ॥

क्रियाकर्मेज्यकर्तॄणामर्थं मन्त्रो वदत्यथ ।
मननात्त्राणनान्मन्त्रः सर्वं वाच्यस्य वाचकः ॥ १२ ॥

सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना ।
विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति ॥ १३ ॥

परमात्म रूप ब्रह्म देह-रहित, अवयव-रहित, अद्वितीय और प्राकृत हैं, परन्तु भक्तों के इच्छित कार्यों को सिद्ध करने के लिए वह आकार को प्रकट करता है ॥ ७ ॥ परमात्मा के स्वरूप में स्थित देवताओं को ही पुरुष, स्त्री, अङ्ग, अस्त्र आदि के रूप में कल्पित किया गया है । भगवान् के साकार विभिन्न अवतारों में दो, चार, छः, आठ, बारह, सोलह, अठारह हाथ तक वर्णित हैं । उनमें वे शङ्ख चक्र आदि भी लिये रहते हैं और जब वे विश्व रूप धारण करते हैं तब तो हजारों हाथ होते हैं । उन सब रूपों के विभिन्न रङ्ग तथा वाहन आदि होते हैं । उनके लिये विभिन्न शक्तियों, सेनाओं और शस्त्रों की कल्पना होती है । इस प्रकार सूर्य, गणेश, दुर्गा, विष्णु आदि रूपों में पञ्चभौतिक देह तथा उनके अनुरूप विभिन्न प्रकार की सेना और अनुचर आदि कल्पित हुए हैं ॥ ८–१० ॥ वृक्षादि जड़ पदार्थ, चेतन शरीर तथा ब्रह्मा तक सभी का वाचक यह 'राम' मन्त्र है । इसका जैसा अर्थ है, वैसा ही गुण है । इस मन्त्र की दीक्षा लेकर निरन्तर जप करने से भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त

होती है। साधक गण अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिए मन्त्र की दीक्षा देते है। मनन और त्राणन के गुण से सम्पन्न होने के कारण उसे मन्त्र कहते है। मत्र ही सब अभिधेयो का वाचक है। जो भगवान् स्त्री-पुरुष दोनो रूप मे प्रतिष्ठित है उनके प्रतीक रूप मे विग्रह यत्र की रचना की जाती है। क्योकि बिना यत्र की अर्चना देवताओ को प्रसन्न करने मे समर्थ नही होती ॥ ११—१३ ॥

स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते ।
जीवत्वेन समो यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च ॥ १ ॥
कारणत्वेन चिच्छक्त्या रज सत्त्वतमोगुणै ।
यथैव वटबीजस्थ प्राकृतश्च महान्द्रुम ॥ २ ॥
तथैव रामबीजस्थ जगदेतच्चराचरम् ।
रेफारूढा मूर्तय स्यु शक्तयस्तिस्र एव चेति ॥ ३ ॥

सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्या भुवनानि द्विसप्त। स्थितानि च प्राहेतान्येव तेषु ततो रामो मानवो मायया-धात् ॥ १ ॥ जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै नम स्यान्नमस्त्वैक्य प्रवदे-त्प्राग्गुणेनेति ॥ २ ॥

जीववाची नमो नाम ह्यात्मारामेति गीयते ।
तदात्मिका या चतुर्थी तथा मायेति गीयते ॥ १ ॥
मन्त्रोऽय वाचको रामो वाच्य स्याद्योग एतयो ।
फलतश्चैव सर्वेषा साधकाना न सशय ॥ २ ॥
यथा नामी वाचकेन नाम्ना योऽभिमुखो भवेत् ।
तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत् ॥ ३ ॥
बीजशक्तिन्यसेद्दक्षवामयो स्तनयोरपि ।
कीलो मध्ये विना भाव्य. स्ववाञ्छाविनियोगवान् ॥४॥
सर्वेषामेव मन्त्राणामेष साधारण क्रम ।
अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वह्निना सम ॥ ५ ॥

सत्त्वनुष्णगुविश्वश्चेदग्नीषोमात्मकं जगत् ।
उत्पन्नः सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ।। ६ ।।
प्रकृत्या महितः श्यामः पीतवासा जटाधरः ।
द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः ।। ७ ।।
प्रसन्नवदनो जेता घृष्टयष्टकविभूषितः ।
प्रकृतया परमेश्वर्या जगद्यान्याङ्किताङ्कभृत् ।। ८ ।।
हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकृतया चिता ।
श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः ।। ९ ।।
दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ सधनुष्पाणिना पुनः ।
हेमाभेनानुजेनैव तथा कोणत्रयं भवेत् ।। १० ।।

साकार होने वाले परमेश्वर स्वयंभू कहलाते हैं, क्योकि उनके प्रकट करने में कोई कारण रूप नहीं होता, वे स्वयं ही उत्पन्न होते हैं । वे ज्योति स्वरूप हैं और अपने प्रकाश मे सदा प्रकाशित रहते हैं । वे साकार होने पर भी अनन्त रहते हैं क्योंकि वे देश, काल आदि की सीमा मे सीमित नही रहते । वे अपनी चैतन्य शक्ति प्राण रूप से सभी देह धारियो में स्थित रहते हैं और वे ही सत्व, रज, तम गुणों के द्वारा विश्व की सृष्टि, रक्षा और अन्त करने में समर्थ है । इन गुणो के कारण ही संसार प्रत्यक्ष दिखाई देता है । परन्तु यह दृग्गोचर संसार भी ओंकार रूप ही है । जैसे महान् वट वृक्ष अपने छोटे से बीज में स्थित रहता है वैसे ही यह विशाल विश्व रामबीज में स्थित है । ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह तीनों तथा उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली शक्तियाँ, नाद-बिन्दु और बीज से उत्पन्न रौद्री, ज्येष्ठा और वामा- यह सभी राम के 'रकार' पर टिके हुए है । इस बीज मन्त्र में पूजनीय सीता रूप प्रकृति और राम रूप पुरुष है । चौदहों भुवन इन दोनों से ही प्रकट हुए है । यह लोक इन दोनों के ही आश्रित है । इन सब का लय भी ओंकार रूप ब्रह्मा, विष्णु, शिव में ही होता है । राम ने

लीला-पूर्वक ही अपने को मनुष्य रूप में प्रकट किया है। इन विश्व प्राण और विश्वात्मा राम को नमस्कार है। इन प्रकार नमन के पश्चात् गुणों से भी पूर्व प्रकट हुए परब्रह्म रूप राम के साथ अपने एकीभाव का अनुभव करता हुआ 'मै ही रामरूप ब्रह्म हूँ' इस प्रकार उच्चारण करे॥ १-४॥

'राम' के द्वारा आत्मा प्रतिपादित होती है और नमः जीव वाचक है। राम के साथ मिली हुई विभक्ति से जीव और आत्मा के एकीभाव का वर्णन किया जाता है। 'रामाय नमः' मंत्र के राम ही वाच्य है, इन दोनों के सम्मिलन से सब उपासकों को इच्छित फल प्राप्त होता है। जैसे जिस किसी का नाम लिया जाय, वह अपने नाम की पुकार सुनकर तुरन्त सामने आता है, वैसे ही बीज रूप मन्त्र राम का उच्चारण किये जाने पर राम भी साधक के समक्ष प्रत्यक्ष होते है। बीज का दक्षिण स्तन पर और शक्ति का वाम स्तन पर तथा कीलक का हृदय के मध्य में न्यास और कामना—सिद्धि के निमित्त विनियोग करे। जब ध्यान किया जाय तब दशरथ तनय श्रीराम मे अनन्त, अविनाशी परमेश्वर की भावना करनी चाहिए। उन्हें अत्यंत तेजोमय अग्नि के समान मानना चाहिए। जब वे सौम्य कान्ति वाली श्रीसीता जी से युक्त होते हैं, तव वे अग्निषोमात्मक विश्व के कारणभूत होते हैं। जैसे चन्द्रमा चन्द्रिका के साथ अत्यंत शोभा युक्त होता है, वैसे ही राम सीता के साथ अत्यंत सुशोभित होते है॥ १—६॥

श्रीराम अपनी आह्लादनी शक्ति सीता के साथ सुशोभित हैं। वे श्याम वर्ण के हैं। उनके देह पर पीताम्बर, सिर पर जटाऐं कानों में कुण्डल तथा कंठ में श्रेष्ठ रत्नों की मालाऐं पड़ी है। उनके दो भुजाऐं है। वे स्वभाव से धीर और सदा प्रसन्नमुख वाले है। वे धनुर्धारी राम युद्ध में सदा जीतते हैं। अणिमा आदि आठों ऐश्वर्यभूता शक्तियाँ उनकी शोभा वृद्धि करती हैं। वाम अङ्ग में संसार की कारण

रूपिणी सीताजी सुशोभित है । वे सुवर्ण के समान उज्वल कान्ति वाली है । वे दो भुजा वाली सीता दिव्य अलङ्कारों से अलंकृत और हाथ में सुन्दर कमल पुष्प लिये हुए है । उनके साथ विराजमान श्रीराम सुन्दर और पुष्ट लगते है । राम के दक्षिण ओर उनके लघु भ्राता गौरवर्ण लक्ष्मणजी खड़े है, उनके हाथों मे धनुषवाण है । इन तीनों के इस प्रकार प्रतिष्ठित होने से एक सुशोभित त्रिकोण की सृष्टि होती है ।७-१०।

तथैव तस्य मन्त्रस्य यस्याणुश्च स्वङेन्तया ।
एवं त्रिकोणरूपं स्यात्तं देवा ये समाययुः ॥ ११ ॥
स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम् ।
कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥ १२ ॥
नमो वेदादिरूपाय ओङ्काराय नमो नमः ।
रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥ १३ ॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने ।
भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥ १४ ॥
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम ।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥ १५ ॥
त्वमैश्वर्यं दापयाथ संप्रत्याश्वरिमारणम् ।
कुर्विति स्तुत्य देवाद्यास्तेन सार्धं सुखं स्थिताः ॥ १६ ॥
स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः ।
रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे ॥ १७ ॥
स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः ।
तव्द्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च ॥ १८ ॥
विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्य चासुरम् ।
हत्वा कबन्धं शबरीं गत्वा तस्याज्ञया तया ॥ १९ ॥
पूजितो वायुपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम् ।
आहूय शंसतां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

स तु रामे शङ्कितः सन्प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः ।
विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत् ॥ २१ ॥
सप्त सालान्विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा ।
तेन हृष्टः कपीन्द्रोऽसौ स रामस्तस्य पत्तनम् ॥ २२ ॥
जगामागर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात् ।
तदा वाली निर्जगाम तं वालिनमथाहवे ॥ २३ ॥
निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयत्ततः ।
हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना ॥ २४ ॥

राममंत्र का बीज जैसा 'राम' है, वैसे ही अब उसका शेषांश कहा जाता है। राम शब्द के चतुर्थ्यन्त रूप मे नमः मिलने से 'राँ रामाय नमः' बनता है। यदि यह षडक्षर मन्त्र सिद्ध हो जाय तो छः कोण बनते हैं।

एक समय की बात हैं—देवगण भगवान् राम के दर्शनार्थ पधारे। उस समय श्रीराम कल्पवृक्ष के नीचे एक रत्न जटित सिंहासन पर विराजमान थे। देवगण उनके दर्शन कर इस प्रकार स्तवन करने लगे—'काम रूप मे युक्त, माया रूप के धारण करने वाले श्रीराम को नमस्कार है। वेद के आदि रूप ओंकार स्वरूप श्रीराम को नमस्कार है। सीता रूप रमा के धारण करने वाले, नयनाभिराम एवं आत्म-स्वरूप श्रीराम को नमस्कार है। श्रीसीताजी का देह ही जिनका अलङ्कार है और जो राक्षसों के मारने वाले है, जो रावण के लिए मृत्यु रूप तथा कल्याणमय विग्रह से युक्त श्रीराम को नमस्कार है। हे नृपोत्तम, हे दशमुख विनाशक, हे महाधनुर्धर श्रीराम हमारी रक्षा करो। हमे अपने से संबन्धित श्री से सम्पन्न करो।'

'हे श्रीराम ! हमको ऐश्वर्य प्राप्त कराओ।' इस प्रकार देवगण उनकी स्तुति करते रहे। जब तक श्रीराम खर नामक राक्षस का संहार करने में लगे; तब तक देवताओं ने और ऋषियों ने भी उनकी

स्तुति की। जब खर और उसके साथी राक्षस मारे गये तब राक्षस-राज रावण ने वन में पहुँच कर श्रीसीताजी का हरण कर लिया। 'वन, से सीता का हरण करने के कारण उस राक्षस को 'रावण' कहा गया क्योंकि राम शब्द से 'रा' और 'वन' में 'वन' लेने पर रावण नाम बन जाता है। अथवा जो दूसरों को रुलावे वह रावण कहा जाता है।

एक समय की बात है—रावण ने कैलाश को उठा लिया तब शिवजी ने कैलाश को इतना भारी कर दिया कि वह उसे ही दाबने लगा। तब तो उसने बड़ा भारी रव (शोर) किया, इसीसे उसका नाम रावण हुआ।

सीता हरण के पश्चात राम और लक्ष्मण दोनों ही उनकी खोज के निमित्त बन में विचरण करने लगे। तभी उनके सामने कबन्ध नामक एक राक्षस आया, उन्होंने उसे मार डाला और उसके कहने से वे शबरी के आश्रम पर गए। वहाँ शबरी ने उनका अत्यन्त भक्ति-भाव से सत्कार किया। फिर आगे चलने पर वायु पुत्र हनुमान से उनकी भेंट हुए। उन्होंने सुग्रीव को बुलाकर इन दोनो से मेल कराया और और मैत्री होने पर राम-लक्ष्मण ने अपना सब हाल उनसे कहा।

सुग्रीव ने राम के अधिक पराक्रमी होने में संदेह किया और वाली द्वारा मारे हुए दुंदुभि नामक राक्षस का देह राम को दिखाया। राम ने उस राक्षस के शरीर को बात की बात मे बहुत दूर फेंक दिया और अपने एक बाण से ताल के सात वृक्षों को गिरा कर सुग्रीव के संदेह की निवृत्ति की। इससे सुग्रीव को बड़ी प्रसन्नता हुई।

इसके पश्चात् श्रीराम सुग्रीव के नगर में पहुँचे। वहां सुग्रीव ने घोर गर्जना कर वाली को युद्ध के लिए ललकारा। तब वाली भी घोर गर्जना करता हुआ अपने घर से दौड़ा हुआ आया। उस समय युद्ध में वाली श्रीराम के द्वारा मारा गया और किष्किधा की राजगद्दी पर सुग्रीव का अभिषेक हुआ ॥ ११—२४ ॥

आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत ।
ततस्ततार हनुमानब्धि लङ्कां समाययौ ॥ २५ ॥

सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा पुर दग्ध्वा तथा स्वयम् ।
आगत्य रामेण सह न्यवेदयन तत्त्वतः ।। २६ ॥

तदा रामः क्रोधीरूपी तानाहूयाथ वानरान् ।
तैः सार्धमादायास्त्राणि पुरीं लङ्कां समाययौ ॥ २७ ॥

तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्धं युद्धमकारयत् ।
घटश्रोत्रसहस्राक्षजिद्भ्यां युक्तं तमाहवे ॥ २८ ॥

हत्वा बिभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम् ।
आदायाङ्कस्थितां कृत्वा स्वपुर तैर्जगाम सः ॥ २९ ॥

ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजो रघुनन्दनः ।
धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरणभूषितः ॥ ३० ॥

मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये वामे तेजःप्रकाशिनीम् ।
धृत्वा व्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः ॥ ३१ ॥

उदग्दक्षिणयोः स्वस्य शत्रुघ्नभरतौ ततः ।
हनूमन्तं च श्रोतारमग्रतः स्यान्त्रिकोणगम् ॥ ३२ ॥

भरताधस्तु सुग्रीव शत्रुघ्नाधो बिभीषणम् ।
पश्चिमे लक्ष्मण तस्य धृतच्छत्र सचामरम् ॥ ३३ ॥

तदधस्तौ तालवृन्तकरौ त्र्यस्रं पुनर्भवेत् ।
एवं षट्कोणमादौ स्वदीर्घाङ्गैरेष संयुतः ॥ ३४ ॥

द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्नेयादिषु संयुतः ।
तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥ ३५ ॥

बिभीषणं लक्ष्मणं च अङ्गदं चारिमर्दनम् ।
जाम्बवन्तं च तैर्युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥ ३६ ॥

विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धन एव च ।
अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चैभिरावृतः ॥ ३७ ॥
ततः सहस्रदृग्वह्निर्धर्मज्ञो वरुणोऽनिलः ।
इन्द्रीशधात्रनन्ताश्च दशभिश्चैभिरावृतः ॥ ३८ ॥
बहिस्तदायुधैः पूज्यो नीलादिभिरलंकृतः ।
वसिष्ठवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥ ३९ ॥

इसके पश्चात् सुग्रीव ने अपने बानरों को बुलाकर कहा—वीरो ! तुम से कोई दिशा छिपी हुई नहीं है । अतः तुम शीघ्र ही यहाँ से जाकर श्री सीता जी की खोज करो आज ही लौट कर इसकी सूचना भगवान् श्रीराम को सुनाओ । फिर हनुमान जी समुद्र को लाँघ कर लङ्का में जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने सीताजी को देखा और अनेक राक्षसो को मार कर लङ्का को जला डाला । फिर वे लौट कर श्रीराम के समक्ष उपस्थित हुए और उनको सब समाचार सुनाया । उस समय श्रीराम को अत्यन्त क्रोधावेश हुआ और बानरों को साथ लेकर लङ्का की ओर चल पड़े । लङ्का पर आक्रमण करने के लिए उसका निरीक्षण किया गया और फिर युद्ध छिड़ गया । लङ्कापति रावण का भाई कुम्भकर्ण मारा गया । फिर इन्द्रजित और रावण भी युद्ध में मर गये । तब विभीषण को लङ्का का राज्य देकर श्रीराम ने सीताजी को अपने वामांग में प्रतिष्ठित किया और सब बानरों को साथ लेकर अयोध्या की ओर चल पड़े । भगवान् श्रीराम अयोध्या के राज-सिंहासन पर प्रतिष्ठित होगए । उन धनुर्धर राम का स्वभाव ही प्रसन्न रहने का है । वे सब प्रकार के अलङ्कारों से अलंकृत हैं । उनके दक्षिण हाथ में ज्ञानमयी मुद्रा और वाम हाथ में तेज को प्रकाशित करने वाली धनुर्मयी मुद्रा स्थित है । इस प्रकार द्विभुज रूपधारी श्रीराम स्वयं

व्याख्यान मुद्रा में स्थित हो रहे हैं । अब श्रीराम के उत्तर भाग मे शत्रुघ्न और दक्षिण भाग में भरत हैं । हनुमानजी श्रीराम के सम्मुख करवद्ध खड़े हैं । यह भी त्रिकोण में स्थित है । भरत के नीचे की ओर सुग्रीव तथा शत्रुघ्न के नीचे की ओर विभीषण खडे हुए हैं । श्रीराम के पीछे लक्ष्मण अपने हाथो में छत्र-चँवर लिए हुए बैठे हैं । भरत-शत्रुघ्न के हाथों में ताड के पखे है । इस प्रकार लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न एक त्रिकोण की स्थिति मे हैं । भगवान् श्रीराम अपने बीजमन्त्र वाले दीर्घ अक्षरों के आवरण मे घिरे बैठे हैं । भगवान् राम के आग्नेय आदि दिशाओ की ओर वासुदेव, संकर्षण, शान्ति, श्री, सरस्वती, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और रति हैं । श्रीराम इनसे युक्त रहते हुए द्वितीय आवरण में घिरे हैं । भरत, शत्रुघ्न, लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान् और विभीषण जब श्रीराम के साथ होते हैं तब तृतीय आवरण होता है । राष्ट्रवर्द्धन, अकोप, सुराष्ट्र, धृष्टि, जयंत, विजय, सुमन्त और धर्मपाल के सहित भी तीसरा आवरण ही सिद्ध होता है । तब ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण, वायु, चन्द्रमा, निर्ऋति, अनन्त और ईशान इन दस दिक्पालों से श्रीराम के आवृत्त होने पर चतुर्थ आवरण बन जाता है । इन दिक्पालों के बाहरी भाग में इनके आयुध रहते हैं । इसी आवरण में नल आदि बानर भगवान् को सुशोभित करते हैं । उनके साथ ही वसिष्ठ और वामदेव आदि महर्षि भी श्रीराम की उपासना मे लीन दिखाई देते हैं ॥ २५—३९ ॥

एवमुद्देशतः प्रोक्तं निर्देशस्तस्य चाधुना ।
त्रिरेखापुटमालिख्य मध्ये तारद्वयं लिखेत् ॥ ४० ॥
तन्मध्ये बीजमालिख्य तदधः साध्यमालिखेत् ।
द्वितीयान्तं च तस्योर्ध्वं षष्ठयन्तं साधकं तथा ॥ ४१ ॥

कुरु द्वयं च तत्पार्श्वे लिखेद्बीजान्तरे रमाम् ।
तत्सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टयेच्छुद्धबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

दीर्घभाजि षडस्त्रे तु लिखेद्बीजं हृदादिभिः ।
कोणपार्श्वे रमामाये वदग्रेऽनङ्गमालिखेत् ॥ ४३ ॥

क्रोध कोणाग्रान्तरेषु लिख्य मन्त्र्यभितो गिरम् ।
वृत्तत्रय साष्टपत्र सरोजे विलिखेत्स्वरान् ॥ ४४ ॥

केसरे चाष्टपत्रे च वर्गाष्टकमथालिखेत् ।
तेषु मालामनोर्वर्णान्विलिखेद्भूमिसंख्यया ॥ ४५ ॥

अन्ते पञ्चाक्षराण्येव पुनरष्टदलं लिखेत् ।
तेषु नारायणाष्टार्णाल्लिख्य तत्केसरे रमाम् ॥ ४६ ॥

तद्बहिर्द्वादशदल विलिखेद्द्वादशाक्षरम् ।
अथोंनमो भगवते वासुदेवाय इत्ययम् ॥ ४७ ॥

पूजा यंत्र का संक्षिप्त वर्णन किया गया । अब उसका निर्देश करते हैं । सम रेखाओं के दो त्रिकोण बनाकर उनके बीच में पृथक्-पृथक प्रणव लिखे, फिर उन दोनों के मध्य में आद्यबीज लिखे और उसके नीचे जो कार्य सिद्ध करना है, उसका उल्लेख करे। साध्य का नाम द्वितीयान्त हो और आद्यबीज के शीर्ष भाग में साधक का नाम षष्ठ्यन्त रहे । फिर बीज के इधर-उधर एक-एक कुरुपद का उल्लेख करे। बीज के मध्य भाग में तथा साध्य के ऊपर श्री लिखे। यह सब इस प्रकार लिखने चाहिये कि वे दोनों प्रणवो में सम्पुटित रहें। तत्पश्चात् छहों कोणों में दीर्घ स्वर वाले मूल-बीज को उल्लिखित करे । फिर एक-एक के साथ हृदयाय नमः और शिरसे स्वाहा लिखे। कोणों के बगल में श्री, ह्रीं, क्लीं लिखे और कोण के अगले भाग में हुम् और हुम् के दोनों ओर ऐं लिखना चाहिए। इसके पश्चात् तीन वृत्त बनाकर उन वृत्तों के साथ ही

आठदल वाला कमल बनावे। कमल की केसर मे दो-दो अक्षर के क्रम-पूर्वक सब स्वर वर्णों को लिखना चाहिए। कमल के आठ दलों में छः छः वर्ण के क्रमसे उल्लेख करे। माला-मंत्र के सेंतालीस वर्ण पूरे करने के लिए आठवे दल में पाँच वर्ण ही रह जायंगे। ऊपर बताये ढँग से पुनः एक कमल बनाकर उसकी आठों पंखुड़ियों पर 'ॐ नमो नारायण' मंत्र के एक-एक अक्षर को लिखे उसके केसर में श्री लिखे। उसके ऊपर बारह पंखड़ियों का कमल बनाकर उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर द्वादशाक्षर मंत्र का एक-एक अक्षर लिखना चाहिये ॥ ४०—४७ ॥

आदिक्षान्तान्केसरेषु वृत्ताकारेण संलिखेत्।
तद्बहिः षोडशदलं लिख्य तत्केसरे ह्रियम् ॥ ४८ ॥
वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं दलेषु द्वादशाक्षरम्।
तत्सन्धिष्विरजादीनां मन्त्रान्मन्त्री समालिखेत् ॥ ४९ ॥
ह्रं स्रं भ्रं व्रं लूमँ श्रं त्रं च लिखेत्सम्यक्ततो बहिः।
द्वात्रिंशारं महापद्मं नादबिन्दुसमायुतम् ॥ ५० ॥
विलिखेन्मन्त्रराजार्णांस्तेषु दात्रेषु यत्नतः।
ध्यायेदष्टवसूनेकादशरुद्रांश्च तत्र वै ॥ ५१ ॥
द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं च तद्बहिः।
भूगृहं वज्रशूलाढ्यं रेखात्रयसमन्वितम् ॥ ५२ ॥
द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं फणिसंयुतम्।
अनन्तो वासुकिश्चैव तक्षः कर्कोटपद्मकः ॥ ५३ ॥
महापद्मश्च शङ्खश्च गुलिकोऽष्टौ प्रकीर्तिताः।
एवं मण्डलमालिख्य तस्य दिक्षु विदिक्षु च ॥ ५४ ॥

नारसिंहं च वाराहं लिखेन्मन्त्रद्वयं तथा ।
कूटो रेफानुग्रहेन्दुनादशक्त्यादिभिर्युतः ॥ ५५ ॥
यो नृसिंहः समाख्यातो ग्रहमारणकर्मणि ।
अन्त्याङ्घ्रीशवियद्बिन्दुनादैर्बीजं च सौकरम् ॥ ५६ ॥
हुंकारं चात्र रामस्य मालामन्त्रोऽधुनेरितः ।
तारो नतिश्च निद्रायाः स्मृतिर्भेदश्च कामिका ॥ ५७ ॥
रुद्रेण संयुना वह्निर्मेधामरविभूषिता ।
दीर्घा क्रूरयुता ह्लादिन्यथो दीर्घसमायुता ॥ ५८ ॥
क्षुधा क्रोधिन्यमोघा च विश्वमप्यथ मेधया ।
युक्ता दीर्घज्वालिनी च सुसूक्ष्मा मृत्युरूपिणी ॥ ५९ ॥
सप्रतिष्ठा ह्लादिनी त्वक्क्ष्वेलप्रीतिश्च सामरा ।
ज्योतिस्तीक्ष्णाग्निसंयुक्ता श्वेतानुस्वारसंयुता ॥ ६० ॥
कामिकापञ्चमूलान्तस्तान्तान्तो थान्त इत्यथ ।
स सानन्तो दीर्घयुतो वायुः सूक्ष्मयुतो विषः ॥ ६१ ॥
कामिका कामका रुद्रयुक्ताथोऽथ स्थिरातपा ।
तापनी दीर्घयुक्ता भूरनलोऽनन्तगोऽनिलः ॥ ६२ ॥
नारायणात्मकः कालः प्राणाभो विद्यया युतः ।
पीताराातिस्तथा लान्तो योन्या युक्तस्ततो नतिः ॥ ६३ ॥
सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तःस्पृङ् मनुः स्वयम् ।
राज्याभिषिक्तस्य तस्य रामस्योक्तक्रमाल्लिखेत् ॥ ६४ ॥
इदं सर्वात्मकं यन्त्रं प्रागुक्तमृषिसेवितम् ।
सेवकानां मोक्षकरमायुरारोग्यवर्धनम् ॥ ६५ ॥

अपुत्राणां पुत्रदं च बहुना किमनेन वै ।
प्राप्नुवन्ति क्षणात्सम्यगत्र धर्मादिकानपि ।। ६६ ।।
इद रहस्यं परममीश्वरेणापि दुर्गमम् ।
इद यन्त्रं समाख्यात न देय प्राकृते जने ।। ६७ ।। इति ।।

बारह पंखुडी वाले कमल की केसरों में 'अ' से 'क्ष' तक के वर्ण वृत्ताकार में लिखे । उसके बाहरी भाग में फिर सोलह पखुडियों का कमल बनाकर, केसरो मे ह्ली अङ्कित करे । उसकी सोलह पंखुडियों में एक-एक पर एक-एक अक्षर के क्रम से 'हूं' 'फट्' 'नम:' और द्वादशाक्षर मत्र लिखना चाहिए । पंखुडियों की सधियों में हनुमान जैसे वीर पुरुषों के बीज मंत्र लिखे । उसके बाहरी भाग में नाद विन्दु से युक्त बत्तीस पंखुड़ियों का एक विशाल कमल बनावे । पँखुड़ियों पर नारसिंह मंत्रराज के बत्तीस अक्षरो को क्रमपूर्वक लिखे । उन पंखुडियों मे ही आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य और सब के धारक वषट्कार का न्यास एवं ध्यान करना चाहिए । इस बत्तीस पंखुडियों वाले कमल के बाहरी भाग में भूपुर यंत्र बनावे और उसके चारो ओर वज्र तथा कोणों में शूल अङ्कित करे । भूपुर को तीन रेखाओं से मिलावे, यह रेखाएँ सत्य, रज, तम गुणों की सूचक हैं । मण्डप में बने द्वार के समान इसमें भी द्वार बनाना चाहिए । भूपुर मे राशि आदि बनाकर भूपुर-यंत्र को शेष नाग से युक्त करना चाहिये ।

भूपुर-यंत्र-लेखन के पश्चात् उसकी चारों दिशाओं में नारसिंह बीजमंत्र और कोणों में वाराह बीज मंत्र लिखना चाहिए । अनुग्रह, इन्दु, नाद, शक्ति आदि से युक्त क्ष्रौं मंत्र ही नारसिंह बीज मंत्र है । यह मत्र शत्रुओं का नाश करने, ग्रह-बाधाओं को शान्त करने और इच्छित सिद्धि प्राप्त कराने वाला है । अन्त्य वर्ण, अधीश, विन्दु,

नाद और शक्ति आदि मे सम्पन्न 'हुम्' वाराह बीज-मंत्र है। अब श्रीराम विषयक माला-मंत्र को कहेंगे। इसमें प्रथम प्रणव, फिर नमः, निद्रा, स्मृति, मेद और कामिका है जो रुद्र मे युक्त है, फिर अमर मे अलकृत अग्नि और मेधा है। फिर अक्रूर मे युक्त दीर्घ कला है। फिर ह्लादिनी है और इसके बाद मानदा कला से विभूषित दीर्घा कला है, फिर क्षुधा है। यहाँ तक कि 'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय' बन गया। इसके पश्चात् क्रोधिनी, अमोघा और मेधा से युक्त विश्व है। फिर दीर्घा है ज्वालिनी सूक्ष्म से संयुक्त है। फिर प्रतिष्ठा से युक्त प्रणवकला है। फिर ह्लादिनी और त्वक् है। यहाँ तक 'रक्षोघ्नविशदाय' की पूर्ति हुई। फिर क्ष्वेल, प्रीति, अमर, ज्योति, अग्नि मे युक्त तीक्ष्णा, अनुस्वार से युक्त श्वेता, फिर कामिका, व, द और अनन्त मे युक्त न, दीर्घ स्वर युक्त वायु, सूक्ष्म इकार युक्त विष, कामिका, कामिका मे रुद्र, स्थिरा, और ए की मात्रा युक्त स है। इसमें 'मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे' बन गया। फिर तापिनी, दीर्घ भू, अनिल मे 'बलाय' बना। फिर अनन्तग अनल, नारायणात्मक मकार और प्राण से 'रामाय' सिद्ध हुआ, विद्यामय अम्भस्, पीता, रति, ए की मात्रा युक्त व है, इससे विष्णवे बना। अन्त मे नमः और प्रणव है। यह सैंतालीस अक्षरों वाला राज्याभिषिक्त श्रीराम से संबधित माला-मत्र है। सगुण होते हुए भी यह साधकों के तीनो गुणों को नष्ट करने वाला है। यह मत्र पूर्वोक्त क्रम-पूर्वक ही लिखा जाना चाहिए। उपरोक्त मंत्र सर्वात्मक है। इसे प्राचीन कालीन विद्वानो ने बताया और अनेक ऋषि मुनियों ने इसके द्वारा साधना की है। इसके सेवन करने वाले साधकों को आरोग्य की प्राप्ति तथा आयु वृद्धि होती है और अन्त मे वे इस संसार के बंधनों से मुक्त हो जाते है। यह साधन पुत्रहीनों को पुत्र प्राप्त कराने वाला है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य

आदि सभी अभीष्टों की इससे पूर्ति होती है। इसका साधन करने वाले जन शीघ्र ही अपना इच्छित प्राप्त करते है। यह रहस्य अत्यन्त गोपनीय है, परन्तु बिना दीक्षा के अत्यन्त समर्थ विद्वान् के लिए भी कठिन है। अनधिकारी पुरुषों को इसका कभी उपदेश न करे ॥ ४८—६७ ॥

ॐ भूतादिकं शोधयेद्द्वारपूजां
कृत्वा पद्माद्यासनस्थः प्रसन्नः।
अर्चाविधावस्य पीठाधरोर्ध्वपार्श्वार्चनं
मध्यपद्मार्चनं च ॥ १ ॥

कृत्वा मृदुश्लक्ष्णसुतूलिकायां
रत्नासने देशिकमर्चयित्वा ।
शक्तिं चाधाराख्यकां कूर्मनागौ
पृथिव्यब्जे स्वासनाधः प्रकल्प्य ॥ २ ॥

विघ्नेशं दुर्गां क्षेत्रपालं च वाणीं
बीजादिकांश्चाग्निदेशादिकांश्च ।
पीठस्याङ्घ्रिष्वेव धर्मादिकांश्च
नत्वा पूर्वाद्यासु दिक्ष्वर्चयेच्च ॥ ३ ॥

मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नितेजांस्यु-
पर्युपर्यादिमैरर्चितानि ।
रजः सत्त्व तम एतानि वृत्तत्रयं
बीजाढ्यं क्रमाद्भावयेच्च ॥ ४ ॥

आशाव्याशास्वप्यथात्मानमन्तरात्मानं
वा परमात्मानमन्तः ।
ज्ञानात्मानं चार्चयेत्तस्य दिक्षु
मायाविद्ये ये कलापारतत्त्वे ॥ ५ ॥

संपूजयेद्विमलादींश्च शक्तीरभ्यर्चयेद्देवमावाहयेच्च ।
अङ्गव्यूहानिलजाद्यैश्च पूज्य धृष्ट्यादिकैर्लोकपालैस्तदस्त्रैः

॥ ६ ॥

वसिष्ठाद्यैर्मुनिभिर्नीलमुख्यैराराधयेद्राघवं चन्दनाद्यैः ।
मुख्योपहारैर्विविधैश्च पूज्यस्तस्मै जपादींश्च सम्यक्प्रकल्प्य

॥ ७ ॥

एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम् ।
गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं स योऽध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः

॥ ८ ॥

विश्वव्यापी राघवो यस्तदानीमन्तर्दधे
शङ्खचक्रे गदाब्जे ।
धृत्वा रमासहितः सानुजश्च
सपत्तनः सानुगः सर्वलोकी ॥ ९ ॥
तद्भक्ता ये लब्धकामाश्च भुक्त्वा
तथा पदं परमं यान्ति ते च ।
इमा ऋचः सर्वकामार्थदाश्च
ये ते पठन्त्यमला यान्ति मोक्षम् ॥ १० ॥

इति पञ्चमोपनिषत् । चिन्मयेऽस्मिंस्त्रयोदश । स्वभूर्ज्योनि-स्तिस्र । सीतारामावेका । जीववाची षट्पष्टि । भूनादिकमेका-दश । पञ्चखण्डेषु त्रिनवतिः ॥ इति ॥

द्वारपूजा करके पद्मासन या अन्य आसन लगावे और पंचभूत की शुद्धि करे। श्रीराम की पूजा-विधि में सिंहासन की पीठ का निचला

भाग, ऊपर का भाग, अगल-बगल भी पूजन किया जाता है। पीठ के ऊपर बीच में स्थित आठ दल वाले कमल को भी पूजे। रत्न जटित सिंहासन पर कोमल और चिकनी गद्दी की भावना कर उस पर ईश्वर रूप आचार्य की पूजा करे। पीठ के निचले भाग में, उपास्यदेव के आसन के नीचे आश्रयशक्ति, कूर्म, नाग और पृथिवी युक्त दो कमलों की भावना कर, उन सब का पूजन करे।

विघ्न, दुर्गा, क्षेत्रपाल, और वाणी के साथ आदि में बीज लगाकर नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति लगाकर पूजा करे। फिर पीठ के पायों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का अग्नि कोण आदि में पूजन कर अधर्म, अनर्थ, अकाम और अमोक्ष को भी पूर्वादि दिशाओं में पूजे। फिर पीठ के ऊपर के मध्य भाग में सूर्य, चन्द्र, अग्नि का पूजन करे। यन्त्र स्थित सत्व, रज, तम के प्रतीक बीज सहित तीन वृत्तों का भी चिन्तन एवं पूजन करे।

फिर दिशाओं और कोणों में बने हुए कमल के आठ दलों का पूजन करे। इनमे जो दल मध्य स्थित दिशा में हैं, उनमें आग्नेयकोण से क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा की पूजा करे। पूर्वादि दिशाओं में माया, विद्या, कला और पर इन तत्वों को पूजे। फिर विमला आदि शक्तियों को पूजे। फिर मुख्य देवता का आह्वान और अर्चन करे। फिर अंगव्यूहों का पूजन करे और धृष्टि आदि, लोकपाल और उनके अस्त्र, वसिष्ठ आदि मुनि फिर नील आदि के साथ चन्दन आदि विभिन्न लेपनों और अलङ्कारों आदि के द्वारा श्रीराम का पूजन कर जप आदि समर्पित करे। "संसार के आश्रयभूत, गदा, चक्र, शङ्ख, पद्मधारी, भव-बंध के काटने वाले सच्चिदानन्द स्वरूप और अत्यन्त महिमावान् हैं उन परमेश्वर श्रीराम को मैं नमस्कार करता हूँ।" इस प्रकार उनकी स्तुति करे। जो उपासक ऐसा करते हैं, वे मोक्ष को अवश्य प्राप्त करते हैं।

लीला-संवरण-काल में ही श्रीराम देह सहित अन्तर्धान हो गए उनके आयुध भी साथ ही अन्तर्धान होगए। वे अपने स्वाभाविक रूप को धारण कर सीता सहित परधाम में पहुँच गए। उनके साथ ही उनका सब परिवार, प्रजाजन, विभीषण आदि भी परमधाम में गए। उनके भक्त इच्छित भोगों को प्राप्त करते हैं और उनका उपभोग कर अन्त में परमपद प्राप्त करते हैं। यह ऋचाऐं सम्पूर्ण अभीष्टों और अर्थों की देने वाली हैं। इनका पाठ करने वाले भक्तजन पवित्र अन्तःकरण वाले होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥१-१०॥

॥ रामपूर्वतापिनीयोपनिषद् समाप्त ॥

गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत

ॐ भद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ॥ स्थिरैरङ्गै स्तुष्टु वासतनूभिर्व्यशेम देवहित यदायु. ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा ॥ स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा ॥ स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमि ॥ स्वस्ति ना बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

हे पूज्य देवो ! हम कानो से कल्याण सुनें, आखो मे कल्याण को देखें। सुदृढ अङ्गो तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करने रहे और देवताओ ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुडदेव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शाति शाति शाति ॥

हरि ॐ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥

मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचु । क परमो देव । कुतो मृत्युर्बिभेति। कस्य विज्ञानेनाखिल विज्ञात भवति। केनेद विश्व ससरतीति । तदुहोवाच ब्राह्मण कृष्णो वै परम दैवतम् । गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति । गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतद्विज्ञात भवति । स्वाहेद विश्व ससरतीति। तदुहोचु । क कृष्ण । गोविन्दश्च कोऽसाविति। गोपीजनवल्लभश्च क । का स्वाहेति। तानुवाच ब्राह्मण. । पापकर्षणो गोभूमिवेदवेदितो गोपीजनविद्याकलाप-

प्रेरकः। तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत्। यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति। ते होचुः। किं तद्रूपं किं रसनं किमाहो तद्भजनं तत्सर्वं विविदिषतामाख्याहीति। तदुहोवाच हैरण्यो गोपवेषमभ्राभं कल्पद्रुमाश्रितम्। तदिह श्लोका भवन्ति॥ सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्। द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥ १॥ गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्। दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम्॥ २॥ कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम्। चिन्तयञ्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥ ३॥ इति॥

सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर श्रीकृष्ण के नाम में कृष शब्द सत्ता-वाचक और न शब्द आनन्द बोधक है। यह सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण अनायास ही सब कुछ कर सकने में समर्थ है, सब की बुद्धि के साक्षी और सब के जानने योग्य है। वे सम्पूर्ण विश्व के गुरु हैं। उनके लिए नमस्कार हो।

एक समय मुनियों ने ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि 'भगवन्! कौन देवता सर्वश्रेष्ठ है? मृत्यु किस से भय मानती है? किसके तत्व को भले प्रकार जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है? यह जगत किसकी प्रेरणा से आवागमन के चक्र में घूमता है?

ब्रह्माजी ने मुनियों को उत्तर दिया—'सर्वश्रेष्ठ देवता श्रीकृष्ण हैं, वही गोविन्द हैं, उनसे मृत्यु भी भयभीत रहती है। उन गोपीजन वल्लभ के तत्त्व को जो कोई जान लेता है, उसे अनजाना कुछ नहीं रहता। स्वाहा रूप माया की प्रेरणा से यह सम्पूर्ण जगत आवागमन के चक्र में पड़ा घूम रहा है।

तब उन मुनियों ने पुनः प्रश्न किया—'यह श्रीकृष्ण कौन हैं ? गोविन्द कौन है ? गोपीजन वल्लभ कौन है ? स्वाहा कौन है ? यह सब कृपाकर हमें बतावे ।

ब्रह्माजी बोले—'श्रीकृष्ण पापों का अपकर्षण करने वाले हैं। वही गोविन्द नाम से गौ, भूमि तथा वेदवाणी के जानने हारे के रूप मे प्रसिद्ध है। गोपीजन वल्लभ अविद्या के निवारक और अन्त-रङ्ग शक्ति रूप व्रज वनिताओं में सब ज्ञानमयी विद्याओं और चौंसठ कलाओं का ज्ञान भरने वाले हैं । इनकी माया शक्ति स्वाहा है। यह सब परमेश्वर के ही रूप है। इस प्रकार श्रीकृष्ण नाम से परब्रह्म ही प्रसिद्ध हुए हैं। जो मनुष्य उनके इस रूप का ध्यान करता है तथा उनके अमृतत्व को प्राप्त कराने वाले नामों को जपता है या उनका भजन करता अथवा गुणानुवाद गाता है वह अवश्य ही अमृतत्व को प्राप्त करता है।

तब उन मुनियों ने पुनः पूछा—'ध्यान करने के योग्य श्रीकृष्ण का कैसा रूप है ? उनके नाम रूप अमृत का रस किस प्रकार चाखा जा सकता है ? उनका भजन किस प्रकार होता है ? हमें यह सब बात स्पष्ट बताइये ।

ब्रह्माजी ने बताया कि "भगवान के जिस रूप का ध्यान करना चाहिये उसका वेष ग्वाल-बाल जैसा है। उनका वर्ण नवीन जलधर के तुल्य श्याम है, किशोर अवस्था है और दिव्य कल्पतरु के नीचे वे विराजमान है । उनका सौन्दर्य अपूर्व है और गोप तथा गोपियों से चारों ओर से घिरे है । जमुना जल की लहरों के स्पर्श से शीतल वायु भगवान की सेवा कर रही है । ऐसे रूप का चिन्तन करने वाला भव-बन्धन से छुटकारा पा जाता है ॥ १—३ ॥

तस्य पुना रसनमितिजलभूमिं तु संपाताः । कामादि कृष्णायेत्येकं पदम् । गोविन्दायेति द्वितीयम् । गोपीजनेति तृतीयम् । वल्लभेति तुरीयम् । स्वाहेति पञ्चममिति पञ्चपदं जपन्पञ्चाङ्गं द्यावाभूमी सूर्याचन्द्रमसौ तद्रूपतया ब्रह्म सम्पद्यत इति । तदेष श्लोकः क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभायेति बृहन्मानव्यासकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्क्षु नान्या गतिः स्यादिति । भक्तिरस्य भजनम् । एतदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनम् । एतदेव च नैष्कर्म्यम् । कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति गोविन्दं सन्तं बहुधा आराधयन्ति । गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्रे स्वाहाश्रितो जगदेतत्सुरेताः ॥ १ ॥ वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्येजन्ये पञ्चरूपो बभूव । कृष्णस्तदेकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभाति ॥ २ ॥ इति ॥

ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति । तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं तदन्तराधिकानलास्रयुगं तदन्तरालाद्यर्णाखिलबीजं कृष्णाय नम इति बीजाढ्यं सब्रह्मा ब्रह्मणमादायानङ्गगायत्रीं यथावदालिख्य भूमण्डलं शूलवेष्टितं कृत्वाङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्तिं नन्दादिवसुदेवादिपार्थादिनिध्यादिवीतं यजेत्संध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारैः । तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भवतीति ॥२॥ तदिह श्लोका भवन्ति । एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति । तं पीठं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः

शाश्वतां नेतरेषाम् ॥ ३ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् । तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात् । तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदेव ॥ ५ ॥

क्लीं काम बीज है । जो उपासक इसे आदि में रख कर कृष्णाय, गोविन्दाय, गोपीजन वल्लभाय इन तीनों पदों का स्वाहा सहित उच्चारण करेगा, वह शीघ्र ही श्रीकृष्ण से मिलकर मुक्ति को प्राप्त होगा । उसके लिए इससे भिन्न कोई गति नहीं समझनी चाहिए । इनकी भक्ति करना ही भजन माना गया है । भजन करना उसे कहते है, जिसमें साधक अपने भोगों की इच्छा को पूर्ण रूप से त्याग कर अपने मन और इंद्रियों को उन्ही में समर्पित कर देता है । इसी को वास्तविक संन्यास कहा गया है । वेद के ज्ञाता ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्ण का अनेक प्रकार से यजन करते तथा भक्तजन गोविन्द नाम से उनकी उपासना करते है । सम्पूर्ण संसार का पालन करने वाले वे ही गोपीजन वल्लभ हैं, जिन्होंने अपनी स्वाहा नाम वाली माया शक्ति के द्वारा इस विश्व की रचना की । जैसे सम्पूर्ण संसार में एक ही वायु तत्व है, परन्तु वह प्रत्येक शरीर में प्राण आदि पाँच रूपों में रमा हुआ है । वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण भी एक ही है, परन्तु इस मंत्र में वे पाँच नामों वाले जान पड़ते है । इस मंत्र में कहे हुए पाँचों नाम एक ही श्रीकृष्ण का प्रतिपादन करने वाले हैं

फिर उन मुनियों ने पूछा—'विश्व के आधारभूत भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना किस प्रकार होती है, कृपापूर्वक इसका वर्णन कीजिए।

तब श्री ब्रह्माजी ने भगवान् श्रीकृष्ण की पीठ का वर्णन किया और बोले—'पीठ पर सुवर्ण युक्त एक कमल बनावे, उसमे आठ पंखुडियाँ हों, उसके बीच मे दो त्रिकोण अङ्कित करे, वे परस्पर सम्पुटित हों। ऐसे छः कोण बनावे। कोणो मे स्थित कर्णिका में सभी अभीष्टों को पूर्ण करने वाले काम-बीज का अङ्कन करे। फिर हरेक कोण में क्लीं बीज युक्त 'कृष्णायनम.' को क्रमशः एक-एक अक्षर करके लिखे। फिर ब्रह्म मंत्र और काम-गायत्री विधिपूर्वक लिख कर आठ वज्रों से प्रावेष्टित पृथिवी मडल बनावे। फिर अङ्ग, वासुदेव, रुक्मिणी, इंद्र, वसुदेव, पार्थ और निधि आदि अष्टावरणो से घेर कर उसका पूजन करना चाहिए।

तीनों संध्याओं के समय षोडश उपचारों द्वारा उक्त आवरणों वाले श्रीकृष्ण की पूजा करे। ऐसा करने से साधक चारों पदार्थों को प्राप्त करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी, सब पर शासन करने वाले है, वे सदा स्तुति के योग्य है। एक होकर भी वे अनेक रूपों मे दिखाई देते हैं। जो ज्ञानी भक्त ऊपर कही हुई पीठ पर प्रतिष्ठित भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य प्रति पूजा करते हैं, उन्हें स्थायी सुख की प्राप्ति होती है।

जो श्रीकृष्ण सब साधकों का अभीष्ट पूर्ण करते है, जो नित्यों में भी नित्य और चैतन्यों मे भी चैतन्य है, उन्हें पहले कही हुई पीठ में प्रतिष्ठित करे। जो इस प्रकार उनका अर्चन करते है वे परम सिद्धि के अधिकारी होते हैं।

जो भगवान् विष्णु के परमपद रूप इस मंत्र को नित्य प्रति उत्साह सहित विधिपूर्वक पूजते हैं और भगवद्-प्राप्ति के सिवाय अन्य किसी वस्तु को नही चाहते, उनके लिए गोप स्वरूप श्रीकृष्ण अपने परमपद को शीघ्र ही प्रकाशित कर देते है ॥ १—५ ॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यां तस्मै गोपयति स्म कृष्णः। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः शरणं व्रजेत् ॥ ६ ॥ ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम्। तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥ ७ ॥ एतस्मा एव पञ्चपदादभूवन्गोविन्दस्य मनवो मानवानाम्। दशार्णाद्यास्तेऽपि सक्रन्दाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत् ॥ ८ ॥

जो सृष्टि के पूर्वकाल में ब्रह्माजी को उत्पन्न कर उन्हें वेद ज्ञान देते और उनसे साम-गान कराते है, जो सम्पूर्ण प्राणियों को बुद्धि रूप प्रकाश प्रदान करते है, मुमुक्षु व्यक्ति उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त करे।

भगवान गोविंद के पञ्चपदी मंत्र को ओंकार सम्पुट कर जप करने वाले साधक शीघ्र ही उनके दर्शन करते है। इसलिए भव-बन्धन से मुक्त होने की कामना करने वाले साधक को नित्य शांति की प्राप्ति के लिए उक्त मंत्र का ही जप करना चाहिए।

इस पञ्चपदी मंत्र से ही दशाक्षर आदि अन्य मंत्र भी प्रकट हुए है। वे सभी मत्र मानव का कल्याण करने वाले हैं। उन मंत्रों का भी ऐश्वर्य-कामना वाले इन्द्रादि देव विधिपूर्वक सदा जप करते रहते हैं ॥ ६—८ ॥

ते पप्रच्छुस्तदुहोवाच ब्रह्मसदनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः परमेश्वरः परार्धान्ते सोऽबुध्यत । कोपदेष्टा मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव । ततः प्रणतो मायानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णस्वरूपं सृष्टये दत्त्वान्तर्हितः । पुनस्ते सिसृक्षतो मे प्रादुरभूवन् । तेष्वक्षरेषु विभज्य भविष्यज्जगद्रूपं प्राकाशयम् । तदिह कादाका (?) लात्पृथिवीतोऽग्निर्बिन्दोरिन्दुस्तत्संपातात्तदर्क इति । क्लींकारादजस्रं कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात्सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति । तदुत्तरात्स्त्रीपुंसादिभेदं सकलमिदं सकलमिदमिति ॥ ३ ॥ एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयति । ओंकारालिकं मनुमावर्तयेत् । सङ्गरहितोऽभ्यानयत् । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । तस्मादेन नित्यमावर्तयेन्नित्यमावर्तयेदिति ॥ ४ ॥ तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भूमिर्द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेजश्चतुर्थपदाद्वायुश्चरमपदाद्व्योमेति । वैष्णव पञ्चव्याहृतिमय मन्त्रं कृष्णावभासकं कैवल्यस्य सृत्यै सततमावर्तयेत्सततमावर्तयेदिति ॥ ५ ॥ तदत्र गाथाः ॥ यस्य चाद्यपदाद्भूमिर्द्वितीयात्सलिलोद्भवः । तृतीयात्तेज उद्भूतं चतुर्थाद्गन्धवाहनः ॥१॥ पञ्चमादम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत् । चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम् ॥ २ ॥ ततो विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् । यत्तत्पदं पञ्चपदं तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥ ३ ॥ तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं मरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या स्तोष्यामि ॥

ब्रह्माजी ने कहा जब मेरी एक परार्ध आयु भगवान की स्तुति करते बीत गई तो मुझे गोप वेषधारी भगवान का दर्शन प्राप्त हुआ । उन्होंने मुझे अष्टदशाक्षर मत्र का उपदेश देकर सृष्टि रचना की प्रेरणा की । मैंने इस मंत्र के 'क' अक्षर से जल की, 'ल' से पृथ्वी की, 'ई' से अग्नि की, अनुस्वार से चन्द्रमा की और समग्र 'क्लीं' से सूर्य की रचना की । मत्र के द्वितीय पद 'कृष्णाय' से आकाश और वायु की; 'गोविन्दाय' से कामधेनु और वेदो की तथा 'गोपीजन वल्लभाय' से पुरुष-स्त्री की रचना की । अन्त के 'स्वाहा' पद से चराचर जगत को उत्पन्न किया । इस अष्टाक्षर मंत्र से ही प्राचीन समय में चन्द्रध्वज राजा मोह रहित होकर पूर्ण आत्मज्ञान के अधिकारी बने थे । भगवान कृष्ण के गोलोकधाम की प्राप्ति इसी मंत्र से होती है ।

वह जो परम विशुद्ध, विमल, शोक रहित, आसक्ति और वासना से पृथक गोलोक धाम है वह इस मंत्र से अभिन्न है। यह मंत्र साक्षात वासुदेव स्वरूप ही है । उनकी स्तुति निम्न श्लोकों से करनी चाहिये ।

ॐ नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे । विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमोनमः ॥ १ ॥ नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे । कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमोनमः ॥ २ ॥ नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने । नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः ॥ ३ ॥ बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे । रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमोनमः ॥ ४ ॥ कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने । वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥ ५ ॥ वेणुनादविनोदाय, गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललोलाय,

लोलकुण्डलधारिणे ॥ ६ ॥ बल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमोनमः ॥ ७ ॥ नमः पापप्रणाशाय गोवर्धनधराय च । पूतनाजीविनान्ताय तृणावर्तासुहारिणे ॥८॥ निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे । अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमोनमः ॥ ९ ॥ प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर । आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥ १० ॥ श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर । संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥ ११ ॥ केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन । गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥ १२ ॥ अथैवं स्तुतिभिराराधयामि । तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः श्रीकृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति होवाच हैरण्यगर्भः । अमुं पञ्चपदं मनुमावर्तयेद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्पदं तत् । अनेजदेकं मनसो जवीयो नैन द्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षदिति । तस्मात्कृष्ण एव परमो देवस्तं ध्यायेत् । तं रसयेत् । तं यजेत् । तं भजेत् । ॐ तत्सदित्युपनिषत् ॥ तत्सत् ॥

हे मुनिश्रेष्ठो ! जिस प्रकार मैं इन स्तुतियों को करता हूँ, उसी प्रकार तुम भी इस मंत्र द्वारा श्रीकृष्ण की आराधना करके संसार समुद्र से तर जाओगे । इस जप को करने वाला भगवान के परमपद को प्राप्त हो जाता है । देवता (वाणी आदि) वहाँ तक कभी नहीं पहुँच सकते । इसलिये सदैव भगवान कृष्ण का ही ध्यान करे, मंत्र-जप द्वारा उनके नामामृत का रसास्वादन करे तथा नित्य उन्ही का भजन करे—उन्हीं का भजन करे ।

॥ गोपालपूर्वतापनी उपनिषद् समाप्त ॥

कृष्णोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

हरिः ॐ श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः । तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति । भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपा न स्त्रीश्च नो कुरु ।

अन्योन्यविग्रहं धार्यं तवाङ्गस्पर्शनादिह ।
शश्वत्स्पर्शयितास्माकं गृह्णीमोऽवतारान्वयम् ।। १ ।।
रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्स्वयम् ।

अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम् ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण के अवतार ग्रहण करने से पहिले की बात है । जब भगवान् ने देवताओं को पृथिवी पर अवतीर्ण होने की आज्ञा दी, तब सम्पूर्ण देवताओं ने भगवान् से कहा—'प्रभो ! हम देवता होकर पृथिवी पर जन्म ग्रहण करें, यह हमारे लिए शोभा की बात कदापि नहीं होगी । हम स्वेच्छा से तो पृथिवी पर जन्म नहीं ले सकते, परंतु आपकी आज्ञा के कारण हमें वहाँ जन्म लेना ही होगा । फिर भी प्रभो ! हमें गोपों और स्त्रियों के रूप में वहाँ जन्म देना । आपके अङ्ग-स्पर्श से वञ्चित रह कर हम कहीं नहीं रहना चाहते । यदि आपकी समीपता से दूर रहने के लिए हमें मनुष्य बनना पड़े तो हम ऐसे मनुष्य-जन्म को कभी स्वीकार न करेंगे । यदि वहाँ आपके सान्निध्य का और अङ्ग-स्पर्श का अवसर हमें मिलता रहे तो हम पृथिवी पर जन्म लेने के लिए प्रस्तुत हैं ।' देवताओं के ऐसे प्रेम-पूर्ण वचनों को सुनकर भगवान् बोले—'देवगण ! तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी और मनुष्य जन्म में तुम्हे मेरे अङ्ग-स्पर्श का अवसर मिलता रहेगा ॥ १—२ ॥

मोदितास्ते सुराः सर्वे कृतकृत्याधुना वयम् ।
यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी ॥ ३ ॥
माया सा त्रिविधा प्रोक्ता [illegible] ।
प्रोक्ता च सात्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी ॥ ४ ॥
तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता ।
अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा ॥ ५ ॥
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते ।
निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ॥ ६ ॥

स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले ।
वने वृन्दावने क्रीडन्गोपगोपीसुरैः सह ।। ७ ।।
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः ।
वंशस्तु भगवान्रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः ।। ८ ।।
गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः ।
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः ।। ६ ।।

भगवान् द्वारा प्राप्त इस आश्वासन से सब देवता अत्यन्त प्रसन्न हुए और परस्पर कहने लगे—'अब हम धन्य होगए' । फिर सब देवता भगवान् की सेवा के लिए अवतीर्ण हुए । नन्द के रूप में भगवान् का परम आनन्दमय अंश उत्पन्न हुआ । यशोदा के रूप में मुक्ति देवी प्रकट हुई । तीन प्रकार की माया कही गई है—सात्विकी, राजसी और तामसी । रुद्र भगवान में सात्विकी माया है, ब्रह्माजी में राजसी और दैत्यों में तामसी माया समाविष्ट हुई है । इस त्रिविध माया से भिन्न जो वैष्णवी माया है, उस पर विजय प्राप्त करना नितान्त असंभव है । जिस ब्रह्ममयी वैष्णवी माया को प्राचीन काल मे ब्रह्माजी भी नही जीत सके, उसकी देवगण स्तुति करते हैं । वही वैष्णवी माया देवकी के रूप मे अवतीर्ण हुई । जो वेद मुक्त नारायण के स्वरूप की सदैव स्तुति करते है, वे ही वसुदेव हुए । वेदों के अर्थभूत ब्रह्म ही इस पृथिवी पर बलराम और कृष्ण के रूप में प्रकट हुए । वही वेदार्थ साक्षात् रूप मे, वृन्दावन में गोप-गोपिकाओं के साथ क्रीडा करता है । उन श्रीकृष्ण की गौऐं और गोपिकाऐं वेदों की ऋचाऐं हैं । लकड़ी का रूप ब्रह्मा ने और वशी का रूप रुद्र ने धारण किया है । इन्द्र सीगा बन गए । इस प्रकार गोकुल के रूप में साक्षात् बैकुण्ठ ही उपस्थित हो गया । वहाँ तपस्वी महात्माओं ने वृक्षों का रूप धारण किया है और

लोभ-क्रोधादि विकार ही दैत्य हो गए हैं। वे कलिकाल में भगवान् का नाम लेने मात्र से नाश को प्राप्त होते हैं॥ ३—६॥

गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः।
दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्॥ १०॥
दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवेद्द्विजः।
रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम्॥ ११॥
बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात्।
शेषनागो भवेद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्॥ १२॥
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥ १३॥
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः॥ १४॥
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः॥ १५॥
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः।
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः॥ १६॥
दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः।
दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे॥ १७॥
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ।
संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः॥ १८॥
कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
यत्स्रष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक्॥ १९॥

भगवान् श्रीहरि ने ही गोप रूप में लीला-विग्रह रूप धारण किया है । यह संसार माया से मोहित है, इसलिए ईश्वरीय माया का रहस्य जानना अत्यन्त दुष्कर है । क्योंकि प्रभु-माया तो देवताओं द्वारा भी नहीं जीती जा सकती। जिनकी माया के वश में पड़कर ही ब्रह्माजी को लकुटी और भगवान् शिव को बाँसुरी बनना पड़ा है, उन श्रीहरि की माया का ज्ञान साधारण प्राणियों को किस प्रकार हो सकता है ? देवताओं के पास जो ज्ञान रूप बल है उसका भी श्रीहरि की माया ने क्षण भर में हरण कर लिया। सनातन ब्रह्म श्रीकृष्ण हुए और शेषनाग ने बलराम का रूप ग्रहण किया । भगवान् की सोलह हजार एक सौ रानियाँ वेद की ऋचाऐं और उपनिषद् ही है। इनके अतिरिक्त ब्रह्म स्वरूपिणी वेद-ऋचाऐं गोपियों के रूप में प्रकट हुई । चाणूर मल्ल द्वेष है, अत्यन्त कठिनाई से जीता जाने के योग्य मुष्टिक मत्सर है और कुबलियापीड दर्प है। आकाश में विचरण करने वाला राक्षस बकासुर गर्व है । साक्षात् दया ही माता रोहिणी हुई है। पृथिवी माता ने सत्यभामा का रूप धारण किया है । महाव्याधि अघासुर और साक्षात् कलि ने राजा कंस का रूप बनाया। शम ने सुदामा का, सत्य ने अक्रूर का और दम ने उद्धव का रूप ग्रहण किया । शङ्ख विष्णु है और लक्ष्मी का भ्राता होने से उसी के समान है । वह मेघ के समान गम्भीर घोप करने वाला क्षीर सागर से उत्पन्न हुआ है । भगवान् श्रीकृष्ण ने जो दूध-दही के मटके फोड़ कर घर-घर में दूध-दही की नदी-सी बहादी वह प्रवाह साक्षात् क्षीर सागर ही हुआ। दूध-दही के प्रवाह रूप क्षीर सागर में बालक रूप में भगवान् श्रीकृ ण पूर्ववत् क्रीडा कर रहे हैं। संतजनों की रक्षा में तथा दुष्टों के विनाश में वे समान रूप से लगे हुए है । सब प्राणियों पर अनुग्रह करने और धर्म की रक्षा करने के लिए ही भगवान् श्रीकृष्ण ने

भूतल पर अवतार लिया है । जो चक्र भगवान् शङ्कर ने श्रीहरि भगवान् के निमित्त प्रकट किया था, वही चक्र भगवान् श्रीकृष्ण के कर-कमलों में सुशोभित हो रहा है । वह चक्र भी ब्रह्म के समान है ॥ १०—१९ ॥

जयन्तीसंभवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः ।
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ॥ २० ॥
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा ।
चक्रं शङ्खं च ससिद्धि बिन्दुं च सर्वमूर्धनि ॥ २१ ॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः ।
नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥ २२ ॥
गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिबर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥ २३ ॥
अब्जकाण्डं जगद्वीज धृतं पाणौ स्वलीलया ।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ॥ २४ ॥
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ।
तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ॥
भूमावुत्तारित सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥ २५ ॥

सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद । देहबन्धाद्विमुच्यते इत्युपनिषत् ॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

धर्म ने चँवर का रूप धारण किया और वायु देवता वैजयन्ती-माला के रूप में हुए। महेश्वर ने दमकते हुए खड्ग का रूप बनाया और कश्यप नन्दगृह में ऊखल बन गए। माता अदिति ने रस्सी का रूप बनाया। सब वर्णों पर जैसे अनुस्वार अलकृत होता है, वैसे ही सब से ऊपर सुशोभित आकाश भगवान् का छत्र है । बाल्मीकि और

व्यास आदि महर्षियों ने देवताओं के जितने रूपों का वर्णन किया है और जिन-जिन रूपों में देवताओं को सब प्राणी नमस्कार करते है, वे सभी देवता भगवान् श्रीकृष्ण के आश्रय मे ही रहते है। भगवान् की गदा साक्षात् काली स्वरूपा है, जो समस्त शत्रुओं का नाश करने में समर्थ है। वैष्णवी माया ने शार्ङ्ग धनुष का रूप बनाया और प्राण नाशक काल ही उस पर संधान किये जाने के लिए बाण बना। संसार का बीज रूप कमल भगवान् के हाथों में लीलापूर्वक सुशोभित है। भाण्डीर वट का रूप गरुड ने धारण किया और कृष्ण के सखा श्री सुदामा नारद हुए। साक्षात् वृन्दा ही भक्ति हुई। सब प्राणियों को कर्म का ज्ञान कराने वाली, प्रकाश दायिनी बुद्धि ही भगवान् की क्रिया शक्ति हुई। इस प्रकार यह गोप-गोपी आदि सभी भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं। उन्हीं श्रीकृष्ण ने स्वर्ग के और बैकुण्ठ के सब देवताओं को पृथिवी पर उतारा है ।। २०—२५ ।।

इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी सब तीर्थों का फल प्राप्त करता और शरीर-बन्धन से मुक्त होता है—यह उपनिषद् है।

।। कृष्णोपनिषद् समाप्त ।।

गणपत्युपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

ॐ लं नमस्ते गणपतये ॥ १ ॥

त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि । त्वमेव केवलं कर्ताऽसि । त्वमेव केवलं धर्ताऽसि । त्वमेव केवलं हर्ताऽसि । त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि । त्वं साक्षादात्माऽसि ॥ २ ॥

नित्यमृतं वच्मि । सत्यं वच्मि ॥ ३ ॥

अव त्वं माम् । अव वक्तारम् । अव श्रोतारम् । अव दातारम् । अव धातारम् । अवानूचानमव शिष्यम् । अव पुरस्तात्तात् । अव दक्षिणात्तात् । अव पश्चात्तात् । अवोत्तरात्तात् । अव

चोर्ध्वात्तात् । अवाधरात्तात् । सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात् ॥ ४ ॥

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः । त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः । त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि । त्व प्रत्यक्ष ब्रह्मासि । त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ॥ ५ ॥

सर्व जगदिदं त्वत्तो जायते । सर्व जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति । सर्व जगदिदं त्वयि लयमेष्यति । सर्व जगदिदं त्वयि प्रत्येति । त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः । त्वं चत्वारि वाक्परिमिता पदानि । त्वं गुणत्रयातीतः । त्वं देहत्रयातीतः । त्वं कालत्रयातीतः । त्वं मूलाधारे स्थितोऽसि नित्यम् । त्व शक्तित्रयात्मकः । त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम् । त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ॥ ६ ॥

भगवान् गणपति को नमस्कार ॥ १ ॥ तुम्ही कर्ता, धर्ता, हर्ता एव प्रत्यक्ष तत्व हो । तुम्ही इन रूपों में विराजमान साक्षात् ब्रह्म हो । तुम ही नित्य एवं आत्म स्वरूप हो ॥ २ ॥ मैं सत्यपूर्वक एवं न्यायपूर्वक कहता हूँ ॥ ३ ॥ तुम मुझ शिष्य की एवं उपदेष्टा गुरु की रक्षा करो । श्रोता, दाता और धाता की रक्षा करो । व्याख्याता आचार्य और शिष्य की रक्षा करने वाले होओ । पश्चिम की ओर से मेरी रक्षा करो, पूर्व की ओर से रक्षा करो, उत्तर की ओर से तथा दक्षिण ओर से भी मेरी रक्षा करो । ऊपर, नीचे तथा सब ओर से मेरी रक्षा करो। चारों ओर से मेरे रक्षक बनो ॥ ४ ॥ तुम वाङ्मय, चिन्मय एव आनन्दमय हो । तुम ब्रह्ममय, सत्-चित्-आनन्द रूप तथा एक अद्वितीय हो । ज्ञान-विज्ञानमय

भी हो, तुम्ही साक्षात् ब्रह्म हो ॥ ५ ॥ यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हारे द्वारा ही प्रकट होता है। यह विश्व तुम्हारे द्वारा ही स्थित है। यह समस्त संसार तुम्ही मे लीन हो जाता है। इस संपूर्ण विश्व की प्रतीति तुम में ही होती है। तुम्ही पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हो। वाणी के चार रूप परा, पश्यन्ती, वैखरी और मध्यमा भी तुम हो। सत्त्व, रज और तम से परे—गुणातीत हो। भूत, भविष्यत्, वर्तमान से परे तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों से भी परे हो। तुम मूलाधार चक्र में सदा स्थित रहते हो। इच्छा शक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञान-शक्ति यह तीनो रूप तुम्हारे ही हैं। योगी पुरुष तुम्हारा नित्य प्रति चिंतन करते है। तुम ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हो। इन्द्राग्नि और वायु भी तुम ही हो। सूर्य-चन्द्रमा हो। तुम ब्रह्म हो तथा भूः भुवः स्वः रूप त्रिलोक और ओंकार रूप परब्रह्म तुम ही हो ॥ ६ ॥

गणादीन् पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम्।
अनुस्वारः परतरः अर्धेन्दुलसित तथा ॥
तारेण युक्तमेतदेव मनुस्वरूपम् ॥ ७ ॥

गकारः पूर्वरूपम्। अकारो मध्यमरूपम्। अनुस्वार-श्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नादः संधानम्। संहिता संधिः। सैषा गाणेशी विद्या ॥ ८ ॥

गणक ऋषिः। नृचद्गायत्री छन्दः। श्रीमहागणपति-र्देवता। ॐ गणपतये नमः ॥ ९ ॥

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्तिः प्रचोदयात् ॥ १० ॥

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम् ।
अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम् ॥ ११ ॥
रक्तलम्बोदरं शूर्पसुकर्णं रक्तवाससम् ।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम् ॥ १२ ॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम् ।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात् परम् ॥ १३ ॥
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः ॥ १४ ॥

प्रथम 'ग्' का उच्चारण कर फिर 'अ' का उच्चारण करे। इसके पश्चात् अनुस्वार का उच्चारण होता है। इस प्रकार अनुस्वार से अलंकृत 'गँ' ही तुम्हारे बीज मंत्र का रूप है। क्योंकि इसमें अर्द्धचन्द्र रूप में ओंकार अवरुद्ध है ॥ ७ ॥ गकार इसका पूर्व रूप, अकार मध्य रूप, अनुस्वार अन्त रूप तथा बिन्दु उत्तर रूप है। नाद संधान, संहिता सन्धि है। इस प्रकार यह गणेश-विद्या है ॥ ८ ॥ इसके ऋषि गणक, छन्द निचृद्गायत्री, देवता महागणपति है ॥ ९ ॥ एक दंत से हम परिचित हैं। उन वक्रतुण्ड का हम चिन्तन करते हैं। वह गजानन हमे प्रेरणा करे यही गणेश-गायत्री है। जो योगी चतुर्भुज, पाश-अंकुश-वर-अभय मुद्राधारी, एकदन्त, लम्बोदर, मूषक-ध्वज, रक्तवर्ण वाले, बड़े-बड़े कानों वाले, लाल वस्त्र वाले, रक्त चदन का लेप किये हुए, लाल रङ्ग के पुष्पों से विभूषित, भक्त पर कृपा करने वाले, विश्व के कारण, अविनाशी, सृष्टि के आदि में उत्पन्न, प्रकृति और पुरुष से पर श्रीगणेशजी का नित्य चिन्तन करता है, वह सब योगियों में श्रेष्ठ होता है ॥ ११—१४ ॥

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रथमपतये नमस्ते-

ऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय वरद-मूर्तये नमोनम ॥ १५ ॥

एतदथर्वशिरो योऽधीते स ब्रह्मभूयाय कल्पते । स सर्वत सुखमेधते । स सर्वविघ्नैन बाध्यते । स पञ्चमहापातकोपपातकात् प्रमुच्यते । सायमधीयानो दिवसकृत पाप नाशयति । प्रातर-धीयानो रात्रिकृत पाप नाशयति । सायप्रात प्रयुञ्जानोऽपापो भवति । धर्मार्थकाममोक्ष च विन्दति ॥ १६ ॥

इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम् । यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान्भवति ॥ १७ ॥

सहस्रावर्तनाद्य य काममधीते त तमनेन साधयेत् । अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति । चतुर्थ्यामनश्नन् जपति स विद्यावान् भवति । इत्यथर्वणवाक्य ब्रह्माद्याचरण विद्यान्न बिभेति कदाचनेति । यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणो-पमो भवति । यो लाजैर्यजति स यशोवान् भवति स मेधावान् भवति । यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति । य साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्व लभते स सर्व लभते । अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति । सूर्यग्रहणे महा-नद्या प्रतिमासन्निधौ वा जप्त्वा स सिद्धमन्त्रो भवति । महावि-घ्नात् प्रमुच्यते । महादोषात् प्रमुच्यते ॥ १८ ॥

स सर्वविद्भवति स सर्वविद्भवति य एव वेदेत्यु-पनिषत् ॥ १९ ॥

व्रात-नायक को नमस्कार, गणपति को नमस्कार, प्रमथपति को नमस्कार, लम्बोदर को नमस्कार, एकरदन को नमस्कार, विघ्न विनाशक को नमस्कार, शिव-सुवन को नमस्कार, वरदमूर्ति गणेशजी को नमस्कार ॥ १५ ॥ यह अथर्वशिरस् है । इसका पाठ करने वाला पुरुष ब्रह्मत्व-प्राप्ति का अधिकारी होता है । उसके

लिए किसी प्रकार का विघ्न बाधा नहीं करता। वह सभी स्थानों पर सुखी रहता है। पाँचों प्रकार के पाप, उपपापों से वह छूटता है। सायंकाल पाठ करने वाला दिन के पापों से मुक्त होता है और प्रातःकाल पाठ करने वाले के रात्रि मे किये हुए पाप कट जाते है। प्रातः-सायं दोनों काल में पाठ करने से पाप रहते ही नहीं। इसका पाठक धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को पाता है ॥ १६ ॥ इस अथर्व शिरस् को अशिष्य को न दे, शिष्य को ही दे। मोह वश इसे देने वाला पापी होता है ॥ १७ ॥ सहस्रबार पाठ करने पर जिस-जिस अभिलाषा का उच्चारण करे, उस-उसकी सिद्धि हो सकती है। इसके द्वारा गणपति का अभिषेक करने वाला वक्ता बन जाता है। चतुर्थी तिथि को उपवास करके जो इसे जपता है, वह विद्यावान् होता है—ऐसा महर्षि अथर्वण का कथन है। इस मन्त्र के द्वारा तप करने वाले को कभी भय नहीं लगता। दूर्वा के अंकुरों द्वारा गणपति का यजन करने वाला कुबेर के समान धनवान् होता है। लाजाओं के द्वारा यज्ञ करने वाला यशस्वी होता है। सहस्र मोदकों से जो पुरुष यजन करता है वह इच्छित फल पाता है। घृत और समिधा से यज्ञ करता है उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है। आठ ब्राह्मणों को भले प्रकार से इसे ग्रहण करावे तो सूर्य के समान तेजस्वी हो। सूर्य ग्रहण के समय किसी महानदी या प्रतिमा के निकट बैठ कर जप करे तो मंत्र-सिद्धि प्राप्त होती है, ऐसा साधक घोर विघ्न से भी छुटकारा पा लेता है। वह महान् दोषों और महापापों से मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥ इस प्रकार जानने वाला पुरुष भी सर्व ज्ञानी हो जाता है। सर्वज्ञता प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

॥ गणपति उपनिषद् समाप्त ॥

नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत

ॐभद्र कर्णेभि शृणुयाम देवा भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्रा ।। स्थिरैरङ्गै स्तुष्टु बासस्तनूभिर्व्यशेम देवहि त यदायु. ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा ।। स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा ।। स्वस्ति नस्ता-र्क्ष्यो अरिष्टनेमि ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।।

हे पूज्य देवो ! हम कानो से कल्याण सुने, आखो से कल्याण को देखे । सुदृढ अङ्गो तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहे और देवताओ ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगे । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करे, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुडदेव हमारा कल्याण करे और बृहस्पति हमारा कल्याण करे ! ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।।

ॐआपो वा इदमासन्त्सलिलमेव । स प्रजापतिरेक पुष्क-रपर्णे समभवत् । तस्यान्तर्मनसि काम समवर्तत इद सृजेय-मिति । तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्क-र्मणा करोति तदेषाभ्यनूक्ता । कामस्तदग्रे समवर्तताधि [illegible] रेत प्रथम यदासीत् । सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्र[illegible]ष्या कवयो मनीषेति उपैनं तदुपनमति यत्का[illegible]मो भवति य एव वेद स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स एत मन्त्रराज नारसिंहमानुष्टुभम-पश्यत् तेन वै सर्वमिदमसृजत यदिद किंच । तस्मात्सर्वमानुष्टु-भमित्याचक्षते यदिद किंच । अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते अनुष्टुभा जातानि जीवन्ति अनुष्टुभ प्रयन्त्यभिसविशन्ति

तस्यैषा भवति अनुष्टुप्प्रथमा भवति अनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुप् वाचैव प्रयन्ति वाचोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां यद-नुष्टुबिति ॥ १ ॥

प्राचीन काल मे यह दृष्टिगोचर सम्पूर्ण विश्व जल के रूप में था। सर्वत्र जल ही जल दिखाई देता था । उसी जल में एक कमल पत्र पर सुप्रसिद्ध प्रजापति श्री ब्रह्माजी का प्राकट्य हुआ। ब्रह्माजी ने विचार किया कि मैं लोक-रचना-कार्य करूँ । यह बात सर्व विदित है मानव की जो भावना बनती है, उसे वह पहले वाणी द्वारा कहता और फिर क्रिया द्वारा पूर्ण करता है । इस संबध में कहा है कि पूर्व काल मे जब सृष्टि रचना हुई तब काम की उत्पत्ति हुई। ज्ञानीजन अपने मन मे निहित आत्मा का निरीक्षण करते रहते हैं और काम को आत्मा के लिए पाश स्वरूप मानते है । ज्ञानियो के विचार मे प्रकृति के कार्यभूत मन में काम का प्राकट्य होता है। सृष्टि से पहिले जो जल ही जल था, वही इस विश्व का कारणभूत है। इस बात के जानने वाला विद्वान् जिस वस्तु की इच्छा करता है, वह वस्तु उसे मिल जाती है।

सुप्रसिद्ध प्रजापति ने तप प्रारम्भ किया । उसके द्वारा उन्हें अनुष्टुप् छन्द मे अवतीर्ण इस नारसिंह मन्त्रराज की प्राप्ति हुई। उसी मन्त्रराज के प्रभाव से इस प्रत्यक्ष दृग्गोचर विश्व की उन्होंने रचना की। इसीलिए इस प्रत्यक्ष विश्व को मन्त्रराज आनुष्टुभमय कहा जाता है।

इस अनुष्टुप् से ही इन सम्पर्ण भूतों की उत्पति हुई है, अनुष्टुप् के प्रभाव से ही यह उत्पन्न प्राणी जीवन धारण करते हैं और मरने पर इहलोक को त्यागने पर अनुष्टुप् मे ही लीन हो जाते है। यह अनुष्टुप् वृत्ति सम्पर्ण लोक की रचने वाली है। वाणी से ही मनुष्य जन्म-मरण को प्राप्त होते है इसलिए वाणी मात्र अनुष्टुप् ही है। यह अनुष्टुप् छन्द अन्य सब छन्दों में अधिक महिमा वाला है ॥ १ ॥

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पाद जानीयात् यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात् ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जन परमं व्योमकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति ॥ २ ॥

मन्त्रराज का प्रथम चरण रूप यह पर्वत, समुद्र तथा सप्तद्वीप वाली पृथिवी है। द्वितीय चरण रूप यक्षों, गंधर्वों और अप्सराओं द्वारा सेवित अन्तरिक्ष है। तृतीय चरण के रूप में वसु, रुद्र और आदित्य आदि देवताओं द्वारा सेवित द्युलोक है और चतुर्थ चरण रूप माया-रहित, पवित्र, परम व्योम युक्त ब्रह्म रूप है। इन सब को इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी अमरत्व को प्राप्त होता है।

मंत्रराज के चार पाद हैं शाखाओं और अङ्गों सहित ऋक्, यजु, साम और अथर्व यह चारों वेद। तब प्रश्न हुआ कि मंत्रराज का ध्यान कैसे होता है, उसका देवता, अङ्ग, देवताओं का गण, छन्द और ऋषि यह सब कौन-कौन हैं ? ॥ २ ॥

स होवाच प्रजापतिः स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रींल्लोकाञ्जयति चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेद स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान्भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो

जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री-शूद्राय नेच्छन्ति द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृ-तत्व च गच्छति सावित्री लक्ष्मीं यजुः प्रणव यदि जानीयात् स्त्री शूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति ॥ ३ ॥

इस पर सुप्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा—'जो पुरुष श्री बीज से अभिषिक्त गायत्री मंत्र अष्टाक्षरी पद को इस मंत्रराज साम का ही अङ्ग समझता है वह श्रीसम्पन्न होता है। सभी वेदों के आदि में प्रणव है। अतः जो ज्ञानी इस प्रणव को साम का ही अङ्ग मानता है वह त्रिलोकी पर विजय प्राप्त कर लेता है। चौबीस अक्षरों वाला महालक्ष्मी मंत्र यजुर्वेद का ही स्वरूप है, उसे साम का अग मानने वाला ज्ञानी यश, कीर्ति, ज्ञान, आयु और ऐश्वर्य से युक्त होता है। जो पुरुष अंगों सहित साम का ज्ञाता है, वह अमृतत्व प्राप्त करता है, इसीलिए इस साम को अंगों सहित जानना चाहिए। ज्ञानीजन प्रणव, गायत्री और यजु स्वरूप महालक्ष्मी मंत्र अनधिकारी जीवों को नही बताते। क्योंकि ऐसे व्यक्ति इन्हें जान लें तो भी उन्हे श्रेष्ठ गति प्राप्त नही होती। इसीलिए मंत्र देने में सदा सावधान रहना चाहिए। जो आचार्य आदि किसी अनधिकारी को मंत्रोपदेश करे, वह भी अधोगति प्राप्त करता है। बत्तीस अक्षर वाले साम को जानना चाहिए, उसका जानने वाला अमृतत्व को पाता है॥ ३ ॥

स होवाच प्रजापतिः अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराड्विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात् ऋग्यजुःसामाथर्वरूपः सूर्योऽन्त-रादित्ये हिरण्मयः पुरुषस्तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात् य ओषधीनां प्रभुर्भवति ताराधिपतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं

जानीयात् स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिंहं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय वा चेति ॥ ४ ॥

ब्रह्माजी फिर कहने लगे—'सम्पूर्ण विश्व, सम्पूर्ण प्राणी, सम्पूर्ण वेद, अग्नि, प्राण, इन्द्रिय, अन्न, पशु, अमृत, सम्राट, स्वराट्, विराट् इन सब को मंत्रराज साम का प्रथम चरण जानना चाहिए। ऋक्, यजु, साम, अथर्व रूप सूर्य उनके मण्डल में स्थित हिरण्यमय पुरुष, यह साम का दूसरा चरण जानना चाहिए। सब औषधियों और तारागणों के स्वामी चन्द्रमा को साम का तृतीयचरण जाने। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, अग्नि और अविनाशी परमेश्वर इन्हें साम का चतुर्थ चरण जाने। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी अमृतत्व को प्राप्त होता है।

मंत्रराज अनुष्टुप् के प्रथम चरण का आदि अंश 'उग्रम्' है, द्वितीय चरण का आदि अंश 'ज्वलं' है, तृतीय चरण का आदि अंश 'नृसिं' है और चतुर्थ चरण का आदि अंश 'मृत्यु' है। इन चारों को साम स्वरूप ही समझना चाहिए। ऐसा समझने वाला ज्ञानी अमृतत्व को प्राप्त होता है। यह मंत्र किसी को देना हो तो जो इसका उपदेश लेना चाहे ऐसे सेवा परायण पुत्र को अथवा सदाचारी शिष्य आदि को देना चाहिए ॥ ४ ॥

स होवाच प्रजापतिः क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिविग्रहं योगिध्येयं परं पदं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं तं स द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं हंभा तृतीयस्याद्यार्धान्त्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम तु जानीयाद्यो

जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति तस्मादिदमेव मुख्यद्वार कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ५ ॥

सुप्रसिद्ध प्रजापति ने पुनः कहा—'भगवान् का जो नृसिंह रूप विग्रह क्षीर सागरशायी है, वह परमपद रूप है तथा योगियों के लिए भी ध्यान करने योग्य है। उस विग्रह को सामवेद का ही रूप माने। जो ऐसा मानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। मंत्रराज अनुष्टुप् के प्रथम चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'क्षीरं' है। द्वितीय चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'तं स' है। तृतीय चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'हं भी' है और चतुर्थ चरण के पूर्वार्द्ध का अन्तिम भाग 'मृत्युम्' पद है। इन सब को साम ही जानना चाहिए। जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। अतः जो इस साम को किसी आचार्य के मुख से प्राप्त कर इस प्रकार जानता है, वह इस जीवन में ही भव-बंधन से मुक्त हो जाता है और अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों को भी भव-पाश से छुड़ाता है। जो व्यक्ति सांसारिक मोह ममता में पड़ा है, वह इसे सुनकर मुक्ति की कामना करने लगता है। इस मंत्रराज साम के जप से इसी देह में भगवान् नृसिंह का दर्शन कर लेता है। कलियुग में मुक्ति का यह एक सरल मार्ग है। अतः इस साम को अंगों सहित भले प्रकार जान ले। इसे जो भले प्रकार जान लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शंकरं नीललोहितम् ॥ उमापतिः पशुपतिः पिनाकी ह्यमितद्युतिः। ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधि-

पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो वै यजुर्वेदवाच्यमन्तं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति महाप्रथमान्तार्धस्याद्यन्तवतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यं परां तृतीयान्तार्धस्याद्यन्नाम चतुर्थान्तार्ध-स्याद्य साम जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवंविद्वानमृत इह भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्व च गच्छति ॥ ६ ॥ विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्वि-श्वसृजो विश्वमेनाननु प्रजायते ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं यान्ति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्य भद्रं तृतीयान्त्य म्यहं चतुर्थान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्व च गच्छति योऽसौ वेद यदिदं किंचात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति स्त्रीपुंसयोर्वा इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वैश्वर्य ददाति यत्र कुत्रापि म्रियते देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च गच्छति तस्मादिदं साम मध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापति-स्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत् । य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महा-विष्णुर्भवति । इति प्रथमोपनिषत् ॥ ६ ॥

भगवान् नृसिंह अन्तर्यामी और सर्वव्यापी परमेश्वर हैं । उन्हें ऋत और सत्य समझना चाहिए । वे मनुष्य और सिंह की संयुक्त आकृति वाले, काले-पीले रंग से युक्त हैं । उनके नेत्र अत्यन्त विकराल तथा भयंकर हैं । वही कल्याणकारी शिव हैं । कण्ठ में नीलवर्ण और उसके ऊर्ध्व भाग में तेजोमय लोहित वर्ण का होने के कारण 'नील लोहित' कहलाते हैं । वे सर्व देवात्मक भगवान् नृसिंह ही गिरिजा, उमापति, पशुपति, धनुर्धारी और अत्यन्त तेजस्वी महेश्वर

हैं। वे सम्पूर्ण विद्याओं और भूतों के स्वामी हैं। जो वेदपति, ब्रह्मा के भी स्वामी और यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन भगवान् नृसिंह को साम ही जान ले। जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

मंत्रराज अनुष्टुप् के प्रथम चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'महा' है, द्वितीय चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'वंतो' है, तृतीय-चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'षणं' है, चतुर्थ चरण के उत्तरार्द्ध का आदि भाग 'नमा' है। इन सब को ही साम जाने। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

यह साम सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म ही है। उसे इस प्रकार जानने वाला पुरुष इस देह के रहते ही अमरत्व को प्राप्त होता है। इस साम को अंगों सहित जानना चाहिए। जो इस प्रकार इसका ज्ञाता है वह जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होकर अमत्व प्राप्त करता है।

विश्व के रचने वाले प्रजापतियों ने ही इस साम युक्त मन्त्र के द्वारा सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। इसीलिये वे विश्व रचयिता कहे गए है। यह विश्व उनसे ही प्रकट हुआ है। इस रहस्य के ज्ञाता ज्ञानीजन ब्रह्मलोक और उनके पद को प्राप्त करते है। इस साम को अंगों सहित जानना चाहिए। जो इस प्रकार जानते हैं वे भव-बंधन से मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

मंत्रराज के प्रथम चरण का अन्तिमपद 'विष्णु' है, द्वितीय-चरण का अन्तिम पद 'मुखम्' है, तृतीय चरण का अन्तिम पद 'भद्र' है तथा चतुर्थ चरण का अन्तिमपद 'म्यहम्' है। इन सब को साम जानना चाहिये। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

प्रजापति ने ही इन सब तत्वों को जाना। ब्रह्म में स्थित इस अनुष्टुभ मंत्र की ब्रह्म में ही स्थिति है। जो ज्ञानी इस प्रकार जानता है, वह अमरत्व को प्राप्त करता है।

जो साधक स्त्री पुरुष इस लोक में उत्तम आचरणपूर्वक रहकर आनन्द में स्थित रहने की इच्छा करते हैं, भगवान् नृसिंह उनके लिए सम्पूर्ण ऐश्वर्य देते हैं। वह जहाँ भी देह-त्याग करता है वहीं भगवान् नृसिंह उसे तारक मंत्र का उपदेश कर अमृतत्व प्राप्त कराते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के इच्छुकों को तारक मंत्र का जप करना उचित है। साम के अंगभूत प्रजापति मंत्रद्रष्टा होने से तारक मंत्र हैं। ऐसा जानने वाला ही सच्चा साधक होता है। यह महोपनिषद् है, ऐसा जो जानता है, वह साक्षात् विष्णु स्वरूप हो जाता है ॥ ७ ॥

॥ प्रथम उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयुस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एत मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वै ते मृत्युमजयन् पाप्मानं चातरन्त्संसारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात्स एत मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा साम्नः प्रथमः पादो भवति द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा साम्नो द्वितीयः पादो भवति तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः सा साम्नस्तृतीयः पादो भवति यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकारः सोऽथर्वणैर्मन्त्ररथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवति ॥ १ ॥

एक समय की बात है कि मृत्यु, पाप और संसार से सब देवता अत्यन्त भयभीत हुए और भागकर प्रजापति ब्रह्माजी की शरण में पहुँचे। ब्रह्माजी ने उन्हें भगवान् नृसिंह का मंत्रराज आनुष्टुभ् बताया।

देवताओं ने इस मंत्र की सिद्धि द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली। वे सब पापों से मुक्त होगए और इस संसार रूपी समुद्र को भी लाँघ गये। अतः जो मनुष्य मृत्यु, पाप और भवसागर से भय मानता हो, वह इस मंत्रराज की शरण ग्रहण करे। जो इस प्रकार मन्त्रराज की शरण लेता है, वह मृत्यु, पाप और इस संसार से भी तर जाता है।

प्रणव भी पूर्वोक्त मंत्रराज का ही अंग है। वह प्रणव प्रथम मात्रा 'अ'कार वाला है, पृथिवी उसका लोक और ऋचाओं से विभूषित ऋग्वेद ही उसका वेद, देवता ब्रह्मा, यथा छन्द गायत्री है, वह वसु देवताओं का गण है और गार्हपत्य अग्नि रूप है। यह सब प्रणव की प्रथम मात्रा में ही निहित है और यही साम का प्रथम पाद है।

प्रणव की द्वितीय मात्रा 'उ'कार है। अन्तरिक्ष लोक, यजुर्मंत्रों युक्त यजुर्वेद, विष्णु और रुद्र देवों का गण, दक्षिण अग्नि और त्रिष्टुप् छंद, यह द्वितीय मात्रा है। यही साम का द्वितीय पाद है।

प्रणव की तृतीय मात्रा 'म'कार है। द्युलोक, सामवेद, रुद्र और आदित्य का गण, जगती छन्द और आहवनीय अग्नि यह सब तृतीय मात्रा के अन्तर्गत है। यह तृतीय मात्रा ही साम का तृतीय-पाद है।

प्रणव की चौथी मात्रा में नादात्मक अर्द्धमात्रा का आभास मिलता है। उसमें चन्द्रलोक, ओंकारवाची परब्रह्म, अथर्ववेद, संवर्तक नामक अग्नि, मरुद्गण तथा विराट् छन्द है, इसके ऋषि ब्रह्मा है। यह ब्रह्म रूपिणी होने से अत्यन्त प्रकाश वाली है। यह चतुर्थमात्रा ही साम का चतुर्थपाद है॥ १॥

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशदक्षराणि संपद्यन्ते द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतं तस्य हैतस्य

पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथम प्रथमेन संयुज्यत द्वितीय द्वितीयेन तृतीय तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषिक्तावा इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषिक्तान्यङ्गानि भवन्ति ओमित्येतदक्षरमिद सर्वं तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ २ ॥

आठ अक्षरों का अनुष्टुप् मंत्र का प्रथम चरण है । आठ-आठ अक्षरों के ही शेष तीनों चरण हैं । इस प्रकार चारों पदों मे बत्तीस अक्षर होते है। इस अनुष्टुप् से ही संपूर्ण जगत की सृष्टि हुई है । सब का उपसंहार भी अनुष्टुप् के द्वारा ही होता है। इसके चार अंगों का चरणों के रूप में ऊपर वर्णन हुआ है, परन्तु प्रणव उसका पाँचवाँ अंग है। इस प्रकार अनुष्टुप् पाँच अङ्गों वाला है। मनुष्य शरीर के भी पाँच अंग हैं—हृदय, शिर, शिखा, बाहुमूल और मस्तक । दोनों के पाँच-पाँच अंग होने मे मंत्र के प्रथम अंग का हृदय से संयोग करे, दूसरे अंग का शिर से, तीसरे अंग का शिखा से, चौथे अंग का दोनों बाहुमूलों से तथा पाँचवे अंग का मस्तक से संयोग करे।

जैसे सम्पूर्ण लोक परस्पर मिले हुए हैं वैसे ही दोनों के अंग भी परस्पर सम्बद्ध है। ओंकार को सम्पूर्ण विश्व माना गया है। इसी लिए अनुष्टुप् के प्रत्येक अक्षर के दोनों ओर ओंकार का सम्पुट देना चाहिये। ब्रह्म ज्ञानीजन इस मंत्र के प्रत्येक अक्षर के न्यास की बात कहते हैं ॥ २ ॥

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं द्वितीय स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थान ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंहं

षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशनं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति एकादशपदा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमिदमुपसंहृतं तस्मात्सर्वानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ३ ॥

अनुष्टुप् का प्रथम स्थान 'उग्रम्' पद है । जो इसे जानता है, वह अमर हो जाता है। द्वितीय स्थान 'वीरम्' है, तृतीय स्थान 'महाविष्णुम्' है, चतुर्थ स्थान 'ज्वलन्तम्' है, पञ्चम स्थान 'सर्वतोमुखम्' है, छठा स्थान 'नृसिंहम्' है, सातवाँ स्थान 'भीषणम्' है, आठवाँ स्थान 'भद्रम्' है, नौवां स्थान 'मृत्युमृत्युम्' है, दसवाँ स्थान 'नमामि' है और ग्यारवाँ स्थान 'अहम्' है इस प्रकार जाने । जो ऐसा जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है । यह अनुष्टुप् वृत्ति ग्यारह पदों वाली है, इसी के द्वारा सम्पूर्ण जगत की सृष्टि हुई है, इसी के द्वारा सब का उपसंहार होता है । इसलिए यह सब अनुष्टुप् की ही महिमा है। जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को पाता है ॥ ३ ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादुच्यत उग्रमिति स होवाच प्रजापतिर्यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यजस्रं सृजति विसृजति वासयत्युद्ग्राह्यत उद्गृह्यते स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रं मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यत्ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः तस्मादुच्यत उग्रमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते वीरमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमति विरामयत्यजस्रं सृजति विसृजति वासयति यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामस्तस्मादुच्यते वीरमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति

यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्याप्तं व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्याप्यते यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि स्वतेजसा ज्वलति ज्वालयति ज्वाल्यते ज्वालयते सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन्दीप्यमानः ज्वल ज्वलिता तपन्वितपन्त्संतपन्रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणस्तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति ॥ ६ ॥

यह सुन कर देवताओं ने प्रश्न किया—'नृसिंह भगवान् के लिए 'उग्रम्' क्यों कहा गया है ?'

प्रसिद्ध प्रजापति ने इसका उत्तर दिया—'भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से सब देवताओं, सब भूतों, सब आत्माओं और सब लोकों को ऊपर उठाते है, वही उनकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते है, वे ही उन्हें अपने में लीन कर लेते है। संसार पर दूसरों से अनुग्रह कराते और स्वयं भी करते है। इसीलिए उन्हे उग्र कहा जाता है। इस विषय में ऋग्वेद मे कहा है 'श्रुतियाँ जिनकी स्तुति करती है, उन्ही परमेश्वर की स्तुति करो। वे हृदय रूप गर्त मे है, नवीन तरुणाई से शोभायमान हैं, सिंह रूप से प्रकट होते हुए भी भक्तोंके लिए विकराल नहीं है। सब पर कृपा करने के लिए वे सब स्थान पर तथा सब के समीप पहुँचते हैं। वे संतजनों पर कृपा और दुष्टों को नष्ट करने वाले हैं, इसीलिए उग्र कहे जाते है। हे भगवान् नृसिंह ! आप इस स्तुति से संतुष्ट होकर मुक्त स्तोता को सुखी करो। आपकी भयङ्कर सेना हम पर आक्रमण न करे, वह कहीं अन्यत्र जाय। इस मंत्र में

भगवान् नृसिंह को 'उग्र' कह कर स्तुति की है, इसीलिए उन्हें उग्र कहा गया है।'

इसके पश्चात् देवताओं ने प्रश्न किया—भगवन् ! प्रभु श्रीनृसिंह को 'वीर' क्यों कहा गया है ?' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—'भगवान् नृसिंह अपनी महिमा के द्वारा ही सब भूतों के साथ विभिन्न प्रकार के खेल खेलते हैं, वही सब लोकों और सब देवताओं में व्याप्त हैं, सभी आत्मा उन्हीं का प्रतिरूप मात्र है। वही सृष्टि के पालन और विनाश करने वाले है। सम्पूर्ण विश्व प्रलय के पश्चात् उन्ही में लीन हो जाता है, इसीलिए वे 'वीर' कहे गए हैं।

ऋग्वेद मे भी भगवान् को वीर कहा गया है, वे भक्तों पर तुरन्त कृपा करने वाले हैं, वे कर्मठ है क्योंकि सोमयाग में पाषाण हाथ में लेकर अध्वर्यु आदि के रूप में सोम निष्पीडन करते है। यही देवताओं की रचना करने की कामना करते रहते है।'

देवताओं ने प्रश्न किया 'भगवान् को 'महाविष्णु' क्यों कहा जाता है ? ब्रह्माजी बोले—'भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से सब देवताओं, सव आत्माओं, समस्त भूतों और सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करते हैं। मांस पिण्ड मे चिकनाई के व्याप्त रहने के समान देह के सब अवयवों में व्याप्त है। यह संसार प्रलयकाल में, उनमे ही लय होजाता है। क्योंकि यह उन्ही से संबधित है।'

ऋग्वेद मे भी इनकी महिमा का वर्णन हुआ है—जो सर्वव्यापी होने से समस्त संसार में व्याप्त हैं, जो प्रजा-पालक और प्रजा के उपास्यदेव है, जिनसे प्रबल अन्य कोई भी प्रकट नहीं हुआ, वे भगवान् सोलह कलाओं से युक्त होकर तीनों प्रकार के तेजों में व्याप्त रहते है। इसीलिए इन्हें 'महाविष्णु' कहा जाता है।

"देवता पूछने लगे—'यह 'ज्वलन्त' क्यों कहे जाते हैं ?"

प्रजापति ने उत्तर दिया—'भगवान अपने महत्व से ही सब देवताओ, सब आत्माओ, सब लोको और सब भूतो को अपने तेज से प्रकाशित करते और उसी तेज से स्वय भी प्रकाशित रहते है। सभी लोक और ज्योतियाँ उनके तेज से प्रकाशित होकर अपना प्रकाश फैलाते है। ऋग्वेद मे कहा है कि—वे सविता है, प्रसविता भी वही है, वे प्रकाश से युक्त है। वे स्वय प्रज्वलित रहकर दूसरो को भी प्रज्वलित करते है। वे स्वय तपते और दूसरो को तपाते है। वे अपने तेज से ही कान्तियुक्त है तथा अपनी कान्ति से दूसरो को कान्तिमान् बनाते है। वे परम कल्याण रूप एव स्वय सुशोभित है तथा अन्य पदार्थ उन्ही के द्वारा सुशोभित होते है। इसी लिये ज्ञानीजन उन्हे 'ज्वलन्त' कहते है।

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मन सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि सर्वत पश्यति सर्वत शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वग सर्वगतस्तिष्ठति। एक पुरस्ताद्य इद बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपा.। यमप्येति भुवन साम्पराये नमामि नमह सर्वतोमुखमिति तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति॥ अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति यस्मात्सर्वेषा भूताना ना वीर्यतम श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतम श्रेष्ठतमश्च। तस्मान्नृसिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धित वा एतद्रूप यदक्षर भवति प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्याय मृगो न भीम कुचरोगिरिष्ठा।.यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा तस्मादुच्यते नृसिंहमिति॥ अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति यस्माद्भीषण यस्य रूप दृष्ट्वा सर्व लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वय यत. कुतश्च न बिभेति भीषास्माद्वात पवते भीषोदेति सूर्य भीषास्मादग्निश्चेन्द्रस्य मृत्युर्धावति पञ्चम इति तस्मादुच्यते भीषणमिति॥ अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति यस्मात्स्वय भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्र

ददाति रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः। भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः तस्मादुच्यते भद्रमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति यस्मात्स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति । य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः यस्य छायामृत यो मृत्युमृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति ॥ अथ कस्मादुच्यते नमामीति यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च । प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यं यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे तस्मादुच्यते नमामीति ॥ अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति । अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः । यो मा ददाति स इदेवमावाः अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतिर्य एव वेदेति महोपनिषत् ॥इति द्वितीयोपनिषत्॥२॥

देवता पूछने लगे—'वे 'सर्वतोमुख' किस लिए कहे जाते हैं ?' ब्रह्माजी ने कहा—सब प्राणियों, आत्माओं, देवताओं और सभी लोकों को वे अपनी महिमा के द्वारा ही,इन्द्रियोंसे परे होते हुए भी सबको सब ओर देखते हैं। वे सब ओर से सुनते, सब ओर से ग्रहण करते और सब ओर गमन करते हैं। वे सभी स्थानों में समान रूप से व्याप्त रहते है। ऋग्वेद में उनकी महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'जो भगवान् सृष्टि से पूर्व अकेले ही थे और स्वयं ही इस विश्व रूप से उत्पन्न होगए, जिनके द्वारा इस विश्व की सृष्टि हुई, जो सब लोकों का पालन करते हैं तथा समस्त सृष्टि अन्त में, उन्हीं में लीन हो जाती है, वे भगवान् सर्वतोमुख हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूं।' इसमें भगवान् को सर्वतोमुख कहा गया है, इस लिए भी वे 'सर्वतोमुख' कहाते है।

देवताओं ने पूछा—'भगवान् को नृसिंह क्यों कहते है ?' ब्रह्माजी बोले—'सब प्राणियों में मानव का पराक्रम प्रसिद्ध है और सिंह भी सबसे अधिक पराक्रमी होता है। अत नर और सिंह दोनों के संयुक्त रूप से पराक्रम में अधिक प्रबलता होती है, इसी लिए भगवान् ने यह रूप धारण किया है। वे अपने इस रूप से विश्व का कल्याण करते है। उनका यह स्वरूप अविनाशी एवं सनातन है। वेद में कहा है—'भगवान् विष्णु सिंह रूप धारण कर स्तोताओं द्वारा स्तुति होते हैं। विभिन्न स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की जाती है। स्तोतागण विभिन्न प्रकार की शक्तियों को पाने के लिए उनकी स्तुति करते है। सिंह रूप धारी होने पर भी भगवान् अपने भक्तों के लिए भयङ्कर नहीं होते। वे पृथिवी और पर्वत सर्वत्र है, सब रूपों में स्थित है और स्तोता की वाणी में भी निहित है। इनके तीन डगों में तीन लोक समा गए। इसीलिए उन्हें 'नृसिंह' कहा जाता है।'

देवताओं ने प्रश्न किया—'इन्हें भीषण क्यों कहा जाता है ?' प्रजापति ने कहा—'उनके भीषण रूप से सब भयभीत होते है। सभी देवता, सभी प्राणी और सब लोक इनकी विकरालता से कांप कर भागते है, परन्तु यह किसी से भी नहीं डरते। वेद में कहा है—'इनके भय से ही सूर्य समय से प्रकाशित होता है, इनके भय से ही वायु चलता है और अग्नि तपता है, इन्द्र भी इन्हीं के भय से वर्षा आदि कर्म करते है तथा मृत्यु भी इनके भय से ही प्राणियों को देह से मुक्त करती है। इसी लिए यह 'भीषण' कहे जाते है।'

देवताओं ने पूछा—'इन्हें भद्र क्यों कहते है ?' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—'भद्र का तात्पर्य कल्याण से है। वे भगवान् कल्याण स्वरूप हैं और दूसरों का भी कल्याण करते हैं। वे स्वयं कान्तिमान हैं और दूसरों को भी कान्ति प्रदान करते है। वे स्वयं शोभा सम्पन्न है, इसलिए दूसरों को भी शोभा सम्पन्न करते है। वेद में कहा है कि

'देवताओ ! हम यज्ञ करते हुए कानों से भद्र (कल्याण) सुनें, कल्याण का ही दर्शने करें। हम भगवान् का स्तोत्र करते हुए अपने दृढ़ अङ्गों से ऐसी आयु पावे जो हमारे उपास्य भगवान् के भजन, चिन्तनादि में काम आवे। इस प्रकार 'भद्र' वर्णित होने से भगवान् को 'भद्र' कहते है।'

देवताओ ने पूछा कि भगवान् को मृत्यु-मृत्यु क्यों कहा जाता है ? ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि 'अपनी महिमा द्वारा अपने भक्तो के स्मरण करने ही उनकी मृत्यु और अपमृत्यु को भी नष्ट कर डालते है। वेद का कथन है कि जिनकी अनुज्ञा में देवगण मस्तक झुकाकर रहते और आज्ञा पालन करते है, जिनकी छाया अमृत स्वरूप है, जो आत्मा और शक्ति के देने वाले हैं, जो मृत्यु के लिए भी मृत्यु स्वरूप है' ऐसे एक अद्वितीय भगवान् के समक्ष हम स्वयं उपस्थित होकर आराधना करते है।' इसी के अनुसार भगवान् को 'मृत्यु-मृत्यु' कहते है।'

देवताओ ने प्रश्न किया कि 'मन्त्रराज में 'नमामि' पद क्यों प्रयुक्त हुआ है ? प्रजापति ने उत्तर दिया 'कि जिन भगवान् को सभी देवता, ब्रह्मबादीजन तथा मुक्ति की कामना वाले साधक नमस्कार करते हैं, इस लिए उन्हे नमस्कार करना चाहिए।' वेद में कहा है कि जिन भगवान् को लक्ष्य करके ही ब्रह्मा अपने स्तवन में नमस्कार करते हैं, वे भगवान् ब्रह्मा और वेदों के रक्षक हैं। इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि के आश्रयभूत है, इसीलिये उनके निमित्त 'नमामि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।'

देवताओं ने पुनः प्रश्न किया कि 'मंत्र में 'अहम्' पद क्यों प्रयुक्त हुआ है ?' इसके उत्तर में ब्रह्माजी ने कहा कि 'श्रुति में कहा है कि मैं अमृत का भण्डार हूँ। देवताओं से भी पूर्व मै प्रकट हुआ हूँ।' मैं ही इस प्रकट और अप्रकट संसार से पूर्व प्रकट होने वाला आत्मा

हूँ। हे देव ! तुम जो मुझे आश्रय प्रदान करते हो, वैसे तुमने मेरा पालन किया है। मैं अन्न हूँ, अन्न भक्षक का भी भक्षक बन जाता हूं। सूर्य के प्रकाश के समान यह सम्पूर्ण विश्व मेरे प्रकाश के सामने फीका पड़ जाता है। जो इस प्रकार का ज्ञाता है, वही यथार्थ उपासना करने वाला है। यही महोपनिषद् है। ॥ द्वितीय उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नरसिंहस्य शक्ति बीज नो ब्रूहि भगवन्निति स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिद सृजति सर्वमिद रक्षति सर्वमिदं संहरति तस्मान्मायामेतां शक्ति विद्याद्य एतां मायां शक्ति वेद स पाप्मान तरति स मृत्यु तरति स संसार तरति सोऽमृतत्व च गच्छति महती श्रियमश्नुते मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा दीर्घाप्लुता चेति ॥ यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मान दहत्यमृतत्व च गच्छति यदि दीर्घा भवति महती श्रियमाप्नोत्यमृतत्व च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्व च गच्छति तदेतदृषिणोक्त निदर्शन स ई पाहि य ऋजीषी तरत्र श्रिय लक्ष्मीमौपलामम्बिका गा षष्ठी च यामिन्द्रसेनेत्युदाहु ता विद्या ब्रह्मयोनि सरूपामिहायुषे शरणमह प्रपद्ये सर्वेषा वा एतद्भूतानामाकाश परायण सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाश प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाश बीज विद्यात्तदेव ज्यायस्तदेतदृषिणोक्त निदर्शन हंस शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥ नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋत बृहत् ॥ य एव वेदेति महोपनिषत् ॥

॥ इति तृतीयोपनिषत् ॥

प्रसिद्ध देवगण जिज्ञासु भाव से प्रजापति ब्रह्माजी के सामने

नव मस्तक होकर बोले—'भगवन् ! मंत्रराज आनुष्टुभ की शक्ति और बीज का हमें उपदेश कीजिए।'

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—'भगवान् की शक्तिभूता माया ही इस विश्व की रचना, रक्षा और विनाश करती है। इसलिए यह माया ही शक्ति है। इस माया को शक्ति रूप से जानने वाला ज्ञानी पापों से पार होता है और भव-सागर से तर कर अमृतत्व को प्राप्त होता है, और वह इस लोक में भी महान् सुख-समृद्धि का उपभोग करता है।

ब्रह्मवादी जन सोचते हैं कि भगवान् की माया शक्ति लघु, दीर्घ अथवा प्लुत है ? यदि लघु है तो जो कोई इसे लघु जाने वह अपने सब पापों को उसके द्वारा भस्म कर देता और अमृतत्व को पाता है। यदि दीर्घ है तो जो कोई उसके इस रूप को जानता है वह महान् ऐश्वर्य प्राप्त करता हुआ अन्त में अमर हो जाता है। यदि वह प्लुत है तो जो उसके इस रूप का ज्ञाता है, वह अत्यन्त ज्ञानी होता और अमृतत्व प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि—'हे माया रूप बिन्दुमय स्वर ! मैं इस भव-सागर से पार होने की कामना वाला हूँ तो साधन के निमित्त दीर्घ आयु भी प्राप्त करना चाहता हूँ। इस उद्देश्य से मैं भगवान्की शक्ति श्री, लक्ष्मी,शंकर भगवान की शक्ति अम्बिका, ब्रह्मशक्ति सरस्वती, स्कन्दशक्ति षष्ठी, इन्द्र-शक्ति इन्द्रसेना और ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली साक्षात् प्रकट विद्या शक्ति का आश्रय ग्रहण करता हूँ। तुम सभी उपरोक्त शक्तियों के सहित मेरी रक्षा करो।'

यह सभी प्राणी आकाश से उत्पन्न होते हैं, इसलिए आकाश ही सब प्राणियों का आश्रयभूत है। उत्पन्न प्राणी आकाश से ही जीवन धारण करते और अपना देह त्यागते और आकाश में ही लीन हो जाते हैं। अत: आकाश को ही सम्पूर्ण विश्व का बीज मानना चाहिये। इस विषय में यह दृष्टांत है कि जो पुरुषोत्तम भगवान् अपने

विशुद्ध परमधाम में स्वयं प्रकाशित हैं, वे ही अन्तरिक्ष में निवास करने वाले वसु हैं। वे ही घरों में आने वाले अतिथि हैं। वे ही यज्ञ की वेदी में प्रतिष्ठित अग्नि और उसमें आहुति देने वाले होते हैं। वे आकाश और स्वर्गलोक में निवास करते है, वे मर्त्यलोक में और सर्वश्रेष्ठ सत्यलोक में रहते हैं। वे ही पृथिवी, जल, पर्वतों और शुभ कर्मों में प्रकट होते हैं, वे ही परम सत्य एवं सब से महान् हैं।' इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी पूर्व कथित फलों को प्राप्त करता है। यह महोपनिषद् है।

॥ तृतीय उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति सहोवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १ ॥

प्रसिद्ध देवताओं ने जिज्ञासु भाव से ब्रह्माजी से प्रश्न किया—'मन्त्रराज आनुष्टुभ के अङ्गभूत मंत्रों को हमारे प्रति कहने की कृपा करो।'

प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा—'प्रणव, यजुर्लक्ष्मी, गायत्री और नृसिंह गायत्री ये सब मंत्रराज के अङ्गभूत मंत्र हैं। इनका ज्ञाता ऐश्वर्य प्राप्ति के साथ ही अन्त में अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः। यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थान

एकोभूतः प्रज्ञानघन एकानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः । एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानां नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

'ओंकार अविनाशी है, इसी की महिमा यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान इन तीनों कालों से संबंधित जो कुछ है, वह सब ओंकार ही है। उक्त तीनों कालों से अतीत जो है, वह भी ओंकार है। यह सब कुछ ओंकार रूप ब्रह्म है। यह भगवान् नृसिंह ब्रह्म ही है। उनके चार पाद हैं।

जाग्रत अवस्था और उससे व्याप्त यह स्थूल विश्व ही जिनका स्थान है और बाह्य संसार में जिनका ज्ञान प्रसारित है, सातों लोक जिनके अङ्ग हैं, पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च प्राण और चार अन्तःकरण, इस प्रकार यह उन्नीस जिनके मुख हैं, जो इस स्थूल विश्व के भोगने वाले हैं, जो विश्व रूप देह में स्थित होने से वैश्वानर कहाते हैं, वही सर्व रूप वैश्वानर भगवान् श्रीनृसिंह के प्रथम पाद हैं।

स्वप्नावस्था और उससे प्रभावित यह सूक्ष्म विश्व ही जिनका स्थान है और आन्तरिक संसार में जिनका ज्ञान फैला हुआ है, सातों लोक जिनके अंग और उन्नीस मुख हैं जो सूक्ष्म विश्व के भोक्ता, पालक एवं रक्षक हैं, ऐसे वे तैजस पुरुष ही भगवान् नृसिंह के द्वितीय पाद हैं।

सुषुप्ति और उसमें उपलक्षित सम्पूर्ण विश्व की प्रलय रूप अवस्था ही जिनका स्थान है, जो एक रूप में ही स्थित हैं और जिनका रूप घनीभूत विज्ञान है, जिनका मुख चिन्मय प्रकाश है, जो स्वयं आनन्दमय हैं और जो अपने स्वरूप रूप आनन्द के भोगने वाले हैं

तथा जिससे परे और कोई नही है, ऐसे वे प्राज्ञ पुरुष ही भगवान् नृसिंह के तृतीय पाद है।

उपरोक्त त्रिपाद परमेश्वर सब के स्वामी, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी है। सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के स्थान भी यही है।

जो स्थूल का ज्ञाता है, न सूक्ष्म का और न इन दोनो का ही ज्ञाता है, जो न प्रज्ञान का घनीभूत है, न दिखाई देता है, जो न व्यवहार मे आता, न स्पर्श मे, जो किसी आकार वाला भी नही है, जो अचिन्त्य और अवर्णनीय है, जिसका स्वरूप आत्मसत्ता की प्रतीति मात्र है। जो प्रपञ्च-रहित, कल्याणकारी अद्वितीय है, ऐसा पूर्ण ब्रह्म ही भगवान् नृसिंह का चतुर्थ पाद है। इस प्रकार ज्ञानीजन मानते है। उपरोक्त चार पादो मे जिनका वर्णन हुआ है वे भगवान् नृसिंह ही हैं। उन्हे जानना चाहिये ।। २ ।।

अथ सावित्री गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तया सर्वमिद व्याप्त घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षर पद श्रियाभिषिक्त य एव वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते नदेतदृचाभ्युक्त ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदु । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति य सावित्र वेदेति । ओभूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मी स्वर्लक्ष्मी' कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मी प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति । गायत्री वा इद सर्व यदिद किंच तस्माद्य एता महालक्ष्मी याजुषी वेद महती श्रियमश्नुते । ॐ नृसिहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि । तन्न सिंह प्रचोदयात् इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवाना वेदाना निदान भवति य एव वेद निदानवान्भवति ।। ३ ।।

अब सावित्री मंत्र के संबन्ध में उपदेश करते हैं—यह सावित्री मंत्र, गायत्री छन्द से युक्त होकर यजुर्मन्त्र के रूप में प्रकट हुआ है। यह सभी विश्व उससे व्याप्त है। अष्टाक्षरी होने से इसे गायत्री कहा गया है। इसमें 'घृणि:' और 'सूर्य' दो-दो अक्षर हैं तथा 'आदित्य:' तीन अक्षर हैं, आरंभ में इसे श्री बीज से अलंकृत किया जाता है। इस प्रकार यह सावित्री मन्त्र अष्टाक्षरी कहा गया है। जो ज्ञानी इस मन्त्र का ज्ञाता है, वह लक्ष्मी के द्वारा अलंकृत होता है। ऐसा दृष्टांत भी है कि 'ऋग्वेद की ऋचाएँ परम व्योम रूप अविनाशी, प्रकाशमान ब्रह्म में विद्यमान हैं, वही सब देवताओं का निवास है। जो साधक उन स्वयं तेजस्वी ब्रह्म को नहीं जानता वह स्वाध्याय से क्या लाभ उठा लेगा? जो ज्ञानी उस ब्रह्म के ज्ञाता है, वे परमधाम में आनन्दोपभोग करते हुए रहते हैं।' इस सावित्रमन्त्र के इस प्रकार जानने वाले को ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के मन्त्रों से कोई कार्य नहीं रहता।

'जो देवी भूलोक की लक्ष्मी, भुवर्लोक की लक्ष्मी और स्वर्ग लोक की लक्ष्मी है, जो कालकर्णी नाम वाली है, वह महालक्ष्मी हमें श्रेष्ठ कर्मों मे प्रेरित करे।' यह यजुर्वेदोक्त महालक्ष्मी की गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है। यह सब दृश्यमान विश्व गायत्री रूप ही है। अतः जो इस गायत्री का ज्ञाता है, वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

'हम भगवान् नृसिंह की प्राप्ति के निमित्त उपासना करते हैं। वज्र रूप नखों वाले उन परमात्मा का ही हम चिन्तन करते हैं, वे ही नृसिंह भगवान् हमें सत्कर्मों में प्रेरित करें।' यह नृसिंह गायत्री देवताओं और वेदों की भी कारणभूता है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी भगवान् को प्राप्त होता है॥ ३॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगवन्निति स होवाच

प्रजापति । ॐ या ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुव स्वस्तस्मै वै नमो नम ॥ १ ॥ (यथा प्रथममन्त्र'क्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु द्रष्टव्यौ) ॥ यश्च विष्णु ॥ २ ॥ यश्च महेश्वर ॥ ३ ॥ यश्च पुरुष ॥ ४ ॥ यश्चेश्वर ॥५॥ या सरस्वती ॥६॥ या श्री ॥ ७ ॥ या गौरी ॥ ८ ॥ या प्रकृति ॥ ९ ॥ या विद्या ॥ १० ॥ यश्चोंकार ॥ ११ ॥ याश्चतस्रोऽर्धमात्रा ॥ १२ ॥ ये वेदा साङ्गा सशाखा सेतिहासा ॥ १३ ॥ ये च पञ्चाग्नय ॥ १४ ॥ या सप्त महाव्याहृतय ॥ १५ ॥ ये चाष्टौ लोकपाला ॥ १६ ॥ ये चाष्टौ वसव ॥ १७ ॥ ये चैकादश रुद्रा ॥ १८ ॥ ये च द्वादशादित्या ॥ १९ ॥ ये चाष्टौ ग्रहा ॥ २० ॥ यानि च पञ्च महाभूतानि ॥ २१ ॥ यश्च काल ॥ २२ ॥ यश्च मनु ॥ २३ ॥ यश्च मृत्यु ॥ २४ ॥ यश्च यम ॥ २५ ॥ यश्चान्तक ॥ २६ ॥ यश्च प्राण ॥ २७ ॥ यश्च सूर्य ॥ २८ ॥ यश्च सोम ॥ २९ ॥ यश्च विराट् पुरुष ॥ ३० ॥ यश्च जीव ॥ ३१ ॥ यच्च सर्वम् ॥ ३२ ॥ इति द्वात्रिंशत् इति तान्प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रै-र्नित्य देव स्तुवध्वम् । ततो देव प्रीतो भवति स्वात्मान दर्शयति तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्य देव स्तौति स देव पश्यति सोऽमृतत्व च गच्छति य एव वेदेति महोपनिषत् ॥ ४ ॥

देवताओ ने प्रजापति से पुन प्रश्न किया कि 'भगवान् नृसिंह किन स्तोत्रो से स्तुत होने पर प्रसन्न होते और अपने दर्शन देते हैं ?' इस पर प्रजापति ब्रह्माजी बोले—कि वे ऊपर लिखे १ से ३२ की सख्या वाले मत्रराज के बत्तीस मत्रो से परम प्रसन्न होते है 'देवताओ ! इन मत्रो से नित्य प्रति भगवान् की स्तुति करो । ऐसा करने से भगवान् नृसिंह प्रसन्न होकर अपना साक्षात् दर्शन देते है । अत जो इस प्रकार स्तुति करता है वह उनके विश्वरूप के दर्शन करता है और उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है । इस प्रकार जानने

वाले को भी उपरोक्त फल प्राप्त होता है। यह महोपनिषद् है।

॥ चतुर्थ उपनिषद् समाप्त ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वार उद्योगिन उपदिशन्ति स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति षट्पत्रं चक्रं भवति षड्वा ऋतव ऋतुभिः संमितं भवति मध्ये नाभिर्भवति नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठता मायया एतत्सर्वं वेष्टितं भवति नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति। अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति क्षेत्रं क्षेत्र वै मायेषा संपद्यते। अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति द्वादशाक्षरा वै जगती जगत्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टित भवति। अथ षोडशार षोडशपत्रं चक्रं भवति षोडशकलो वै पुरुषः पुरुष एवेद सर्व पुरुषेण संमितं भवति मायया बहिर्वेष्टित भवति। अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवत्यरैर्वा एतत्सुबद्धं भवति वेदा वा एते अराः पत्रैर्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति छन्दांसि वै पत्राणि ॥ १ ॥

देवताओं ने प्रजापतिजी से श्रद्धापूर्वक कहा—भगवन् ! आनुष्टुभ मंत्रराज के महाचक्र नामक चक्र के सम्बन्ध में बताने की कृपा करें। यह चक्र मोक्ष-द्वार और सम्पूर्ण अभीष्टों का पूरक बताया जाता है।'

इस पर प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा—'आपका कहना यथार्थ है। इस महाचक्र का नाम सुदर्शन है और यह छः अरों से युक्त है। इसमें छः ऋतुएँ हैं, उन ऋतुओं की समता अरों से की जाती

है। इस चक्र मे जो नाभि है, उसमे यह अरे जुडे हुए है। सपूर्ण चक्र माया रूप नेमि से घिरा है। माया आत्मा का स्पर्श नही कर सकती, इस लिये इस चक्र को माया ने बाहर से ही घेर रखा है। फिर आठ अरो वाला अष्टदल चक्र बनता है और गायत्री के भी आठ पाद होते है इसलिए गायत्री पादो से अरो की समता की जाती है। माया ने इन्हे भी बाहर की ओर ही घेर रखा है। फिर द्वादश अरो वाला चक्र बनता है, द्वादश अक्षरो वाले जगती छद से इस द्वादश दल चक्र की समता की जाती है। यह भी माया द्वारा बाहर की ओर ही घिरा है। फिर सोलह दल वाला षोडशार चक्र बनता है यह सोलह कलाओ से युक्त है, भगवान् नृसिंह भी सोलह कला वाले हैं, इसलिए इसे साक्षात् भगवान ही समझे। यह भी माया द्वारा बाहर की ओर ही आवेष्ठित है। फिर बत्तीस अरो से युक्त चक्र बनता है, अनुष्टुप् मे भी बत्तीस अक्षर होते है। अनुष्टुप् के अक्षरो से चक्र के अरो की समता करे। यह भी माया द्वारा बाहर की ओर ही आवेष्ठित है। वेद ही इस चक्र के अरे है, छन्द इसके पत्ते है। उन पत्तो से ही यह सब ओर घूमता है ॥ १ ॥

एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद्भवति षट्सु पत्रेषु षडक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति षोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सबिन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति तद्वा एतत्सुदर्शनं नाम चक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति तस्य पुरस्ताद्वसव आसते रुद्रा दक्षिणतः आदित्याः पश्चाद्विश्वेदेवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोस्त-देतदृचाभ्युक्तं । ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे

निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत्त इति तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं कुर्यात्तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति ॥ २ ॥

यह बत्तीस दल वाला चक्र ही सुदर्शन नामक महाचक्र है। इसके बीच में जो नाभि है, उसमें ही भगवान् नृसिंह से संबंधित तारक मंत्र का न्यास करना चाहिए । वह तारक मंत्र केवल एक अक्षर का है। छः पत्रों में षडाक्षरी सुदर्शन मंत्र का न्यास होता है । आठ दलों में अष्टाक्षरी नारायण मंत्र का और बारह दलों में द्वादशाक्षरी वासुदेव मंत्र का न्यास होता है। सोलह दलों में षोडश अक्षर होते हैं । बत्तीस दलों में मन्त्रराज आनुष्टुभ का न्यास किया जाता है। यह सुदर्शन नामक महाचक्र सुविख्यात है। यह सभी अभीष्टों का पूरक, मुक्ति का द्वार और ऋक्, यजु, साम का साक्षात् रूप तथा अमृतयुक्त है। इसके पूर्व में ८ष्टावसु, पश्चिम में द्वादश आदित्य, उत्तर मे विश्वेदेवा और दक्षिण में एकादश रुद्र रहते हैं । नाभि में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा इधर-उधर सूर्य और चन्द्रमा रहते हैं ।

ऋचा में भी कहा है कि 'भगवान् नृसिंह परम व्योम रूप एवं अविनाशी हैं, उन्हीं में सम्पूर्ण वेद विद्यमान हैं । उन्हीं में सब देवता प्रतिष्ठित हैं । जो उन परमेश्वर भगवान् नृसिंह को नहीं जानता, उसे ऋग्वेद पढ़ने से कोई लाभ नहीं। जो पुरुष भगवान् नृसिंह और उनके महाचक्र का ज्ञाता है, वह परब्रह्म में स्थित होता है। इस महाचक्र को यदि कोई बालक अथवा युवा भी जान लेता है, वह महान् हो जाता है और सब का गुरु होता है। मन्त्रराज अनुष्टुप् से ही पूजन और

हवन करे। यह महाचक्र राक्षसो के डर से बचाने वाला है, यही मृत्यु से पार लगाने वाला है। गुरु से इसे यंत्र रूप में लेकर कंठ, शिखा या भुजा में बाँधे। जो गुरु इस मन्त्र का उपदेश दे, उसे दक्षिणा में सारी पृथिवी भी दे दी जाय तो वह न्यून है। श्रद्धा के अनुसार जितना हो सके भू-भाग दान करे, वही सर्वश्रेष्ठ दक्षिणा है ॥ २ ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वपूतो भवति ॥ ३ ॥

देवताओं ने प्रजापति से पुनः पूछा—'भगवन्! आनुष्टुभ मन्त्रराज का फल हमें कृपापूर्वक बताइये।'

प्रजापति बोले—'इस मन्त्रराज का दैनिक जप करने वाला पुरुष अग्नि में तपा कर शुद्ध किये सुवर्ण के समान हो जाता है। वह वायु, सूर्य और चन्द्रमा द्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। वह सत्य तथा लोक के द्वारा और ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा वेद के द्वारा शुद्ध हो जाता है ॥ ३ ॥

॥ नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्

ॐ देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्वेति तथेत्योमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मानमोमित्येकीकृत्य तदेकमजरममृतमभयमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरमारोप्य तन्मयं हि तदेवेति संहरेदोमिति तं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसंदध्यात्स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्यादानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः सूक्ष्मभुक् चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः ॥ यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः ॥ एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानां त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्ययमात्माथ तुरीयश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वादेकैकस्योतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैस्त्रयमप्यत्रापि सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्ययमात्माथायमादेशो न स्थूलप्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ईश्वरग्रासस्तुरीयस्तुरीयः ॥ इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

एक समय की बात है जब देवताओं ने प्रजापति ब्रह्माजी से जिज्ञासु भाव से प्रश्न किया—'जो परमेश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा प्रणव स्वरूप है उनके तत्त्व का हमें उपदेश करिये।'

सुप्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने इस प्रकार कहा—'ओ३म् रूप अविनाशी परमेश्वर है। उसकी महिमा का विस्तार रूप ही यह संपूर्ण दृश्यमान संसार है। भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालों में स्थित सम्पूर्ण विश्व ओंकार ही है तथा इन तीनों कालों से परे भी जो अन्य तत्त्व है, वह भी ओंकार है। यह सभी कुछ तथा आत्मा भी एक अविनाशी ब्रह्म ही है।

आत्मा को ॐ रूप से स्थित ब्रह्म के साथ एकीभाव करके और ओंकार के वाच्यार्थ रूप से ब्रह्म का आत्मा से एकीभाव स्थापित करके इस प्रकार माने कि यह भयरहित, जरा-मृत्युरहित, अमृत रूप, एक अद्वितीय चिन्मय तत्त्व ॐ ही है। उसी ओंकार रूप परमेश्वर में स्थूल, सूक्ष्म और कारण त्रिविध देहात्मक सम्पूर्ण विश्व का आरोप हुआ। यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व परमात्ममय होने से यह परमात्म रूप ही है ऐसे विश्वास के साथ इस विश्व को ॐवाची परमेश्वर में निहित करे उनका ही चिन्तन करे।

स्थूल तथा स्थूल विश्व का भोक्ता, सूक्ष्म तथा सूक्ष्म विश्व का भोक्ता तथा आनन्द रूप एवं आनन्द का भोक्ता और इसके साथ ही इन सबसे अद्भुत होने के कारण वह परमेश्वर चार पादों से युक्त माना गया है।

जाग्रतावस्था और इसके उपलक्ष रूप यह सम्पूर्ण स्थूल विश्व जिनका देह है, जिनका ज्ञान इस बाह्य जगत् में सर्वत्र फैला है, जो संपूर्ण जगत् में व्याप्त हैं, सातों लोक जिनके अङ्ग और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच प्राण और चार अन्तःकरण, इस प्रकार उन्नीस जिनके मुख हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह चारों जिनके रूप हैं, जो

विश्व के भोक्ता है, स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी इन चार रूपों में जो प्रकट है और विश्व रूप देह में प्रतिष्ठित होने से जो वैश्वानर कहे जाते है, वे ही वैश्वानर भगवान् नृसिंह के प्रथम पाद है। स्वप्नावस्था और उसका उपलक्ष्य यह संपूर्ण सूक्ष्म विश्व जिनका देह है, जिनका ज्ञान आन्तरिक विश्व में सर्वत्र प्रसारित है, जो सात अंग और उन्नीस मुख वाले तथा सूक्ष्म विश्व के तत्वों के पालने वाले और चार पुरुषार्थ वाले हैं, वे हिरण्यगर्भ ब्रह्म भगवान् नृसिंह के दूसरे पाद हैं। सुषुप्तावस्था और उससे उपलक्षित संपूर्ण विश्व की प्रलयावस्था ही जिनका देह है, घनीभूत विज्ञान जिनका रूप है, चिन्मय प्रकाश जिनका मुख है, जो आनन्दमय है तथा ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प रूपों में जो प्रकट है, जो अद्वितीय तथा अपने ही स्वरूप से उत्पन्न आनन्द के भोगने वाले है, वे प्राज्ञ नाम वाले पूर्ण परब्रह्म भगवान नृसिंह के तीसरे पाद है। तीन पादों में वर्णन किये गए उपरोक्त परमेश्वर सर्वज्ञ, अन्तर्यामी तथा सबके ईश्वर और प्रलय के स्थान रूप हैं।

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं में दृश्यमान यह विश्व भी यथार्थ में सुषुप्ति रूप ही है। क्योंकि इसके ऐश्वर्यमोह में भ्रमे हुए प्राणियों को तात्विक ज्ञान का अभाव रहता है। यहाँ जो कुछ दिखाई देता है, वह विपरीत गुण का दिखाई देने से माया मात्र ही समझना चाहिए। परमात्मा एक मात्र चिन्मय स्वरूप होने से इस विश्व से नितांत अद्भुत है।

ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प इन भेदों के कारण परमेश्वर का चतुर्थ पाद चार रूप वाला कहा है। इस संबंध में श्रुति कहती है कि—'जो स्थूल या सूक्ष्म को नहीं जानता अथवा इन दोनों मे से किसी एक को भी नही जानता। जो जानने वाला नहीं है और न नहीं जानने वाला है, जो प्रज्ञान के रूप रहित, अदृश्य, अव्यवहार्य

अस्पर्श्य, अचिन्त्य, अकथित एवं निराकार है तथा आत्म सत्ता की अनुभूति मात्र ही जिनका रूप है, जो प्रपञ्च-रहित, परमशान्त और अद्वितीय ब्रह्म है, वही भगवान् नृसिंह का चौथा पाद है।

जिन भगवान् नृसिंह का उपरोक्त चार पादों मे वर्णन किया गया है, वही अद्वितीय परमात्मा सब भूत-प्राणियों के आत्मा हैं। वही कारणात्मक परमेश्वर सम्पूर्ण जगत को अपने मे लीन कर लेते है। वे परब्रह्म तुरीय के भी तुरीय एवं जानने के योग्य है ॥ १ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

तं वा एतमात्मानं जाग्रत्यस्वप्नमसुषुप्तं स्वप्ने जाग्रतमसुषुप्तं सुषुप्ते जाग्रतमस्वप्नं जाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तमव्यभिचारिणं नित्यानन्द सदेकरसं ह्येव चक्षुषो द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा ततः सर्वस्मादन्यो विलक्षणश्चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी ततोऽविक्रियो महाचैतन्योऽस्मात्सर्वस्मात्प्रियतम आनन्दघनं ह्येवसस्मात्सर्वस्मात्पुरतः सुविभातमेकरसमेवाजरममृतमभयं ब्रह्मैवाप्यजयैनं चतुष्पादं मात्राभिरोंकारेण चैकीकुर्याज्जागरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोंकार एव चतूरूपा ह्ययमकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरकाररूपैराप्तेरादिमत्त्वाद्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्चाप्नोति ह वा इदं सर्वमादिश्च भवति य एवं वेद ॥ स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भश्चतूरूप उकार एव चतूरूपो ह्ययमुकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरुकाररूपैरुत्कर्षादुभयत्वात्स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्चोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति य एवं वेद ॥

उपरोक्त चार पादों वाले 'तुरीय' नाम से कहे गये परमेश्वर में ओंकार और उसकी मात्राओं के साथ एकीभाव स्थापित करे। वह परमेश्वर प्रत्येक अवस्था में पृथक् रह कर भी सब अवस्थाओं से युक्त होते हैं। किसी भी अवस्था का कभी भी उनमें अभाव नहीं होता। इसलिए वे सदा एक रस एवं सत्स्वरूप हैं, वे अनन्त एवं नित्य भी हैं। नेत्रों और श्रोतों के दृश्य हैं, घ्राणेन्द्रिय, रसना, त्वचा, मन-बुद्धि, प्राण और वाणी आदि के भी द्रष्टा हैं। सबके द्रष्टा होने से वे सभी से भिन्न एवं अद्भुत हैं। वे सभी साक्षी रूप द्रष्टा हैं। वे एक रस, जरादि विकारों से शून्य, भय-रहित और अमृतत्व के केन्द्र हैं। मृत्यु उनके पास तक नहीं पहुँच सकती। ऐसे वे निराकार परमेश्वर अपनी माया के द्वारा ही चार पाद वाले हैं।

जाग्रतावस्था और उनके कारण दृश्यमान यह स्थूल विश्व जिनका देह है, स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी, यह चार जिनके रूप हैं, वे विश्वरूप वाले वैश्वानर परमेश्वर के प्रथम पाद हैं तथा बीज, बिन्दु, नाद, शक्ति, परा, वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती इन रूपों वाला 'अ'कार ओंकार की प्रथम मात्रा है। जैसे वैश्वानर स्थूल विश्व में व्यापक है, वैसे ही 'अ' कार वाणी मात्र में व्याप्त है। इस लिए भी वैश्वानर का रूप है।

स्वप्नावस्था और उसके कारण उत्पन्न सूक्ष्म विश्व जिनका देह है, जो चार रूप वाले हैं, वे तैजस् हिरण्यगर्भ परमेश्वर के द्वितीय पाद हैं। ओंकार की द्वितीय मात्रा रूप 'उ'कार भी चार रूपों वाला है, यही तैजस है। 'अ'कार और 'म'कार का मध्यस्थ होने से यह उभय रूप है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी, ज्ञान के मार्ग को पुष्ट करता और सब प्राणियों प्रति समत्व भाव वाला होता है।

सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतूरूपो मकार एव

चतूरूपो ह्ययं मकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्मकाररूपैर्मितेरपी-
तेर्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्च मिनोति ह वा इदं
सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ मात्रामात्राः प्रतिमात्राः
कुर्यादथ तुरीय ईश्वरग्रासः स स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाश-
श्चतुरात्मोतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैरोतो ह्ययमात्मा ह्यर्थैवेदं सर्वमन्त-
काले कालाग्निः सूर्योस्त्रैरनुज्ञातो ह्ययमात्मा ह्यस्य सर्वस्य स्वा-
त्मानं ददातीदं सर्वं स्वात्मानमेव करोति यथा तमः सवितानुज्ञ-
करसो ह्ययमात्मा चिद्रूप एव यथा दाह्यं दग्ध्वाग्निरविकल्पो
ह्ययमात्मा वाङ्मनोऽगोचरत्वाच्चिद्रूपश्चतूरूप ॐकार एव चतू-
रूपो ह्ययमोंकार ओतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैरोंकाररूपैरात्मैव नाम-
रूपात्मकं हीदं सर्वं तुरीयत्वाच्चिद्रूपत्वाच्चोतत्वादनुज्ञानत्वादवि-
कल्परूपत्वाच्चाविकल्परूपं हीदं सर्वं नैव तत्र काचन भिदास्त्यथ
तस्यायमादेशो मात्रश्चतुर्थो व्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत
ॐकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एव वेदैष वीरो नारसिं-
हेन वानुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यादेष ह्यात्मानं प्रकाशयति
सर्वसंहारसमर्थः परिभवासहः प्रभुर्व्याप्तः सदोज्ज्वलोऽविद्यात-
त्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूपः सर्वा-
धिष्ठानः सन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽमेत्रेति तस्मादेवमेवेम-
मात्मानं परं ब्रह्मानुसंदध्यादेष वीरो नृसिंह एवेति ॥

॥ इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

ओंकार की तृतीय मात्रा 'म' कार स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी इन चार रूपों से युक्त है, दोनों के रूपों की समान गणना होने से अभिन्नता है। 'अ' और 'उ' को 'म' के द्वारा माप लिया जाता है और 'म' का उच्चारण होने पर मुख बन्द होने से स्वर विलीन हो जाता है उसी प्रकार वैश्वानर और तैजस को भी प्राज्ञ माप लेता है तथा सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्न के लीन हो जाने से दोनों ही समान

हैं। इस प्रकार जो जानता है, वह सम्पूर्ण विश्व को माप लेता और अपने में विलीन कर लेता है अर्थात् सबको जान लेता और अपने प्रभुत्व से सबको वश में कर लेता है।

इन तीनों पादों के अतिरिक्त जो चौथा पाद बताया गया है, वह पाद तुरीय परमेश्वर रूप है। यह कारणात्मक ब्रह्म को भी अपने में विलीन कर लेता है। वह स्वराट् रूप स्वयं समर्थ तथा अपने ही तेज से प्रकाशित परमेश्वर है। वह भी ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा और अविकल्प इन चार रूपों वाला है। यही परमात्मा ओत है। जैसे प्रलय काल में कालानल और सूर्य अपने प्रचंड तेज से इस सम्पूर्ण विश्व को बाहर भीतर से व्याप्त करते है, वैसे ही यह परमात्मा सब प्राणों को व्याप्त किये हुए हैं। वे परमेश्वर को सम्पूर्ण विश्व को अपने जैसा ही बनाकर अपने तेज में लय कर, उसे प्रकाश देते हैं। वे अनुज्ञैक रस हैं। जैसे अग्नि काष्ठ को दग्ध करके अपने प्रकाशमय रूप में स्थिति होता है, वैसे ही वे अज्ञान को नष्ट करके चिन्मय स्वरूप में स्थित होते हैं। वे विकल्प से हीन, सत्-चित् स्वरूप हैं। यही चार रूप वाले ओंकार हैं क्योंकि तुरीय पाद की भांति ही ओंकार भी परमेश्वर रूप ही है। जैसे परमात्मा के ओत, अनुज्ञातृ आदि चार रूप हैं वैसे ही ओंकार भी चार रूपों वाला है। इस कारण ओंकार और परमेश्वर में अभिन्नता नहीं है। जैसे वैश्वानर आदि तुरीय में लीन होते हैं, वैसे ही ओत आदि अविकल्प में लीन हो जाते हैं। इसलिए इनमें कोई विभिन्न नहीं है।

चतुर्थपाद के विषय में श्रुति कहती है—'मात्रा रहित ओंकार ही अव्यवहार्य, प्रपञ्चातीत, कल्याणमय एवं अद्वितीय है। परमेश्वर का चौथा पाद यही है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी ही आत्मा के द्वारा परमात्मा में प्रविष्ट होता है। ऐसा साधक अद्वितीत बल वाला होने से विश्व में किसी से नहीं डरता।

नृसिंहात्मक मन्त्रराज आनुष्टुभ के द्वारा तुरीय का ज्ञान प्राप्त करे। यह मन्त्रराज परमात्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला है। क्योंकि यह उग्र और वीर है। यही साक्षात् विष्णु और महान परमेश्वर है। अविद्या और उसके कार्यों से परे तथा स्वजनों के अज्ञानात्मक पाश को तोड़ने वाला है। इसीलिए वह सदा प्रकाशमय, आनन्द-स्वरूप अद्वैत एवं सबका अधिष्ठान है। यह मोह, अज्ञान और अविद्या का नाश करने वाला है। यही अहम् का लक्ष्यार्थ सर्वात्मा है। अतः इस मंत्रराज आनुष्टुभ और इसके उपास्य भगवान नृसिंह को ही परब्रह्म एवं सर्वात्मा जाने और इन्हीं के चिन्तन में तन्मय रहे। जो इस प्रकार जानता है तथा इसी प्रकार साधना करता है, वह मनुष्य सिंह के समान बलशाली होता है ॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादो भवति द्वितीया द्वितीयस्य तृतीया तृतीयस्य चतुर्थ्योतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्परूपा तया तुरीयं चतुरात्मानमन्विष्य चतुर्थपादेन च तया तुरीयेणानुचिन्तयन्ग्रसेत्तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा पृथिव्यकारः स ऋग्भिरृग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा प्रथमः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः-पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिस्तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रादित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ॐकारः साथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता चतुर्थः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्मात्रामात्राः प्रतिमात्राः

कृत्वोतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्परूपं चिन्तयन्ग्रसेज्ज्ञोऽमृनो ह्ययसंवित्कः शुद्धः संदिष्टो निर्विग्न इममसुनियमेऽनुभूयेहेदं सर्वं दृष्ट्वा स प्रपञ्चहीनोऽथ सकलः साधारोऽमृतययश्चतुरात्माथ महापीठे सपरिवारं तमेतं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानं मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं संदध्यात्सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं नाभौ सप्तात्मानं चतुरात्मानमुकारं विष्णुं हृदये सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं रुद्रं भ्रूमध्ये सप्तात्मान चतुरात्मान चतु सप्तात्मानं चतुरात्मानमोंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानमोंकारं तुरीयमानन्दामृतरूपं षोडशान्तेऽथानन्दामृतेनैतांश्चतुर्धा संपूज्य तथा ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीनेवा-विभक्तांस्त्रीनेव लिङ्गरूपानेव च संपूज्योपहारैश्चतुर्धाथ लिङ्गात्संहृत्य तेजसा शरीर संव्याप्य तदधिष्ठानमात्मानं संज्वाल्य तत्तेज आत्मचैतन्यरूपं बलमवष्टभ्य गुणैरैक्य संपाद्य महास्थूलं महासूक्ष्मे महासूक्ष्मं महाकारणे च संहृत्य मात्राभिरोतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्परूपं चिन्तयन्ग्रसेत् ॥

॥ इति तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

प्रणव की प्रथम मात्रा 'अ'कार को अनुष्टुप् मंत्रराज के प्रथम पाद के दोनों ओर लगाया जाता है। प्रणव की द्वितीय मात्रा 'उ'कार अनुष्टुप् मंत्रराज के द्वितीय पद के दोनों ओर लगायी जाती है। प्रणव की तृतीय मात्रा 'म'कार मंत्रराज के तृतीय पद के दोनों ओर लगाई जाती है। चतुर्थ मात्रा ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प इन चार रूपों वाली है, इससे चारों रूप वाले तुरीय पाद का ध्यान करना चाहिए।

प्रणव की प्रथम मात्रा 'अ'कार ही पृथिवी है, वही ऋक्मंत्रों वाला वेद है। वही ब्रह्मा है तथा वसु देवताओं का गण है, वही

गार्हपत्य अग्नि और गायत्री छन्द है। वही विराट पुरुष व आनन्द की प्रतिपादिका एव परमेश्वर का प्रथम पाद है। सभी पादो मे उस मात्रा की स्थिति है और उसके पूर्वोक्त चार रूप हैं। प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार ही अन्तरिक्ष है, वही यजुर्मन्त्रो मे युक्त वद है। वही विष्णु है तथा रुद्र देवो का गण है। वही दक्षिणाग्नि और त्रिष्टुप् छन्द है। वही तैजस हिरण्यगर्भ की प्रतिपादिका तथा परमेश्वर का द्वितीय पाद है। सभी पादो मे इसकी स्थिति है और उसके पूर्वोक्त चार स्वरूप है।

प्रणव की तृतीय मात्रा 'म'कार ही द्युलोक है, वही साम मन्त्रो से सम्पन्न वेद है। वही रुद्र है और आदित्यो का गण है। वही आह्वनीय अग्नि और जगती छन्द है। वही प्राज्ञ की प्रतिपादिका एव परमेश्वर का तृतीय पाद है। उसकी स्थिति अन्य सब पादो मे भी है और यह चार रूप वाली है।

प्रणव की चतुर्थ मात्रा आधी है, वह बिन्दु तथा चन्द्रलोक है। वही अथर्व मन्त्रो से सम्पन्न वेद है। वही सवर्तक अग्नि और मरुद्गण का गण है। वह एकर्षि अग्नि एव विराट छन्द है। वह तृतीय ब्रह्म की प्रतिपादिका होने से प्रकाश युक्त है। वही परमेश्वर का चतुर्थ पाद है। उसकी स्थिति अन्य सब पादो मे है और वह चार रूप वाली है। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि का एकीभाव कर चिन्तन करे और मात्रा को प्रतिमात्रा मे लीन करे और अन्त मे सबको अविकल्प रूप परमेश्वर मे मिलाकर परमेश्वर के ध्यान मे तन्मय हो जाय। स्वय को अविनाशी, नित्य, शुद्ध एव ज्ञानी मानकर अपनी बौद्धिक वृत्तियो को परमेश्वर मे लीन कर दे। प्राणाग्निहोत्र और प्रपञ्चयाग के द्वारा प्राण और प्रपञ्च से अपने को दूर करले।

'अ'कार रूप ब्रह्मा का नाभि मे ध्यान करे, 'उ'कार रूप विष्णु का हृदय मे ध्यान करे, 'म'कार रूप रुद्र का भ्रू मे ध्यान

करे तथा ओंकार स्वरूप ब्रह्म का द्वादशान्त में ध्यान करे। उस सर्व देवात्मक तेज से स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणात्मक देह को व्याप्त करे और आत्मा का तेजोमय रूप मे ध्यान करे। फिर उस तेज को रोककर उसके गुणों से ओंकार में एकत्व स्थापित करे। फिर महास्थूल को महासूक्ष्म में और महासूक्ष्म को महाकारण में लय करे तथा मात्राओं का प्रतिमात्राओं में लय करते हुए, सबको अविकल्प रूप ब्रह्म में लीन कर एक मात्र उसी का चिन्तन करे। ।। तीसरा खण्ड समाप्त ।।

तं वा एतमात्मान परमं ब्रह्मोंकारं तुरीयोंकाराग्रविद्योतमनुष्टुभा नत्वा प्रसाद्योमिति सहृत्याहमित्यनुसंदध्यादथैतमेवात्मान परम ब्रह्मोंकार तुरीयोंकाराग्रविद्योतमेकादशात्मानं नारसिंह नत्वोमिति 'सहरन्नानुसदध्यादथैतमेवमात्मान परमं ब्रह्मोंकार तुरीयोंकाराग्रविद्योत प्रणवेन संचिन्त्यानुष्टुभा नत्वा सच्चिदानन्दपूर्णात्मसु नवात्मकं सच्चिदानन्दपूर्णात्मान परं ब्रह्म सभाव्याहमित्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्याद्यदनुष्टुभैव वा एष उपवसन्नेष हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सन् सवमत्ति नृसिंहोऽसौ परमेश्वरोऽसौ हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सन्त्सवमत्ति नृसिंह एवैकल एष तुरीय एष एवोग्र एष एव वीर एष एव महानेष एव विष्णुरेष एव ज्वलन्नेष एव सर्वतोमुख एष एव नृसिंह एष एव भीषण एष एव भद्र एष एव मृत्युमृत्युरेष एव नमाम्येष एवाहमेव योगारूढो ब्रह्मण्येवानुष्टुभ संदध्यादोंकार इति ।। तदेतौ श्लोकौ भवतः ।। संस्तभ्य सिंह स्वसुतान्गुणार्थान्सयोज्य शृंगैर्ऋषभस्य हत्वा ।। वश्यां स्फुरन्तीमसतीं निपीड्य संभक्ष्य सिंहेन स एष वीरः ।। शृंगप्रोतान्पादान्स्पृष्ट्वा हत्वा तानग्रसत्स्वयम् । नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्भभाविति ।

।। इति चतुर्थ खण्डः ।। ४ ।।

ओतादि रूप वाले तुरीय ओंकार के पूर्व और साक्षी रूप से प्रकाशित होने वाले इस आत्मा और परब्रह्म स्वरूप ओंकार को अनुष्टुप् के नमामि पद तक के उच्चारण द्वारा नमस्कार पूर्वक प्रसन्न करे और ऐसी भावना करे कि मुझे विश्व के उपसंहार की शक्ति प्राप्त हो रही है। फिर चार मात्रिक ओंकार के उच्चारण पूर्वक पूर्वोक्त प्रकार से विराट्, तैजस आदि एक के पश्चात् दूसरे का संहार करे तथा अनुष्टुप् के अहम् पद को बोलते हुए अपने आत्मा तुरीय रूप से चिन्तन करे।

जो ओतादि रूप से प्रसिद्ध तुरीय ओंकार के पूर्व में साक्षी रूप से प्रकट होने वाले इस आत्मा और परब्रह्म रूप ओंकार को उग्रवीर आदि एकादश पदों के गुण वाले मंत्रों से नमस्कार करते हुए ओ३म् का उच्चारण करे और ओतादि को अनुज्ञातृ आदि में लीन करे, फिर उग्रम् आदि एक-एक पद के द्वारा उग्रत्व गुण वैशिष्ट्य पूर्वक आत्म रूप में भगवान् का चिन्तन करे।

फिर ओत आदि रूपों से प्रसिद्ध तुरीय ओंकार के आगे साक्षी रूप से प्रकाशित इस आत्मा और परब्रह्म रूप ओंकार का ओंकार द्वारा ही ध्यान कर उग्रम् से 'मृत्यु मृत्युम्' तक नौ पदों के साथ ब्रह्म के पञ्चरूप सत्, चित्, आनन्द, पूर्ण और आत्मा का संबंध होने के कारण जो परमेश्वर पञ्चविधि नवात्मक रूप वाले होते हैं, उनका भले प्रकार चिन्तन करे। फिर 'अहम्' पद का उच्चारण करते हुए 'नमामि' पद के द्वारा नमस्कार पूर्वक ब्रह्म में स्वयं का एकीभाव स्थापित करे।

केवल अनुष्टुप् मंत्र द्वारा भी भगवान् के सर्व रूपत्व और सर्वात्मत्व का ध्यान किया जा सकता है। नृसिंह भगवान् की 'नृ' आत्म स्वरूप है और इस कारण वे सदा सबके आत्म है। 'सिंह' के पाप नाशक होने से, वे सभी को बंधन से छुड़ाने वाले है। सर्वात्म

रूप से स्थित होकर सब अज्ञान आदि को ग्रस लेने वाले हैं । इसलिए यही सबका कल्याण करने वाले नृसिंह है। ये ही विष्णु है, ये ही सर्वतोमुख है, ये ही कल्याण स्वरूप है तथा ये ही मृत्यु के लिए भी मृत्यु हैं। ये ही 'नमामि' पद के लक्ष्यार्थ तथा 'अहम्' पद के आश्रय-भूत है। इस प्रकार पूर्वोक्त उपासना से और इस अनुष्टुप् पाद युक्त उपासना से ओंकारयुक्त परमेश्वर के चिन्तन में तन्मय होकर ब्रह्मरूप ओंकार में ही अनुष्टुप् को लय करने पर सब कुछ ओंकार ही है। इस भाव से ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए।

जो सर्व बन्धनों का छेदन करने वाला तथा चञ्चलता रहित होकर भी अल्प बुद्धि के कारण चञ्चल दिखाई पड़ने वाला सिंह वाच्य आत्मा को अपनी महिमा से स्तंभित करके तथा गुणो से सम्पन्न होकर जो वैश्वानर आदि रूपों को पा चुके है, ऐसे आत्मा के ही पुत्रों को वेदों के आश्रयभूत प्रणव की मात्राओं से संयोजित करके स्थूल को सूक्ष्म में और सूक्ष्म को कारण में लीन कर तुरीय मे संहार करके माया को वश में करके 'आत्मा में ही स्फूर्ति है।' ऐसा अनुभव करे और अनुज्ञा के द्वारा पृथकत्व का सर्वथा अभाव कर उसका चैतन्य में विलीनीकरण करे। प्रणव की मात्राओं से युक्त विराट् एवं ब्रह्म सर्वेश्वर आदि को अनुष्टुप् के प्रत्येक चरण से युक्त करके उनका क्रमशः संहार कर उस माया का स्वयं ग्रास कर लिया, इस भाव से परमेश्वर को नमस्कार पूर्वक उनसे साक्षात् करके स्वयं नृसिंह रूप हो जाता है। ।। चतुर्थ खण्ड समाप्त ।।

अथैष उ एव अकार आप्ततमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तत एष ह्येवाप्ततम् एष हि साक्ष्येष ईश्वरस्ततसर्वगतो नहींद सर्वमेष हि व्याप्ततम इद सर्व यदयमात्मा मायामात्र एष एवोग्र एष हि व्याप्ततमं एष एव वीर एष हि व्याप्ततम एष एव महानेष हि व्याप्ततम एष एव विष्णुरेष हि व्याप्ततम एष

एव ज्वलन्नेप हि व्याप्ततम एष एव सर्वतोमुख एष हि व्याप्त- तम एष एव नृसिंह एष हि व्याप्ततम एष एव भीषण एष हि व्याप्ततम एष एव भद्र एष हि व्याप्ततम एष एव मृत्युमृत्युरेष हि व्याप्ततम एष एव नमाम्येष हि व्याप्ततम एष एवाहमेष हि व्याप्ततम आत्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येन्यथैष एवोकार उत्कृष्टतमार्थ आत्मन्येव नृसिंह देवे ब्रह्मणि वर्तते तस्मादेष सत्यस्वरूपो न ह्य- न्यदस्त्यप्रमेयमनात्मप्रकाशमेष हि स्वप्रकाशोऽसङ्गोऽन्यन्न वी- क्षत आत्मातो नान्यथा प्राप्तिरात्ममात्रं ह्येतदुत्कृष्टमेष एवोग्र एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव वीर एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव महानेष ह्येवो- त्कृष्ट एप एव विष्णुरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव ज्वलन्नेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव सर्वतोमुख एष ह्येवोत्कृष्ट एप एव नृसिंह एष ह्येवो- त्कृष्ट एप एव भीषण एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव भद्र एष ह्येवो- त्कृष्ट एष एव मृत्युमृत्युरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव नमाम्येष ह्येवो- त्कृष्ट एष एवाहमेष ह्येवोत्कृष्टस्तस्मादात्मानमेवैन जानीयादा- त्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवली- यन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येत्यथैष एव मकारो महाविभूत्यर्थ आ- त्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते तस्मादयमनल्पो भिन्नरूप. स्वप्रकाशो ब्रह्मैवाप्ततम उत्कृष्टतम एतदेव ब्रह्मापि सर्वज्ञ महामाय महाविभूत्येतदेवोग्रमेतद्धि महाविभूत्येतदेव वीरमेतद्धि महाविभूत्येतदेव महदेतद्धि महाविभूत्येतदेव विष्णवेतद्धि महावि- भूत्येतदेव ज्वलदेतद्धि महाविभूत्येतदेव सर्वतोमुखमेतद्धि महा- विभूत्येतदेव नृसिंहमेतद्धि महाविभूत्येतदेव भीषणमेतद्धि महा- विभूत्येतदेव भद्रमेतद्धि महाविभूत्येतदेव मृत्यु मृत्य्वेतद्धि महा- विभूत्येतदेव नमाम्येतद्धि महाविभूत्येतदेवाहमेतद्धि महाविभूति

तस्मादकारौकाराभ्यामिममात्मानमाप्ततममुत्कृष्टतमं चिन्मात्रं सर्वद्रष्टारं सर्वसाक्षिणं सर्वग्रासं सर्वप्रेमास्पदं सच्चिदानन्दमात्र मेकरसं पुरतोऽस्मात्सर्वस्मात्सुविभातमन्विष्याप्ततममुत्कृष्टतमं महामायं महाविभूतिं सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं पुरमेव ब्रह्म मकारेण जानीयादात्मैव नृसिंहो देवः परमेव ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येतीतीह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ।। इति पञ्चमः खण्डः ।। ५ ।।

ओंकार की प्रथम मात्रा रूप 'अ'कार अत्यन्त व्यापक है और यह अत्यन्त व्यापक आत्मा मे ही युक्त होता है। तथा यह सर्वात्मक ब्रह्म मे ही जाता है। क्योंकि यह अत्यन्त व्यापक 'अ'कार ही ईश्वर है, सर्वगत है, सर्वसाक्षी है, इससे परे अन्य किसी का कोई अस्तित्व नहीं है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण विश्व आत्मा ही है तथा जो आत्मा हैं, वही सब कुछ। जो सब कुछ दिखाई देता है या जिसकी अनुभूति होती है वह सब माया मात्र ही है। आत्मा से भिन्न इसका भी अस्तित्व नहीं है। यह 'अ'कार अत्यन्त व्यापक होने से उग्र भी है। यही वीर है, महान् है, विष्णु है, क्योंकि यह अत्यन्त व्यापक है। यही सर्वतोमुख, ज्वलन्, भीषण एवं नृसिंह है। अत्यन्त व्यापक होने से यह कल्याण रूप भी है, यही मृत्यु के लिए भी मृत्यु स्वरूप है। यही नमामि है और यही अहम् है, क्योकि उपरोक्त प्रकार से जानने वाला ज्ञानी नित्य मुक्त तथा आत्मभावी होकर साक्षात् नृसिंह रूप हो जाता है। वह सभी कामनाओं से परे होकर सभी पूर्व कामनाओं का पूर्ण भोग करता है। उसकी कामना आत्मा सुख की ही रहती हैं। आत्मा से परे—देह-सुख की इच्छा नहीं रहती। मरण-काल में उसके प्राण उत्क्रमण करने की अपेक्षा आत्मा मे ही लीन हो जाते है। वह इस देह में ब्रह्मरूप होकर मरने पर ब्रह्म को ही प्राप्त करता है।

प्रणव की द्वितीय मात्रा 'उ'कार अत्यन्त श्रेष्ठ अर्थ रखती है। इसलिए यह अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा में ही मिलती है। इस 'उ'कार को सत्य स्वरूप कहा है, इससे भिन्न कुछ भी सत्य नहीं है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी ही आत्मा है, वही नृसिंह स्वरूप ब्रह्म बन जाता है। वह सम्पूर्ण कामनाओं का स्वयं ही उपभोग करने के कारण मुक्त-काम्य हो जाता है।

प्रणव की तृतीय मात्रा 'म'कार असीम ऐश्वर्य वाली है। यह असीम ऐश्वर्यशाली आत्मा में ही मिलती है। इसीलिए 'म'कारात्मक आत्मा महान् है। अतः 'अ'कार और 'उ'कार के द्वारा जो अत्यन्त व्याप्त, श्रेष्ठ, सर्वग्राही, सर्वाश्रय, सर्व साक्षी, सर्व द्रष्टा, चिन्मात्र रूप, सच्चिदानन्दमय, एक रस, आत्मा के साक्षी रूप में भले प्रकार देदीप्यमान है, उसे ध्यान पूर्वक 'म' कार द्वारा महाविभूति सम्पन्न, श्रेष्ठ, चिन्मात्र रूप एवं मायामय परब्रह्म ही जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी भी आत्मरूप होकर नृसिंह स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। वह मुक्त-काम्य होकर सभी कामनाओं का फल प्राप्त करता है। वह केवल आत्म-सुख की अपेक्षा करता है, अनात्म सुख की नहीं करता। मरण-काल में उसका प्राणोत्क्रमण न होकर आत्म-लय हो जाते हैं। तथा वह इस देह के रहते ही ब्रह्मरूप हो जाता और मृत्यु के उपरांत ब्रह्म को ही पाता है। ॥ पञ्चम खण्ड समाप्त ॥

ते देवा इममात्मानं ज्ञातुमैच्छंस्तान्हासुरः पाप्मा परिजग्राह त ऐक्षन्त हन्तैनमासुरं पाप्मानं ग्रसाम इत्येतमेवोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखं नृसिंहमनृसिंहं भीषणमभीषणं भद्रमभद्रं मृत्युमृत्युममृत्युमृत्युं नमाम्यनमाम्यहमनहं नृसिंहानुष्टुभैव बुबुधिरे तेभ्यो हासावासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनज्योतिरभवत्तस्मादपक्वकषाय इममेवोंका-

राग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानं नृसिंहानुष्टुभमेव जानीयात्तस्या-सुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनज्योतिर्भवति ते देवा ज्योतिरुत्तिर्ती-र्षवो द्वितीयाद्भयमेव पश्यन्त इममेवोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीय-मात्मानमनुष्टुभान्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन्नवस्थितास्तेभ्यस्तज्ज्यो-तिरस्य सर्वस्य पुरतः सुविभातमविभातमद्वैतमचिन्त्यम-लिङ्गं स्वप्रकाशमानन्दघनं शून्यमभवदेवंविस्स्वप्रकाशं परमेव ब्रह्म भवति ते देवाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा-याश्च ससाधनेभ्यो व्युत्थाय निराकारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा वधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ता इव परिवर्त्तमानाः शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्तास्तस्मात्तद्देवानां व्रतमाचरन्नोंकारे परे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत्स आत्मन्येवा-त्मानं परं ब्रह्म पश्यति ॥ तदेष श्लोकः । शृङ्गेष्वशृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत् । शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबध्य त्रयो देव उपासत इति ॥ इति षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

देवताओं ने परमात्मतत्त्व के अपरोक्ष अनुभव करने का विचार किया, तभी पाप रूप असुर-भाव ने उन्हे ग्रास बना लिया। परन्तु कुछ विवेक के जाग्रत रहने से देवताओंने जो परमेश्वर उग्र, अनुग्र, वीर, अवीर, विष्णु, अविष्णु, महान्, अमहान्, ज्वलन्, अज्वलन्, सर्वतोमुख, असर्वतोमुख, भीषण, अभीषण, नृसिंह, अनृसिंह, मृत्युरूप, अमृत्युरूप, नमामि, अनमामि तथा अहम् और अनहम् है, उनसे सम्बन्धित नारसिंह मन्त्रराज के द्वारा ही उन्हे जान लिया। इसके पश्चात् वह पापमय असुरभाव भी तुरीय परमेश्वर के ध्यान द्वारा ज्योतिस्वरूप होगया।

इस प्रकार तेजस्विता को प्राप्त हुए देवताओं ने उस ज्योति से भी उत्कृष्ट होने का विचार किया क्योंकि अभी तक वे उस पाप-भाव से भयभीत थे। तब वे प्रणव के सम्मुख प्रकाशमान

तुरीय तुरीय ब्रह्म का नारसिंह अनुष्टुप् द्वारा चिन्तन कर, प्रणव के माध्यम से उन्ही में स्थित हुए। जो ज्ञानी ऐसा जानता है वह अपने ही तेज से प्रकाशित परब्रह्म रूप हो जाता है।

उन देवगण ने पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा और उनके साधनों से ऊँचे उठने का विचार कर संन्यास ग्रहण किया और सभी वृत्तियों का त्याग कर अन्ध, वधिर, पुंसत्वहीन, गूंगे तथा भोले भाले अनजान अथवा विक्षिप्तों की भाँति विचरण करते हुए छः साधनों से सम्पन्न हो आत्मक्रीडा और आत्मानंद का अनुभव करते हुए परब्रह्म को जानकर उसी में लय को प्राप्त हुए।

ओंकार की 'अ'कार 'उ'कार और 'म'कार रूप मात्रा में तुरीय ब्रह्म को संयुक्त कर नारसिंह अनुष्टुप् को प्रणव की मात्राओं में योजित करे। फिर अकार उकार के द्वारा मकार को बाँधकर तीनों में एकीभाव स्थापित कर तीनों प्रकार के देवता उपासना द्वारा उच्च स्थिति को प्राप्त होते हैं।

॥ षष्ठ खण्ड समाप्त ॥

७ देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् भूय एव नो भगवान्विज्ञापयत्विति तथेत्यजत्वादमरत्वादजरत्वादमृतत्वादशोकत्वादमोहत्वादनशनायत्वादपिपासत्वादद्वैतत्वाच्चाकारेणेममात्मानमन्विष्येत्कृष्टत्वादुत्पादकत्वादुत्प्रवेष्टृत्वादुत्थापयितृत्वादुद्द्रष्टृत्वादुत्कर्तृत्वादुत्पथवारकत्वादुद्ग्रासत्वादुद्भ्रान्तत्वादुत्तीर्ण विकृतत्वाच्चोंकारेणेममात्मानं परमं ब्रह्म नृसिंहमन्विष्याकारेणेममात्मानमुकारं पूर्वार्धमाकृष्य सिंहीकृत्योत्तरार्धेन तं सिंहमाकृष्य महत्त्वान्महस्त्वान्मानत्वान्मुक्तत्वान्महादेवत्वान्महेश्वरत्वान्महासत्त्वान्महाचित्त्वान्महानन्दत्वान्महाप्रभुत्वाच्च मकारार्धेनानेनात्मनैकीकुर्यादशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवं वेद कस्त्वमित्यहमिति होवाचैवमेवेदं सर्वं तस्मादहमिति सर्वाभिधानं तस्यादिरयमकारः स

एव भवति सर्वं ह्ययमात्माय हि सर्वान्तरो न हीद मर्वमह-
मिति होवाचैव निरात्मकमात्मैवेद सर्व तस्मात्सर्वात्मकेनाकारेण
सर्वात्मकमात्मानमन्विच्छेद्ब्रह्मैवेद सर्व सच्चिदानन्दरूप सच्चि-
दानन्दरूपमिद सर्वं सद्धीद सर्वं सत्सदिति चिद्धीदं सर्व काशते
प्रकाशते चेति कि सदितीदमिद नेत्यनुभूतिरिति कैषेतीयमियं
नेत्यवचनेनैवानुभवन्नुवाचैवमेव चिदानन्दावप्यवचनेनैवानुभव-
न्नुवाच सर्वमन्यदिति स परमानन्दस्य ब्रह्मणो नाम ब्रह्मेति
तस्यान्त्योऽय मकार स एव भवति तस्मान्मकारेण परम
ब्रह्मान्विच्छेत्किमिदमेवमित्युकार इत्येवाहाविचिकित्सन्नकारेणे-
ममात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणानुसदध्यादुकारेणाविचि-
कित्सन्नशरीरोऽनिन्द्रियोऽप्राणोऽतमा सच्चिदानन्दमात्र. स स्व-
राड् भवति य एव वेद ब्रह्म वा इद सर्वमत्तृत्वादुग्रत्वाद्वीर-
त्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वाज्ज्वलत्वात्सर्वतोमुखत्वान्नृसिंहत्वाद्भीषण-
त्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्नमामित्वादहत्वादिति सतत ह्येतद्-
ब्रह्मोग्रत्वाद्वीरत्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वाज्ज्वलत्वात्सर्वतोमुखत्वान्नृ-
सिंहत्वाद्भीषणत्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्नमामित्वादिति तस्मा-
दकारेण परम ब्रह्मान्विष्य मकारेण मनआद्यवितार मनआ-
दिसाक्षिणमन्विच्छेत्स यदैतत्सर्वमपेक्षते तदैतत्सर्वमस्मिन्प्रवि-
शति स यदा प्रतिबुध्यते तदेतत्सर्वमस्मादेवोत्तिष्ठति तदेव
तत्सर्वं निरूह्य प्रत्यूह्य सपीड्य संज्वाल्य सभक्ष्य स्वात्मानमे-
वैषा ददात्यत्युग्रोऽतिवीरोऽतिमहानतिविष्णुरतिज्वलन्नतिसर्व-
तोमुखोऽतिनृसिहोऽनिभीषणोऽतिभद्रोऽतिमृत्युमृत्युरतिनमाम्यत्यह
भूत्वा स्वे महिम्नि सदा समासते तस्मादेनमकारार्थेन परेण
ब्रह्मणैकीकुर्यादुकारेणाविचिकित्सन्नशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणो-
ऽमना सच्चिदानन्दमात्र स स्वराड् भवति य एव वेद ॥
तदेष श्लोक ॥ शृङ्ग शृङ्गार्धमाकृष्य शृङ्गेणानेन योजयेत् ।
शृङ्गमेन परे शृङ्गे तमनेनापि योजयेत् ॥इति सप्तम खण्ड ॥७॥

देवताओ ने फिर प्रजापति की शरण ली और बोले—'भगवन्! हमारे निमित्त पुन ज्ञान का उपदेश करिये।' इस पर ब्रह्माजी कहने लगे—'यह आत्मा अजन्मा है, मृत्यु-रहित है, कभी वृद्ध नही होता भय-शोक से रहित अमृत रूप है, इसे क्षुधा-पिपासा नही व्यापती, मोह से भी परे तथा अद्वैत है।

'अ'कार इन सब शब्दो का आदि है, इसलिए 'अ'कार द्वारा ही आत्मा के चिन्तन पूर्वक अत्यन्त श्रेष्ठ, सब के उत्पन्न करने वाले, सृष्टि रचना के पश्चात् आत्मा रूप से देहधारियो मे प्रविष्ट होने वाले, सब को मर्यादा मे रखने वाले, सब को समदृष्टि से पालन करने वाले, कुमार्ग मे रोकने वाले, सब का सहार करने वाले, सर्वश्रेष्ठ कर्त्ता तथा 'उ'कार के द्वारा परब्रह्म का चिन्तन करे। फिर 'अ'कार रूप आत्मा को 'उ'कार के पूर्व अर्द्ध भाग रूप ब्रह्म की ओर खीचे और 'उ'कार के उत्तरार्द्ध भाग द्वारा ब्रह्म को ग्रहण कर आत्मा से एकीभूत स्थापित करे। 'म'कार और आत्मा दोनो ही महत्, महस्, मान, मुक्त, महादेव, महेश्वर, महासत्, महाचित् और महानन्द रूप होने से 'म'कार के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जाता है।

अहम् का प्रथम अक्षर ओकार की प्रथम मात्रा 'अ'कार ही है। इसीलिए यह 'अ'कार भी सर्ववाचक होने से सब रूप है। ऐसा जो जानता है, वह ज्ञानी सवरूप हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व आत्मा है, क्योकि बिना आत्मा के इसका अस्तित्व सभव नही है। 'यह है' ऐसा अनुभव सभी प्राणी करते है, इसलिए यह सब सत् स्वरूप है। यह सब कुछ चिन्मय है, सब कुछ प्रकाश स्वरूप है। हे देवगण! क्या तुमने सत् को समझ लिया है। देवताओ ने कहा—यह सब घटपट आदि वस्तुएं सत् है। इस पर प्रजापति बोले—'यह सब ससार ही असत् है परन्तु इसकी अनुभूति सत् है। यह शुद्धि एव बुद्धि से सम्पन्न आत्मा ही चित् एव आनन्द है। ब्रह्म ही परमानन्द

है। ब्रह्म का अन्तिम अक्षर 'म'कार भी ब्रह्म ही है। अतः 'म'कार के द्वारा ब्रह्म का चिन्तन करे।

प्रणव में द्वितीय मात्रा उकार है। यह उकार दृढ़ निश्चयात्मक है। अतः अ उ म् इन तीनों में से अकार के द्वारा आत्मा का ग्रहण कर मकार रूप ब्रह्म में उसे संयुक्त करे और उकार के द्वारा इनके एकीभाव के प्रति निश्चय प्रकट करे। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी देह, इंद्रिय, प्राण एवं तम रहित होकर सच्चिदानन्दमय स्वयं प्रकाशित होने वाला आत्मा होता है। ब्रह्म निश्चय ही उग्र, वीर, ज्वलन्, भीषण, मृत्युमृत्यु, महत्, विष्णु, नृसिंह, सर्वतोमुख कल्याणमय, नमामि और अहम् होने से देश, काल और वस्तु की परिधि से परे है। अतः प्रणव में स्थित 'अ'कार द्वारा परब्रह्म का चिन्तन करे और 'म'कार द्वारा मन के रक्षक और साक्षी स्वरूप आत्मा का ध्यान करे।

साक्षी रूप आत्मा जब सुषुप्ति में इस सम्पूर्ण विश्व का त्याग कर देता है तब विश्व का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। जाग्रतावस्था में यह विश्व पुनः इसी आत्मा के द्वारा प्रकट होता है। अपने द्वारा ही प्रकट इस सम्पूर्ण प्रपंच को यह आत्मा अपने में ही स्थित रखता और फिर इसे प्रकाशरूप बनाकर स्वयं में लीन कर लेता है।

ओंकार की प्रथम मात्रा 'अ'कार रूप आत्मा को 'उ'कार के पूर्वार्द्ध रूप ब्रह्म के प्रति आकृष्ट करे और 'म'कार रूप आत्मा से उकार के उत्तरार्द्ध रूप ब्रह्म की एकता का चिन्तन करे। अहम् का आदि अक्षर अकार है और प्रणव की आदि मात्रा भी अकार है अतः यह अकार आत्मा रूप है, उसे मकार के अर्थभूत ब्रह्म से युक्त करे। जो ब्रह्म प्रणव के अकार द्वारा प्रतिपादित है, उसे इस मन के साक्षी और रक्षक आत्मा से मिलाकर आत्मा और परमात्मा के एकीभाव का अनुभव करें।

॥ सप्तम खण्ड समाप्त ॥

अथ तुरीयेणोतश्च प्रोतश्च ह्ययमात्मा नृसिंहोऽस्मिन्सर्वमयं सर्वात्मानं हि सर्वं नैवानोऽद्वयो ह्ययमात्मैकत्वाविकल्पो नहि वस्तु सदयं ह्योत इव सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघन एवैकरसोऽव्यवहार्यः केनचनाद्वितीय ओतश्च प्रोतश्चैष ओंकार एवं नैवमिति पृष्ट ओमित्येवाह वाग्वा ओंकार वागेवेदं सर्वं न ह्यशब्दमिवेहास्ति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यमनुज्ञाता ह्ययमात्मैष ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानमनुजानाति न हीदं सर्वं स्वत आत्मविन्न ह्ययमोतो नानुज्ञानामङ्गत्वादविकारित्वादसत्त्वादन्यस्यानुज्ञाता ह्ययमोंकार ओमिति ह्यनुजानाति वाग्वा ओंकारो वागेवेदं सर्वमनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिद्धीदं सर्वं निरात्मकमात्मसात्करोति तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभय वै ब्रह्माभयं हिवै ब्रह्म भवतिवं य ए वेदेति रहस्यमधुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा प्रज्ञानघन एवाय यस्मात्सर्वस्मात्पुरतः सुविभातोऽतश्चिद्घन एव न ह्ययमोतो नानुज्ञातैतदात्म्यं हीदं सर्वं सदैवानुज्ञैकरसो ह्ययमोंकार ओमिति ह्येवानुजानाति वाग्वा ओंकारा वागेव ह्यनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिदेव ह्यनुज्ञाता तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यमविकल्पो ह्ययमात्माऽद्वितीयत्वादविकल्पो ह्ययमोंकारोऽद्वितीयत्वादेव चिन्मयो ह्ययमोंकारस्तस्मात्परमेश्वर ए-

वैकमेव तद्भवत्यविकल्पोऽपि नात्र काचन भिदास्ति नैव तत्र काचन भिदास्त्यत्र हि भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योमाप्नोति तदेतदद्वयं स्वप्रकाशं महानन्दमात्मैवैतन्दमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ।। इत्यष्टमः खण्डः ।। ८ ।।

इससे पूर्व प्रणव की मात्राओं द्वारा आत्मा-परमात्मा का प्रतिपादन हुआ, अब सम्पूर्ण प्रणव द्वारा आत्मतत्त्व का बोध कराया जाता है। यह ब्रह्मरूप आत्मा ओत-प्रोत है। यह ब्रह्मरूप आत्मा सभी का आत्मा है इस लिए इस आत्मा में ही सम्पूर्ण विश्व स्थित है। इसी लिए यह सर्वस्वरूप भी है। यथार्थ में आत्मा ओत नहीं, किन्तु अद्वितीय है। आत्मा को अद्वय कहा गया है, क्योंकि यह एक ही है। आत्मा अविकल्प है, इसलिए कल्पनाओं से रहित है। आत्मा से भिन्न सब असत् है। अतः यह आत्मा ओत के तुल्य है। यही सद्घन स्वरूप है। तथा चिद्घन और आनन्दघन भी है। एक रस और अद्वितीय है, क्योंकि एक शब्द या एक नाम के द्वारा व्यवहृत नहीं हो सकता।

यह प्रणव ओत प्रोत है, क्योंकि किसी बात का निश्चयात्मक उत्तर देने में मनुष्य हाँ (ओं) कहता है। हाँ में 'ओम्' का ही उच्चारण होने से ओम् भी निश्चयात्मक हैं। यह वाणी भी प्रणव है और यह सब कुछ वाणी ही है। क्योंकि संसार की कोई भी वस्तु बिना वाणी अर्थात् बिना नाम की नहीं है। प्रणव चिन्मय है और यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व भी चिन्मय ही है। अतः परमेश्वर के चिन्मयात्मक लक्षण के कारण प्रणव वाला होने से प्रणव भी परमेश्वर ही है। यह प्रणव और परमेश्वर एक मात्र ब्रह्म ही है और यह भय से सर्वथा शून्य तथा अमृतस्वरूप है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष भय-मुक्त होता हुआ ब्रह्म रूप होता हैं।

यह आत्मा अनुज्ञाता है, क्योंकि यह विश्व को अपना रूप देता है। यह सब जड़ स्वरूप होने से आत्मा से रहित होता है। यथार्थ में आत्मा ओत या अनुज्ञाता कुछ भी नही है, क्योंकि यह सङ्ग-दोष से रहित तथा विकार रहित है। इससे भिन्न किसी पदार्थ का अस्तित्व नही है। यह प्रणव भी अनुज्ञाता है, क्योंकि कोई पुरुष किसी बात की स्वीकृति देता है तो वह 'हा' के रूप में 'ओम्' ही कहता है। यह वाणी मात्र प्रणव है, क्योंकि वाणी ही सब विषयों में स्वीकृति देती है। प्रणव चिन्मय है, क्योंकि यह चिन्मयत्व आत्मा रहित विश्व को अपने में लीन कर लेता है। अतः प्रणव ही परमेश्वर है और प्रणव तथा परमेश्वर दोनों ही ब्रह्म हैं। ब्रह्म सदा भय से रहित तथा अमृत स्वरूप है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष भय-रहित एव ब्रह्मरूप हो जाता है। प्रज्ञानघन होने से यह आत्मा अनुज्ञैक रस है। यह सम्पूर्ण कार्य कारणमय विश्व की उत्पत्ति से भी पहले से प्रकाशित है। इसलिए चैतन्य स्वरूप ही है। यथार्थ में यह ओत अथवा अनुज्ञाता नही है, क्योंकि यह सर्वत्र आत्मा की अपेक्षा रखता है। परन्तु स्वयं अनात्म है, इसीलिए असत् भी है।

प्रणव भी अनुज्ञैकरण है, क्योंकि स्वीकृति सूचक शब्द में ओम् ही व्याप्त है। वाणी भी प्रणव ही है, क्योंकि स्वीकारोक्ति देने वाली वाणी ही है। चित् ही अनुज्ञा है और अनुज्ञैकरस होने से प्रणव चिन्मय है और चिन्मय होने के कारण प्रणव भी परमेश्वर है। इस प्रकार प्रणव और परमेश्वर दोनों एक रूप होने से अद्वितीय ब्रह्म हैं। यह ब्रह्म भय रहित और अमृत स्वरूप है। अतः जो ब्रह्म को भय रहित अथवा अन्य उपरोक्त गुणों से सम्पन्न जानता है, वह ज्ञानी भय रहित ब्रह्म ही बन जाता है।

यह कल्पना में न आने से अविकल्प है। इससे भिन्न अन्य

कोई वस्तु नहीं हैं। अद्वितीय होने के कारण प्रणव भी चिन्मय होने के कारण परमेश्वर रूप है। इस प्रकार वे दोनों ही ब्रह्म हैं। ब्रह्म अविकल्प है, परन्तु यथार्थ में वह विकल्प-रहित भी नही हैं, क्योंकि वह नितान्त अभेद है। उस परमेश्वर में भेद मानने वाला पुरुष सैकड़ों-हजारों भेदों को प्राप्त होता है। अतः यह स्वय प्रकाशमान, अत्यन्त आनन्दमय एवं अद्वितीय तत्व आत्मा है। यही ब्रह्म है, भय से शून्य तथा अमृत स्वरूप है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी भय से शून्य तथा अमृत स्वरूप है। इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी भी भय से शून्य तथा ब्रह्म रूप हो जाता है। ॥ अष्टम खण्ड समाप्त ॥

\ देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निममेव नो भगवन्नोंकार-मात्मानमुपदिशेति तथेत्युपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा नृसिंहश्चिद्रूप एवाविकारो ह्युपलब्धा सर्वस्य सर्वत्र न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरा-त्मैव सिद्धोऽद्वितीयो मायया ह्यन्यदिव स वा एष आत्मा पर एषैव सर्वं तथाहि प्रज्ञ नैषा विद्या जगत्सर्वमात्मा परमात्मैव स्वप्रकाशोऽप्यविषयज्ञानत्वाज्जानन्नेव ह्यन्यत्रान्यन्न विजानात्य-नुभूतेर्माया च तमोरूपानुभूतिस्तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढैरात्मेव दृष्टास्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वत-न्त्रत्वेन सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव तद्यथा वटबीजसामान्यमेकमनेकान्स्वाव्यतिरिक्तान्वटान्सबीजानुत्पाद्य तत्र तत्र पूर्णं सत्तिष्ठत्येवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि पू-र्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावभासेन करोति माया ःचाविद्या च स्वयमेव भवति सैषा चित्रा सुदृढा बह्वङ्कुरा

स्वयं गुणभिन्नाङ्कुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमभिमन्ता जीवो नियन्तेश्वरः सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भस्त्रिरूप ईश्वरवद्व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ह्येष ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वास्ववस्थासु तथाप्यल्पाः स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव तस्मादद्वय एवायमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरेतैरवगतः सत्तामात्रं ह्रादं सर्वं सदेव पुरस्तात्सिद्धं हि ब्रह्म न ह्यत्र किंचानुभूयते नाविद्यानुभवात्मा न स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिण्यविक्रियेऽद्वये पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्सत्यं हीत्थं पुरस्तादयोनि स्वात्मस्थमानन्दचिद्घनं सिद्धं ह्यसिद्धं तद्विष्णुरीशानो ब्रह्मान्यदपि सर्वं सर्वगतं सर्वमत एव शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः सुखस्वरूप आत्मा न ह्येतन्निरात्मकमपि नात्मा पुरतो हि सिद्धो न हीदं सर्वं कदाचिदात्मा हि स्वमहिमस्थो निरपेक्ष एक एव साक्षी स्वप्रकाशः किं तन्नित्यमात्मात्र ह्येव न विचिकित्समेतद्धीदं सर्वं साधयति द्रष्टा द्रष्टुः साक्ष्यविक्रियः सिद्धो निरवद्यो- बाह्यभ्यन्तरवीक्षणात्सुविस्फुटतमः स परस्ताद्ब्रूतैष दृष्टोऽदृष्टोऽव्यवहार्योऽप्यल्पो नाल्पः साक्ष्यविशेषोऽनन्योऽसुखदुःखोऽद्वयः परमात्मा सर्वज्ञोऽनन्तोऽभिन्नोऽद्वयः सर्वदा संवित्तिर्मायया नासंवित्तिः स्वप्रकासे यू-

यमेव दृष्टाः किमद्वयेन द्वितीयमेव न यूयमेव ब्रह्मैव भगवन्निति देवा ऊचुर्यूयमेव दृश्यते चेन्नात्मज्ञा अमङ्गो ह्ययमात्मातो यूयमेव स्वप्रकाशा इद हि सत्संविन्मयत्वाद्यूयमेव नेति होचुर्हन्तासङ्गा वयमिति होचुः कथं पश्यन्तीति होवाच न वयं विद्म इति होचुस्ततो यूयमेव स्वप्रकाशा इति होवाच न च सत्संविन्मया एतौ हि पुरस्तात्सुविभातमव्यवहार्यमेवाद्वयं ज्ञातो नैष विज्ञातो विदिताविदितात्पर इति होचुः स होवाच तद्वा एतद्ब्रह्माद्वय ब्रह्मत्वान्नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रमात्मैवाव्यवहार्यं केनच तत्तदेतदात्मानमोमित्यपश्यन्तः पश्यत तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यमित्यों सत्य तदेतत्पण्डिता एव पश्यन्त्येतदृश्यशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमवक्तव्यमनादातव्यमगन्तव्यमविसर्जयितव्यमः नानन्दयितव्यममन्तव्यमबोद्धव्यमनहंकर्तयितव्यमचेतयितव्यमप्राणयितः व्यमनपानयितव्यमव्यानयितव्यमनुदानयितव्यमसमानयितव्यमनिन्द्रियमविषयमकरणमलक्षणमसङ्गमगुणमविक्रियमव्यपदेश्यमसत्त्वमरजस्कमतमस्कममायमभयमप्यौपनिषदमेव सुविभात सकृद्विभातं पुरतोऽस्मात्सर्वस्मात्सुविभातमद्वयं पश्यत हंसः सोऽहमिति स होवाच किमेष दृष्टोऽदृष्टो वेति दृष्टो विदिताविदितात्पर इति होचुः कैषा कथमिति होचुः किं तेन न किंचनेति होचुर्यूयमेवाश्चर्यरूपा इति होवाच न चेत्याहुरोमित्यनुजानीध्वं ब्रूतैनमिति ज्ञातोऽज्ञातश्चेति होचुर्नचैनभिति होचुरिति ब्रूतैवै-

वमात्मसिद्धमिति होवाच पश्याम एव भगवो न च वयं पश्यामो नैव वयं वक्तुं शक्नुमो नमस्तेऽस्तु भगवन् प्रसीदेति होचुर्न भेतव्यं पृच्छतेति होवाच कैषानुज्ञेत्येष एवात्मेति होवाच ते होचुर्नमस्तुभ्य वय त इति ह प्रजापतिर्देवाननुशशासानुशशासेति ॥ तदेष श्लोकः ॥ ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम् । अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेत् ॥इति नवमःखण्ड ॥ ९ ॥

तब वे प्रसिद्ध देवगण प्रजापति से कहने लगे—'भगवन् ? प्रणव के लक्ष्यार्थ भूत आत्मा का ही हमारे प्रति उपदेश करिये।

प्रजापति ने कहा—यह आत्मा उपद्रष्टा और अनुमन्ता है। यही 'सिंह' रूप से बोला जाकर पाप नाशक होता है। यही परमेश्वर विकार रहित, सर्वत्र साक्षि स्वरूप तथा चित्स्वरूप है। इससे आत्मा रूप अद्वैत की ही सिद्धि होती है। आत्मा से भिन्न किसी की सत्ता सिद्ध न होने से आत्मा अद्वितीय कहा गया है। माया के द्वारा ही अन्य वस्तुएं देखने में आती हैं। यह आत्मा ही परमात्मा है। उसी की माया प्रपञ्च के रूप में स्थित है। प्राज्ञ में अविद्या रूप से विद्यमान हुई माया ही उसके यथार्थ रूप को ढक देती है। आत्मा द्वैत भाव से रहित है। वह तो विशुद्ध अद्वैत ब्रह्म ही है। यह अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान एवं सबका जानने वाला है। अविषय रूप एवं अज्ञान रूप भी है। तथा यह अज्ञान रूपा माया भी अनुभव-गम्य है, क्योंकि उसका स्वरूप यह जड़ तथा मोहादि से परिपूर्ण विश्व ही है। माया ही इस दृश्यमान विश्व को इस पुरुष के समक्ष प्रकट करती है। इस माया का अस्तित्व खोजने पर भी अनुभव में

नहीं आता। अज्ञानी पुरुष तो इसमें आत्मा का ही भ्रम कर बैठते हैं क्योंकि यह आत्मा के अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों का अनुभव कराने मे समर्थ है। क्योंकि जब यह आत्मा मोहात्मक जड़त्व में भ्रमा दिया जाता है तब उसका अस्तित्व दिखाई नहीं देता, उस समय वह माया के आवरण में ढक जाता है। जैसे वट के बीज में उससे भिन्न अनेकों वट वृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति होती है, वैसे ही माया द्वारा एकान्त वाले अभिन्न शरीरों को आत्मा परमात्मा के भेद में स्थित करती है। यह माया तीन गुणों मे विभक्त रहने वाली, अत्यन्त अद्भुत तथा दृढ़ है। अतः गुण भेद से जो तीन प्रकार के रूप दृष्टिगत होते हैं, वह सब आत्मा ही है। देहाभिमानी पुरुष ही चेतन प्राणी है और परमेश्वर उसका नियामक है। विश्वभिमानी जीव ही हिरण्यगर्भ है। वह भी तीन भेद वाला है। परमेश्वर के समान उसे भी आत्म-चैतन्यता का ज्ञान स्वयं ही होजाता है। अतः वही सर्वव्यापक परमात्मा है, वही क्रिया और ज्ञान का साक्षात् रूप है। सम्पूर्ण प्राणी तथा सम्पूर्ण क्षेत्र सर्वमय हैं, फिर देहाभिमानी होने से अल्प हैं। यह आत्मा सब भूतों, इन्द्रियों और उनके अभिमानी देवताओं में विराट् और ब्रह्माण्ड तथा अन्नात्मक कोश बना कर उनमें प्रविष्ट होता और मूढत्व-रहित होते हुए भी मूढ के समान वर्तता है। यह सब माया का ही प्रभाव है। इसीलिए आत्मा एक है। यह आनन्दमय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, विभु, माया से परे, सत्य, मुक्त, अद्वैत, एक रस है। इसका बोध सत्, चित् आनन्द की प्राप्ति से ही संभव है। इस विश्व की सृष्टि के पहले मे ही परमेश्वर स्वयं सिद्ध है। उस परमेश्वर में उससे भिन्न किसी पदार्थ की स्थिति नहीं है। वह अद्वितीय है तथा स्वयं प्रकाशमान एवं ज्ञान रूप होने से अविद्या से रहित है। यही निर्विकार और सबका साक्षी है। इस विश्व में भी जो कुछ है सब सत् ही है। इस प्रकार सत्य स्वरूप परमेश्वर पहले से ही है। वह अपने ही आत्मा

में प्रतिष्ठित, चिद्घन स्वरूप तथा आनन्दमय है। किन्हीं प्रमाणों से इसकी सिद्धि न हो सकने से वह स्वतः सिद्ध है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी वही है तथा अन्य विभिन्न रूपों में भी वही दिखाई देता है। सर्व-व्यापक और सर्वरूप होने से नित्य शुद्ध है। उसके स्वरूप का बोध संभव नही है। कार्य का अस्तित्व न होने से वह कारण रूप भी नहीं कहा जा सकता। यह विश्व आत्मा से शून्य नहीं है, किन्तु निरपेक्ष आत्मा भी नहीं हो सकता क्योंकि इस विश्व की उत्पत्ति से पहले से ही आत्मा की स्थिति प्रमाणित है। आत्मा सर्वथा निरपेक्ष, अद्वैत, साक्षी, स्वयं प्रकाशमान और अपनी ही महिमा में स्थित है। परन्तु विश्व को सत्य कदापि नहीं माना जा सकता।

देवताओं ने प्रश्न किया—'नित्य, शुद्ध, बुद्ध, आत्म-तत्व कौन-सा है?' प्रजापति ने उत्तर दिया—'वह आत्म तत्व आत्मा ही है। ब्रह्म आत्मा है, इसमें संदेह नहीं है। यही इस विश्व की रचना करने वाला है। यह नित्य सिद्ध, निर्विकार, स्वयं साक्षी तथा द्रष्टा का भी द्रष्टा है। यह बाह्य जगत और आन्तरिक जगत में भी है तथा कार्य कारण का निरीक्षक है इसलिए अविद्या-रहित है। यह अज्ञानातीत, तम से सर्वथा परे है तथा विश्व के प्राकट्य से भी पहले से प्रकाशित है।'

इसके पश्चात् प्रजापति ने पूछा—'देवगण! मेरे इस उपदेश से भी तुम्हें आत्मा के स्वरूप के दर्शन हुए या नहीं?' इस पर देवताओं ने कहा—'भगवन्! आत्म स्वरूप का साक्षात्कार तो हमने किया, परन्तु वह अल्प होने से व्यवहार में आने योग्य नही है।' इस पर प्रजापति ने कहा—'आत्मा अल्प कदापि नही है। वह सर्वज्ञ, अनन्त, अभिन्न तथा अद्वैत ब्रह्म है। वह सुख और दुःख से रहित, सर्वसाक्षी तथा निर्विशेष है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। उसको भले प्रकार

उपलब्धि न होने का कारण माया ही है। परन्तु उसके प्रकाश को कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशमान है। आत्मा में कल्पित होनें से माया और अज्ञान भी आत्मा से अभिन्न है तथा आत्मा क्या है ? तुम सब भी तो आत्मा ही हो। अब तो तुम आत्म-साक्षात् कर सके ? यदि कर सके तो द्वैत रूप से साक्षात् किया या अद्वैत रूप से ?,

देवता बोले—'हमें तो द्वैत का ही साक्षात् हुआ है।

प्रजापति ने कहा–'तुम्हें द्वैत का साक्षात् हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। आत्मा तुम्ही हो, वह तुमसे भिन्न अन्य कुछ नही है।'

देवता बोले—'भगवन् ! अभी हमें उपदेश की आवश्यकता है।' इस पर प्रजापति ने कहा—'तुम्हें द्वैत का दर्शन कदापि नहीं होता। तुम स्वयं ही आत्मा हो। यह आत्मा तो संग-रहित है। यदि तुम्हें द्वैत का दर्शन होता है, तो तुम आत्म-ज्ञानी नही हो।'

'तुम स्वयं ही प्रकाश रूप हो, तुम्ही आत्मा हो। तुम द्वैत नहीं, अद्वैत हो। जो दृश्यमान है, वही अद्वैत एवं सत्यरूप आत्मा है। यह सब ज्ञान रूप है। अतः तुम सत् तथा संगहीन आत्मा हो।' तब देवताओं ने कहा—'हम तो सङ्ग रहित तथा आसक्ति से भी रहित है।' इस पर प्रजापति ने कहा—'फिर तुम सङ्ग-रहित होकर भी द्वैत के दर्शन कैसे करते हो ?, देवताओं ने कहा—हमे इसका ज्ञान नही है कि हम द्वैत-दर्शन कैसे करते है।' प्रजापति बोले—'तुम स्वयं ही द्वैत बन रहे हो। परन्तु तुम सङ्ग-रहित ही हो। सत् और संवित् शब्द भी आत्मतत्त्व के बोधक है। यह व्यवहार योग्य न होने पर अद्वितीय है। क्या तुम अब इस आत्मा को समझ गये ?'

देवताओं ने कहा—'हाँ, भगवन् ! समझ गये। यह आत्मा जाने और अनजाने दोनो विषयों से अतीत है।' इस पर प्रजापति जी ने कहा—'आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है। वह अत्यन्त महान् होने से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, सूक्ष्म, आनन्द स्वरूप, चिन्मय, अद्वैत एवं मुक्त स्वरूप है। वह किसी अन्य के द्वारा व्यवहृत नहीं होता।

आत्मा दृष्टिगम्य नहीं है, इसलिए वह दिखाई नहीं पड़ता। प्रणव का वाच्यार्थ ब्रह्म प्रणव रूप है, अपने आत्मा में ही उसके दर्शन करो क्योकि आत्मा ब्रह्म है और ब्रह्म आत्मा है। यह संदेह का विषय नहीं है। यह बात सत्य है, परन्तु यह सत्य विवेकी पुरुषों के ही अनुभव में आती है। क्योंकि यह आत्मा रूप ब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि कुछ भी नही है। यह न वाणी द्वारा उच्चारित होता है, न हाथों द्वारा ग्रहण किया जाता है और न पावो के द्वारा उसके पास पहुँचा जाता है। वह मन बुद्धि के द्वारा समझने या जानने योग्य भी नही है। वह न अहंकार का विषय है न चित्त का। पांचो प्राणों का विषय भी वह नहीं है। वह इन्द्रिय या विषय से अतीत है। उसके कारण लक्षण भी नही हैं। वह सङ्ग रहित, सत्व, रज एवं तम-रहित, गुण-रहित, विकार-रहित उद्देश्य-रहित तथा माया से रहित है। वह भले प्रकार प्रकाशित तथा सदा एक रस है। कहो, देवगण ! तुमने इस आत्मा के दर्शन किये ?'

देवताओं ने कहा—'हाँ, भगवान् ! किये। वह आत्मा विदित और अविदित से अतीत है। अब वह माया कहाँ गयी और इस स्वयं प्रकाशित आत्मा में इससे पूर्व कैसे रही थी ?'

प्रजापति बोले—'माया के लिए आश्चर्य क्यों करते हो, तुम स्वयं ही आश्चर्य रूप बने हुए हो। परन्तु तुम आश्चर्य रूप

भी नहीं हो । जो कुछ कहा है उसे अनुज्ञा रूप में मानो और आत्मा के सम्बन्ध में कहो ।'

देवता बोले—'आत्मा ज्ञात-अज्ञात भी है । तथा ज्ञात-अज्ञात नहीं भी है । हम उसे देखकर भी नहीं देखते । उसे वाणी द्वारा बता नहीं सकते । अब आप ही हम पर प्रसन्न होकर बताने की कृपा करिये ।'

प्रजापति ने कहा—'क्या पूछना चाहते हो ? देवताओं ने पूछा—'अनुज्ञा क्या है ?' इस पर प्रजापति ने कहा—'आत्मा ही अनुज्ञा है ।' इस पर देवताओंने कहा—'भगवन ! हम आपको नमस्कार करते हैं ।'

प्रणव के द्वारा व्यापक आत्मा को जाने । अनुज्ञाता, अनुज्ञा, और अविकल्प रूप प्रणव के द्वारा आत्मा को जानना चाहिए । इस प्रकार उपद्रष्टा भाव को प्राप्त हो ।

॥ नवम खण्ड समाप्त ॥

॥ नृसिंहोत्तरतापिन्युपषित् समाप्त ॥

नृसिंहषट्चक्रोपनिषत्

ॐ देवा ह वै सत्यं लोकमायंस्तं प्रजापतिमपृच्छन्नार-सिंहचक्रन्नो ब्रूहीति । तान्प्रजापतिर्नारसिंहचक्रमवोचत् । षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति । यत् प्रथमं तच्चतुररं यद्वितीयं तच्चतुररं यत्तृतीयं तदष्टारं यच्चतुर्थं तत्पञ्चारं यत्पञ्चमं तत्पञ्चारं यत् षष्ठं तदष्टार तदेताति षडेव नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति ॥

अथ कानि नामानि भवन्ति । यत् प्रथमं तदाचक्रं यद्-द्वितीयं तत्सुचक्रं यत्तृतीयं तन्महाचक्रं यच्चतुर्थं तत्सकललोक-रक्षणचक्रं यत्पंचमं तद्द्यूतचक्रं यद्वै षष्ठं तदसुरान्तकचक्रं तदेतानि षडेव नारसिंहचक्रनामानि भवन्ति ॥

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति । यत्प्रथमं तदान्तर-वलय भवति । यद्द्वितीयं तन्मध्यमंवलयं भवति । यत् तृतीयं तद्बाह्यं वलयं भवति । तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति । यदा तद्वैतद्बीजं यन्मध्यमं तां नारसिंहगायत्रीं यद्वाह्यं तन्मन्त्रः ॥

अथ किमान्तरं वलयम् । षड्वान्तराणि वलयानि भवन्ति । यन्नारसिंहं तत्प्रथमस्य यन्माहालक्ष्म्यं तद्द्वियीयस्य यत्सारस्वतं तत्तृतीयस्य यस्य यत्कामं देवं तच्चतुर्थस्य यत् प्रणवं तत्पंचमस्य यत्क्रोधदैवतं तत् षष्ठस्य । तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षडा-न्तराणि वलयानि भवन्ति ॥

ॐ देवताओं ने सत्य स्वरूप व्यापक लोकपिता प्रजापति से कहा हमें नारसिंह चक्र का उपदेश करो । तब उन्हें प्रजापति ने नारसिंह चक्र का उपदेश दिया, जो इस प्रकार है कि नारसिंह चक्र छः हैं । पहला चक्र चार 'अर' वाला (तांगे आदि के पहियों में जो गोलाकार रूप से

कई बारीक-बारीक डण्डे जुड़े रहते हैं उसे अर कहते है) दूसरा भी चार ही अर वाला, तीसरा आठ, चौथा पांच, पांचवां भी पांच अर वाला छठा आठ अर वाला है। सो इस प्रकार छः ही नारसिंह चक्र होते है। यह पूछे जाने पर कि उनके नाम क्या है? प्रजापति ने उत्तर दिया— पहला आचक्र, दूसरा सुचक्र तीसरा महाचक्र, चौथा सकल लोक रक्षण, पांचवाँ द्यूतचक्र एवं छठा असुरान्तचक्र के नाम से प्रसिद्ध है। तो ये छः नारसिंह चक्रों के नाम है। ये पूछने पर कि उसके तीन वलय (वेष्टन) कौन-कौन है? प्रजापति ने उत्तर दिया पहला आन्तर, दूसरा मध्यम तीसरा बाह्य सो ये तीन ही वलय है। इनमें जो मध्यम बीज है वह नारसिंह गायत्री एवं जो बाह्य है वह मन्त्र है।

आन्तर वलय कितने हैं? यह पूछे जाने पर उन्होंने कहा— आन्तर वलयों की संख्या छः है। नारसिंहम् पहले का, माहालक्ष्म्यं दूसरे का, सारस्वत तीसरे का, जिसका जो इष्ट देव हो वह चौथे का, प्रणव (ओंकार) पांचवे का, क्रोध दैवत छठे का नाम है। सो ये छः नारसिंह चक्रों के छः आन्तर वलय हुआ करते है।

अथ किं मध्यमं वलयम्। षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहाय तत्प्रथमस्य यद्विद्महे तद्द्वितीयस्य यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य यद्धीमहि तच्चतुर्थस्य यत्तन्नस्तत्पचमस्य यत्सिंहः प्रचोदयादिति तत् षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षण्मध्यमानि वलयानि भवन्ति ॥

अथ किं बाह्यं वलयम्। षड्वै बाह्यानि वलयानि भवन्ति। यदाचक्रं यादात्मा तत्प्रथमस्य यत्सुचक्रं यत्प्रियात्मा तद्द्वितीयस्य यन्महाचक्रं यज्ज्योतिरात्मा तत्तृतीयस्य यत्सकललोकरक्षणचक्रं यन्मायात्मा तच्चतुर्थस्य यदाचक्रं यद्योगात्मा तत्पंचमस्य यदसुरान्तकचक्रं यत्सत्यात्मा तत् षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षट् बाह्यानि वलयानि भवन्ति ॥

मध्यम वलयों की कितनी संख्या है ? यह जब पूछा तो प्रजापति ने उत्तर दिया—मध्यम वलयों की संख्या भी छः ही है। 'नारसिंहाय' प्रथम का 'विद्महे' दूसरे का 'वज्रनखाय' तीसरे का 'धीमहि' चौथे का 'तन्नः' पांचवे का 'सिंहः प्रचोदयात्' छठे का नाम है। सो ये छः नारसिंह चक्रों के छः वलय होते है। बाह्य वलय कितने तथा क्या है ? इसका उत्तर दिया कि बाह्य वलय भी छः ही होते हैं। जो आचक्र तथा आत्मा है वह पहले का, जो सुचक्र तथा प्रियात्मा है वह दूसरे का, जो महाचक्र तथा ज्योतिरात्मा वह तीसरे का, जो सकल लोक रक्षण चक्र तथा मायात्मा है वह चौथे का, जो आचक्र तथा योगात्मा है वह पांचवें का, जो असुरान्त चक्र तथा सत्यात्मा है वह छठे का नाम है। सो ये छः नारसिंह चक्रों के छः बाह्य वलय है ।

क्वैतानि न्यस्यानि। यत्प्रथमं तद्धृदये यद्द्वितीयं तच्छिरसि यत्तृतीयं तच्छिखायां यच्चतुर्थं तत्सर्वेष्वङ्गेषु यत्पंचमं तत्सर्वेषु [!] यत् षष्ठं तत्सर्वेषु देशेषु। य एतानि नारसिंहानि चक्राण्येतेष्वङ्गेषु बिभृयात् तस्यानुष्टुप् सिध्यति। तं भगवान् नृसिंहः प्रसीदति। तस्य कैवल्यं सिध्यति। तस्य सर्वे लोकाः सिध्यन्ति। तस्य सर्वे जनाः सिध्यन्ति। तस्मादेतानि षण्णां नारसिंहचक्राण्यङ्गेषु न्यस्यानि भवन्ति । पवित्रं एतत्तस्य न्यसनम् । न्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति। कर्मण्यो भवति । ब्रह्मण्यो भवति । अन्यसनान्न नृसिंहानन्दी भवति। न कर्मण्यो भवति। तस्मादेतत्पवित्रं तस्य न्यसनम् ॥

यो वा एतं नरसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति। स सर्वत्र शुद्धो भवति। स सर्वरक्षो भवति। भूतपिशाचशाकिनीप्रेतवेताकनाशको भवति। तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयात्तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयादिति ॥

ये कहाँ रखने चाहिये इनका न्यास कहाँ करना चाहिये ? यह पूछने पर उत्तर दिया कि—जो पहला है वह हृदय में, जो दूसरा है वह शिर, में जो तीसरा है वह शिखा में, जो चौथा है वह सभी अङ्गों में, जो पांचवाँ वह सभी (१) जो छठा वह सभी देशों में धारण करने चाहिये। जो इन नारसिंह चक्रों को इन-इन अङ्गों मे धारण करता है, उसे अनुष्टुप सिद्धि हो जाती है। उसके ऊपर भगवान् नृसिंह प्रसन्न होते हैं। उसे मोक्ष प्राप्ति होती है। उसे सभी लोक सिद्ध होते है (प्राप्त होते है) सभी लोग उसे सिद्ध होते हैं (उसके वश में हो जाते हैं)। सो ये छः नारसिंह चक्रों के अङ्गों में न्यास के स्थान हैं। इनका न्यास अत्यन्त पवित्र है। इनके न्यास से मनुष्य नृसिंह को आनन्द देने वाला, कर्मण्य, ब्रह्मज्ञाता हो जाता है। इसके बिना न्यास के नृसिंह आनन्दित नहीं होते और न मनुष्य कर्मण्य ही हो सकता है, सो यह अत्यन्त पवित्र हैं इनका न्यास भी अत्यन्त पवित्र है। जो इस नारसिंह चक्र का अध्ययन करता है वह सभी वेदों का अध्ययनकर्ता समझा जाता है। वह सभी यज्ञों का कर्ता समझा जाता है अर्थात् वह सभी यज्ञ कर चुका यह माना जाता है। उसने सभी तीर्थों में स्नान भी कर लिया। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। वह सभी जगह शुद्ध हो जाता है। वह सब की रक्षा करने वाला होता है। भूत, पिशाच, शाकिनी, प्रेत तथा वेताल आदि भयावह योनियों का नाश करने वाला भी वह होता है (उसके पास ये सब फटक नहीं सकते) वह निर्भय हो जाता है। इस नारसिंह चक्र का उपदेश श्रद्धाहीन को किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिये।

॥ नृसिंहषट्चक्रोपनिषत् समाप्त ॥

———

दक्षिणामूर्त्युपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीरवटमूले महासत्राय समेता महर्षयः शौनकादयस्ते ह समित्पाणयस्तत्त्वजिज्ञासवो मार्कण्डेयं चिरजीविनमुपसमेत्य पप्रच्छुः केन त्वं चिरं जीवसि केन वाऽऽनन्दमनुभवसीति ।। १ ।।

परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानेनेति स होवाच ।। २ ।।

किं तत् परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् । तत्र को देवः । के मन्त्राः । का निष्ठा । किं तज्ज्ञानसाधनम् । कः परिकरः । को बलिः कः कालः । किं तत्स्थानमिति ।। ३ ।।

स होवाच । येन दक्षिणामुखः शिवोऽपरोक्षीकृतो भवति तत् परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् ।। ४ ।।

यः सर्वोपरमे काले सर्वानात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते वा स देवः ।। ५ ।।

ब्रह्मावर्त में महाभाण्डीर नामक वरगद् के नीचे बड़े भारी दीर्घकालीन यज्ञ करने के लिए शौनकादि महाऋषि एकत्रित हुए तथा

तत्व ज्ञान की जिज्ञासा से हाथों में समिधायें लेकर (कुशहस्त होकर) चिरञ्जीवी मार्कण्डेय के पास आकर पूछा—महाराज ! आप कैसे चिरकाल से जीवित रह रहे हो ? तथा कैसे आप अपार आनन्द का अनुभव करते रहते हो ? । २ । तब उन्होंने उत्तर दिया कि परम गुप्त जो शिव तत्व का ज्ञान है वही मेरे चिरजीवी होने में कारण हैं । २ । तब शौनकादि ऋषि बोले—वह परम गुप्त शिवतत्व ज्ञान क्या वस्तु है ? उसका आराध्य कौन देवता है ? मन्त्र कौन से हैं ? आस्था क्या है ? उस ज्ञान के साधन कौन से है ? (क्या सामग्री चाहिए) क्या बलि उसमें अपेक्षित है ? क्या काल है ? उसकी प्राप्ति का स्थान कौन-सा है ? । ३ । मार्कण्डेय बोले—जिससे दक्षिणा मुख नामक शिव दृष्टिगोचर होते है वही परम गुप्त शिवतत्व ज्ञान है । ।४। जो सकल विश्व की समाप्ति के समय सारे चराचर को अपने अन्दर लीन करके अपने आप आत्मानन्द के सुख में प्रसन्न रहते है (अर्थात् आत्माराम हो जाते है) तथा स्वयं प्रकाशित होते हैं वही इस तत्वज्ञान के देव हैं । ५ ।

अत्रैते मन्त्ररहस्यश्लोका भवन्ति अस्य श्रीमेधादक्षिणामूर्तिमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । देवता दक्षिणाऽऽस्यः । मन्त्रेणाङ्गन्यासः ॥ ६ ॥

ॐ आदौ नम उच्चार्य ततो भगवते पदम् ।
दक्षिणेति पदं पश्चान्मूर्तये पदमुद्धरेत् ॥ ७ ॥
अस्मच्छब्दं चतुर्थ्यन्तं मेधां प्रज्ञां पदं वदेत् ।
समुच्चार्य ततो वायुबीजं च्छं च ततः पठेत् ॥
अग्निजायां ततस्त्वेष चतुर्विंशाक्षरो मनुः ॥ ७ ॥
ध्यानम् स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे ।

दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विघृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥ ८ ॥

मन्त्रेण न्यासः—

आदौ वेदादिमुच्चार्य स्वराद्यं सविसर्गकम् ।
पञ्चार्णं तत उद्धृत्य अतरं सविसर्गकम् ।
अन्ते समुद्धरेत्तारं मनुरेष नवाक्षरः ॥ ९ ॥

मुद्रां भद्रार्थदात्रीं सपरशुहरिणं बाहुभिर्बाहुमेकं
जान्वासक्तं दधानो भुजग बिलसमाबद्धकक्ष्यो वटाधः ।
आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटितजटाक्षीरगौरस्त्रिनेत्रो
दद्यादाद्यः शुकाद्यैर्मुनिभिरभिवृतो भावशुद्धिं भवो नः। १०।

इस विषय में मन्त्रों के रहस्य को प्रकट करने वाले श्लोक इस प्रकार है—इस मेधादक्षिणामूर्ति मन्त्र का ऋषि ब्रह्मा है, छन्द गायत्री है, तथा देवता दक्षिणामुख है । ६ । (मन्त्र के द्वारा अङ्गन्यास)
(नीचे दिये गये श्लोकों से मन्त्र निकलता है)

प्रारम्भ में 'ॐ नमः' उच्चारण करके तब 'भगवते' इस पद को पुनः 'दक्षिणा' यह शब्द फिर 'मूर्तये' यह पद तत्पश्चाद अस्मद् शब्द का चतुर्थी का एक वचन अर्थात् 'मह्यं' पद एवं 'मेधां' 'प्रज्ञां' इन पदों का उच्चारण करना चाहिए । 'प्र' उच्चारण कर तब वायु का बीज मन्त्र 'य' और उसके बाद 'च्छ' शब्द को पढ़े उसके बाद अग्नि देव की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' बोले यही चौबीस अक्षर वाला मनु मन्त्र है ।

भावार्थ यह हुआ कि 'ॐ' नमो भगवते दक्षिण मूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा' यह मन्त्र पढ़ना चाहिये । ७ । (ध्यान) मै ऐसी दक्षिणामूर्ति की स्तुति करता हूँ जो कि स्फटिक मणि तथा चाँदी के समान गोरे वर्ण वाली है तथा जिसके हाथ में ज्ञान की मुद्रा स्वरूप

तथा अमृततत्वदात्री विद्या स्वरूपिणी मोतियों की माला है। एवं जिसके शरीर पर साँप घूम रहे है और जिसके सिर पर चन्द्रमा है तथा जिसकी तीन आँखे है तथा जो अनेकों वेषों की धारणा किये हुए है।८।

मन्त्र द्वारा न्यासः—

प्रारम्भ में विसर्ग सहित स्वरों के आदि अक्षर को एवं वेद के आदि अक्षर को अर्थात् 'ॐ' (अः उ म्) (ओ अः म्) को पुनः पंचार्ण अर्थात् 'दक्षिणामूर्तिः' शब्द को तत्पश्चाद् विसर्ग सहित अतर शब्द को अर्थात् 'अतरः' को और अन्त में तार अर्थात् 'ॐ' का उच्चारण करे यह नवाक्षर मनु कहलाता है।।९। (ध्यान) ऐसे आद्य भगवान् शङ्कर हमें भावबुद्धि प्रदान करें जो कि शुकदेव आदि मुनियों से घिरे रहते हैं तथा जिनका एक हाथ कल्याणमय अभयदान की मुद्रा में है तथा अन्य दो हाथों में जिन्होंने फरसा तथा (हिरण) हरिण धारण कर रखा है। एवं जिनका एक हाथ जाँघ पर रखा है तथा जो वरगद के नीचे बैठे हैं जिनके शरीर पर बड़े २ साँप घूम रहे है। साथ ही दूज के चाँद से जिनकी जटा सुशोभित है एवं जो कि दूध के समान गोरे रङ्ग के है तथा जिनकी तीन आँखें है। १०।

मन्त्रेण न्यासः—

तारं ब्लूं नम उच्चार्य मायां वाग्भवमेव च।
दक्षिणापदमुच्चार्य यतः स्यान्मूर्तये पदम् ॥ ११ ॥

ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्वह्निजायां ततो न्यसेत्।
मनुरष्टादशार्णोऽयं सर्वमन्त्रेषु गोपितः ॥ १२ ॥

भस्मव्यापाण्डुराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला-
वीणापुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योपट्टाभिरामः।
व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः

सव्याल: कृत्तिवासा: सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीश:।१३।

मन्त्रेण न्यास:—

तारं परां रमाबीजं वदेत् साम्बशिवाय च ।
तुभ्यं चानलजायां तु मनुर्द्वादशवर्णक: ।। १४ ।।

वीणां करै: पुस्तकमक्षमालां बिभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम्।
फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभि: शुकाद्यै: सेव्यं वटाध: कृत-
नीडमीडे ।। १५ ।।

मन्त्र द्वारा न्यास:—

प्रथम तारं अर्थात् 'ॐ' 'ब्लूं नम:' उच्चारण करके माया अर्थात् ह्रीं वाग्भव अर्थात् ऐं तथा दक्षिणा पद को कहकर पुन. 'मूर्तये' तथा 'ज्ञानंदेहि' और अन्त में 'अग्नि की स्त्री' अर्थात् 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करें अर्थात् 'ॐ' ब्लूं नमो ह्रीं ऐं दक्षिणा मूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा' इस अठ्ठारह अक्षर वाले मनु मन्त्र का उच्चारण करे। यह सब मन्त्रो में अत्यन्त गोपनीय है । ११-१२ ।(ध्यान) भस्म से जिनका सारा शरीर सफेद हो रहा है तथा जो कि चन्द्रमा के टुकड़े को धारण किये है एव जो करकमल ज्ञानमुद्रा (अभयदान की मुद्रा) रुद्राक्ष माला, वीणा एवं पुस्तक को धारण किये है तथा जो कि योगियों के पास रहने वाले पट्ट से (लकड़ी का बना हुआ भुजा टेकने का) सुशोभित हैं। एवं जो कि व्यास पीठपर विराजमान है तथा श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनिजन जिनकी सेवा सुश्रूषा में लगे है और जो प्रसन्न मुख सर्पो से शोभित तथा व्याघ्र चर्म को धारण किये है ऐसे दक्षिणामूर्ति भगवान् हमारी निरन्तर रक्षा करें।। १३। (मन्त्र द्वारा न्यास)—प्रथम ॐ, ह्री, श्रीं, कहे पुन: 'साम्ब शिवाय' पुन: 'तुभ्यं' अन्त में स्वाहा—यह बारह अक्षर वाला मनु-मन्त्र है । १४ । ध्यान:—जिन्होंने हाथों में वीणा, पुस्तक तथा रुद्राक्ष माला धारण कर रखी है एवं (एक हाथ अभयदान की मुद्रा में हमेशा

ही रहता है) तथा जिनके गले की शोभा काले घने बादल के समान है। और जो श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ है सर्प जिनके शरीर पर लपलपा रहे है एव जो शुकदेव आदि मुनियों द्वारा सेवित किये जा रहे है और जो कि वरगद के नीचे (वास किये) विराजमान है ऐसे भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ। १५।

विष्णु ऋषिरनुष्टुप् छन्दः। देवता दक्षिणाऽऽस्यः। मन्त्रेणन्यासः।

तारं नमो भगवते तुभ्यं वटपद ततः।
मूलेति पदमुच्चार्य वासिने पद मुद्धरेत्॥ १६॥

वागीशाय पद पश्चान्महाज्ञानपदं ततः।
दायिने पदमुच्चार्य मायिने नम उद्धरेत्॥ १७॥

आनुष्टुभो मन्त्र राजः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः॥ १८॥

मुद्रापुस्तकवह्निनागविलसद्बाहुं प्रसन्नाननं
मुक्ताहारविभूषण शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम्।
अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थ भवानीपतिं
न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये।१९।

इसका ऋषि विष्णु, छन्द अनुष्टुप, देवता दक्षिणामुख है। मन्त्र द्वारा न्यासः—(मन्त्रः—)

प्रथम 'ॐ नमो भगवते तुभ्यं' पुन 'वट' शब्द तब 'मूल' शब्द फिर वासिने शब्द कहकर 'वागीशाय' पुनः 'महाज्ञान' एवं 'दायिने' और 'मायिने' का उच्चारण कर अन्त में 'नमः शब्द का उच्चारण करे। अर्थात् 'ॐ नमो भगवते तुभ्यं, वट मूल वासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः' यह आनुष्टुभ मन्त्रराज है जो कि सभी श्रेष्ठ मन्त्रों में उत्तम है। १६-१७-१८। (ध्यानः)—अभय ज्ञान मुद्रा, पुस्तक तथा भयानक सर्पो से जिनके हाथ सुशोभित हैं और जो कि प्रसन्नमुख हैं।

मोतियों के हार जिनकी शोभा बढ़ा रहे है और चन्द्रमा की कला से चमकने वाले मुकुट से जो अधिक शोभायमान लग रहे हैं। साथ ही जो अज्ञान को नाश करने वाले है और जो कि आदि पुरुष है और वाणी के जो विषय नहीं है (यत्र वाचो निवर्तको) ऐसे पार्वती के पति जो कि सब के गुरु है और वरगद के पेड़ के नीचे रहने वाले है, उनका मैं अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए ध्यान करता हूँ। १६।

सोऽहमिति यावदास्थितिः सा निष्ठा भवति ॥ २० ।
तदभेदेन मन्त्राम्रेडन ज्ञानसाधनम् ॥ २१ ॥
चित्ते तदेकतानता परिकरः ॥ २२ ॥
अङ्गचेष्टार्पणं बलिः ॥ २३ ॥
त्रीणि धामानि कालः ॥ २४ ॥
द्वादशान्तपदं स्थानमिति ॥ २५ ॥

शरीर के नष्ट होने तक 'सोऽह' मै वही परब्रह्म हूँ, यही ब्रह्म-निष्ठा है । २० । उस परब्रह्म से अभिन्न मानकर पूर्व कहे गये मनुमंत्रों का बार-बार निरन्तर उच्चारण ही ज्ञान का साधन है । २१ । चित्त मे उस परमतत्त्व में एकता लगाकर ध्यान करना ही परिकर'उपकरण' सामग्री है । २२ । अङ्गों की चेष्टाओं का अर्पण ही बलि है अर्थात् हाथ पांव आदि चलाना (भगवत्कार्य में) ही उसकी पूजा है । २३ । स्वअविद्यापद, स्थूल तथा सूक्ष्म बीजरूप तीन धाम ही काल है । २४ । द्वादशान्त पद अर्थाद् हृदय किंवा सहस्रार (सहस्रदलकमल) ही परमात्मा की प्राप्ति का स्थान होने के कारण स्थान है । २५ ।

ते ह पुनः श्रद्दधानास्तं प्रत्यूचुः—कथं वाऽस्योदयः । किं स्वरूपम् । को वाऽस्योपासक इति ॥ २६ ॥

स होवाच—

वैराग्यतैलसंपूर्णे भक्तिवर्तिसमन्विते ।
प्रबोधपूर्णपात्रे तु ज्ञप्तिदीपं विलोकयेत् ॥ २७ ॥

मोहान्धकारे निःसारे उदेति स्वयमेव हि ।
वैराग्यमरणिं कृत्वा ज्ञानं कृत्वा तु चित्रगुम् ॥ २८ ॥

गाढतामिस्रसंशान्त्यै गूढमर्थं निवेदयेत् ।
मोहभानुजसंक्रान्तं विवेकाख्यं मृकण्डुजम् ॥ २९ ॥

तत्त्वाविचारपाशेन बद्धं द्वैतभयातुरम् ।
उज्जीवयन्निजानन्दे स्वस्वरूपेण संस्थितः ॥ ३० ॥

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम् ।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः ॥ ३१ ॥

सर्गादिकाले भगवान् विरञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य । तुतोष चित्ते वांछितार्थांश्च लब्ध्वा सोऽस्योपासको भवति धाता ।३२।

य इमां परमरहस्यशिवतत्त्वविद्यामधीते स सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति । य एवं वेद स कैवल्यमनुभवतीत्युपनिषत् ॥ ३३ ॥

श्रद्धा से युक्त उन ऋषियोंने पुनः मार्कण्डेय से पूछा—इसका उदय कैसे होता है ? क्या इसका स्वरूप है ? और कौन इसका उपासक है ? । २६ । (वह बोले) वैराग्यरूपी तेल से लबालब भरे हुए भक्ति रूपी बत्ती से युक्त प्रबोध के (ज्ञान के) पूर्ण पात्र में (वर्तन में) ज्ञप्ति रूपी (अपने अन्दर तथा चराचर में व्याप्त ईश्वर को अपनी आत्मा मानना रूपी) दीप का दर्शन होता है । २७ । 'अर्थात् वैराग्य भक्ति तथा ज्ञान से ही ईश्वर दर्शन होता है) सारहीन अपनी अज्ञता से कल्पित महान् अज्ञान रूपी अंधकार में वह दीप स्वयं ही उदित होता है । वैराग्य

को अरणी बनाकर तथा अपने ज्ञान को ही मथने का डण्डा बनाकर गहन अज्ञान रूपी घने अन्धकार की समाप्ति के लिए गुप्त अर्थ को (परम तत्व को) जानना चाहिये। (अर्थात् निरन्तर वैराग्य तथा ज्ञान के परिशीलन से ही उस परम तत्त्व का दर्शन सम्भव है) तथा परमतत्व का विचार न करना रूपी जो पाश उससे बधे हुए, द्वैतवाद के भय से व्याकुल एवं मोहरूपी शनि या मृत्यु के मुख में पड़े हुए विवेकरूपी मृकण्डु के पुत्र (मार्कण्डेय) को (अपने ज्ञान से) पुनः उज्ज्वीवित करते हुए आत्माराम रूपी परमानन्द में अपने स्वरूप से स्थित हो जाता है। । २८-२९-३०। तथा तत्व ज्ञानरूपिणी ब्रह्म प्रकाशिका बुद्धि ही जिसमें दक्षिणा है और वही जिस परम तत्व के अभीक्षण में अर्थात् साक्षात्कार में मुख अर्थात् द्वार है वह ब्रह्मवादियों द्वारा दक्षिणामुख नामक शिव कहे गये हैं। ३१। (सृष्टि) संसार की रचना के प्रारम्भ में भगवान् ब्रह्मा इनकी उपासना करके सृष्टि निर्माण की शक्ति को पाकर तथा अपने मनोरथ का लाभ करके हृदय में प्रसन्न हुए अतः वही इनके उपासक है। ३२। जो इस अत्यन्त गुप्त शिवतत्त्व विद्या को पढ़ता है वह सभी पापों से मुक्त होता है, और जो इसको भली भाँति ,जानता है इसका मनन करता है वह कैवल्यपद का (मोक्ष का) अनुभव करता है। ३३।

।। दक्षिणामूर्त्युपनिषत् समाप्त ।

शरभोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो बृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा.। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शातिपाठ—हे पूज्य देवो! हम कानों से कल्याण सुने, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गो तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओ ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करे और बृहस्पति हमारा कल्याण करे। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अथ हैन पैप्पलादो ब्रह्माणमुवाच भो भगवन्ब्रह्मविष्णु-रुद्राणां मध्ये का वा अधिकतरो ध्येयः स्यात्तत्त्वमेव नो ब्रूहीति। तस्मै स होवाच पितामहश्च हे पैप्पलाद शृणु वाक्यमेतत्। बहूनि पुण्यानि कृतानि येन तेनैव लभ्यः परमेश्वरोऽसौ। यस्याङ्गजोऽहं हरिरिन्द्रमुख्याः मोहान्न जानन्ति सुरेन्द्रमुख्याः॥ १॥ प्रभुं वरेण्यं पितरं महेशं यो ब्रह्माणं विदधाति तस्मै। वेदांश्च सर्वान्प्रहिणोति चाग्र्यं तं वै प्रभुं पितरं देवतानाम्॥ २॥ ममापि विष्णोर्जनकं देवमीड्यं योऽन्तकाले सर्वलोकान्संजहार॥ ३॥ स एकः श्रेष्ठश्च सर्वशास्ता स एव वरिष्ठश्च। यो घोरं वेषमास्थाय शरभाख्यं महेश्वरः। नृसिंहं लोकहन्तारं संजघान महा--

बल: ॥ ४ ॥ हरि हरन्त पादाभ्यामनुयान्ति सुरेश्वराः । मावधीः पुरुषं विष्णुं विक्रमस्व महानसि ॥ ५ ॥ कृपया भगवान्विष्णुं विददार नखैः खरैः । चर्माम्बरो महावीरो वीरभद्रो वभूव ह ॥ ६ ॥

एक समय पैप्पलादि ऋषि ने ब्रह्मा जी से कहा—"हे भगवन् ! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र इन तीनों मे से अधिकतर ध्यान के योग्य कौन है, यह आप ही बतलाइये ? ॥ १ ॥ पितामह ब्रह्मा ने कहा—"हे पैप्पलाद ! मेरे कथन को सुनो कि जिस परमेश्वर के अंग से मैं उत्पन्न हुआ हूँ वह किसी बहुत पुण्यशाली को ही प्राप्त होता है, मुख्य विष्णु, इन्द्र और सुरेन्द्र भी मोहवश नहीं जान पाते ॥ १ ॥ वह सबका प्रभु है, श्रेष्ठ है, पिता है, महेश्वर है, वही ब्रह्मा को धारण करता है, वही वेदों का पहले निर्णय करता है वही सबका प्रभु और देवताओं का पिता है ॥२॥ वह मेरा और विष्णु का भी पिता है, उसको नमस्कार है, वही अन्तकाल में समस्त विश्व का संहार करता है ॥ ३ ॥ वही एक मात्र सबसे श्रेष्ठ, सबका नियायक और वरिष्ट है । उसी महाबलशाली ने शरभ का घोर रूप धारण करके नृसिंह को मार दिया ॥ ४ ॥ जब रुद्र विष्णु को पैर पकड़कर ले जा रहे थे तब सब देवताओं ने उनके पीछे-पीछे जाकर उनकी प्रार्थना की "दया करके पुरुषोत्तम विष्णु का बध मत कीजिए, आप महान है, आपकी जय हो ।" तब रुद्र ने तीक्ष्ण नखों से विष्णु को विदीर्ण किया और वे चर्माम्बर वाले रुद्र महावीर और वीरभद्र के नाम से कहे जाने लगे ॥ ५–६ ॥

स एको रुद्रो ध्येयः सर्वेषां सर्वसिद्धये । यो ब्रह्माणः पंचमवक्त्रहन्ता तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ७ ॥ यो विस्फुलिङ्गेन ललाटजेन सर्वं जगद्भस्मसात्संकरोति । पुनश्च सृष्ट्वा पुनरप्यरक्षदेवं स्वतन्त्रं प्रकटीकरोति ॥ तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ८ ॥ यो वामपादेन जघान कालं घोरं पपेऽयो हालहलं दहन्तम् ।

तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ९ ॥ यो वामपादार्चितविष्णुनेत्रस्तस्मै ददौ चक्रमतीव हृष्टः । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १० ॥

ऐसा एक रुद्र ही सब सिद्धियों का दाता और सबका पूजनीय है। जिसने ब्रह्मा का पाँचवा मुख नष्ट कर दिया उसको नमस्कार ॥७॥ जो अपने मस्तक के अग्नि द्वारा समस्त जगत को भस्म कर देता है और फिर से उत्पन्न करके उसका पालन भी करता है, उस रुद्र को नमस्कार है ॥ ८ ॥ जिसने काल को अपने बाँये पैर से मार दिया और जलते हुये हलाहल विष को पी लिया, उस रुद्र को नमस्कार है ॥ ९ ॥ विष्णु ने जिसके बाँये पैर पर अपनी आँख निकाल कर चढ़ाई और इससे संतुष्ट होकर जिसने चक्र दे दिया, उस रुद्र को नमस्कार है ॥१०॥

यो दक्षयज्ञे सुरसङ्घान्विजित्य विष्णुं बबन्धोरगपाशेन वीरः । तस्म रुद्राय नमो अस्तु ॥ ११ ॥ यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह विष्णुं कविं सोमसूर्याग्निनेत्रः । सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात्पशुपतिर्बभूव । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १२ ॥ यो मत्स्यकूर्मादिवराहसिंहान्विष्णुं अवतार क्रमन्तं वामनमादिविष्णुम् । विविक्लव पीड्यमानं सुरेशं भस्मीचकार मन्मथं यमं च । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १३ ॥ एवंप्रकारेण बहुधा प्रतुष्ट्वा क्षमापयामासुर्नीलकण्ठं महेश्वरम् । तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्युजरादिभिः । नानाविधानि दुःखानि जहार परमेश्वरः ॥ १४ ॥ एवं मन्त्रैः प्रार्थ्यमान आत्मा वै सर्वदेहिनाम् । शङ्करो भगवानाद्यो ररक्ष सकलाः प्रजाः ॥ १५ ॥

दक्ष के यज्ञ में सब देवताओं को पराजित कर जिसने विष्णु को भी नागपाश में बाँध लिया उस महावीर रुद्र को नमस्कार है ॥ ११ ॥ जिसने लीलामात्र से त्रिपुर को दग्ध कर दिया, जिसके सूर्य, चन्द्र और अग्नि तीन नेत्र हैं, सब देवता जिसके सम्मुख पशुता (आधीनता) को प्राप्त हो गये और इससे जो पशुपति कहलाया, उस रुद्र को नमस्कार

है ।। १२ ।। जो मत्स्य, कूर्म, बाराह, नृसिंह, वामन आदि विष्णु के अवतारों को भी श्रमित करता है, जिसने कामदेव और यम को भस्म कर दिया, उस रुद्र को नमस्कार है ।। १३ ।। देवों ने इस प्रकार विविध भाँति से स्तुति करके नीलकण्ठ महेश्वर से क्षमा प्रार्थना की, तब उस परमेश्वर ने तीनों प्रकार के तापों और जन्म, मृत्यु, जरा आदि और अन्य तरह-तरह के दुखों का नाश किया ।। १४ ।। इस प्रकार विविध प्रकार के मंत्रों से प्रार्थना किये जाने पर उस आदि भगवान् शंकर ने आत्म रूप से सब प्रजा की रक्षा की ।। १५ ।।

यत्पादाम्भोरुहद्वन्द्वं मृग्यते विष्णुना सह । स्तुत्वा स्तुत्यं महेशानमवाङ्मनसगोचरम् ।। १६ ।। भक्त्या नम्रनतोर्विष्णोः प्रसादमकरोद्विभुः । यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कदाचनेति ।। १७ ।। अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।। १८ ।। वसिष्ठवैयासकिवामदेवविरिञ्चिमुख्यैर्हृदि भाव्यमानः । सनत्सुजातादिसनातनाद्यैरीड्यो महेशो भगवानादिदेवः ।। १९ ।। सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी महेशो नित्यानन्दो निर्विकल्पो निराख्यः । अचिन्त्यशक्तिर्भगवान्गिरीशः स्वाविद्यया कल्पितमानभूमिः ।। २० ।।

वाणी और मन से भी जो अगोचर हैं और सब प्रकार की स्तुतियों के योग्य हैं, विष्णु जिनके चरण कमलों को प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं, ऐसे भगवान् महेश्वर भक्तिपूर्वक नमस्कार करने वाले विष्णु पर प्रसन्न हुये । जिसको प्राप्त न करके वाणी मन के साथ लौट जाती है, उस ब्रह्मानन्द का ज्ञाता कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता ।। १६—१७ ।। यह आत्मा छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा है और सब प्राणियों के भीतर हृदय रूपी गुफा में निवास करता है । उस

द्रष्टा रूप महान ईश्वर को शोक से रहित व्यक्ति भगवान् के प्रसाद से ही देखता है ॥ १८ ॥ वसिष्ठ, शुकदेव और वामदेव जैसे ऋषि तथा ब्रह्मादि सब देवता भी जिसका सदैव ध्यान करते है और और सनत, सनातन आदि जिनकी स्तुति करते रहते है, ऐसे आदि भगवान महेश्वर देव है ॥ १९ ॥ वे महेश्वर, सत्य, नित्य, सर्वसाक्षी, नित्यआनन्द रूप, निर्विकल्प और कथन न कर सकने योग्य है। उनकी शक्ति की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, अज्ञानवश ही हम उनके स्थान आदि की कल्पना करते रहते है ॥ २० ॥

अतिमोहकरी माया मम विष्णोश्च सुव्रत । तस्य पादाम्बुजध्यानाद्दुस्तरा सुतरा भवेत् ॥ २१ ॥ विष्णुर्विश्वजगद्योनिः स्वांशभूतैः स्वकैः सह । ममांशसंभयो भूत्वा पालयत्यखिलं जगत् ॥ २२ ॥ विनाशं कालतो याति ततोऽन्यत्सकल मृषा । ॐ तस्मै महाग्रासाय महादेवाय शूलिने । महेश्वराय मृडाय तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ २३ ॥ एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः । त्रीँल्लोकान्व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥ २४ ॥ चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च । हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥ २५ ॥

हे सुव्रत ! मेरे (ब्रह्मा) और विष्णु के लिये भी उसकी माया अत्यन्त मोहग्रस्त करने वाली है। यद्यपि उसे पार कर सकना अत्यन्त कठिन है तो भी उनके चरण कमलो का ध्यान करने से उसे सुगमता पूर्वक पार किया जा सकता है ॥ २१ ॥ समस्त सृष्टि के उत्पन्न करने वाले विष्णु है, वे अपने अंश रूप जीवो के साथ मेरे ही अश से होते हैं और विश्व का पालन करते है ॥ २२ ॥ कालक्रम से सब कुछ नष्ट हो जाता है और इसलिये वह मिथ्या है। इससे सबका महाग्रास करने वाले उस शूलधारी, महादेव, महेश्वर और कृपा करने वाले रुद्र को नमस्कार है ॥ २३ ॥ सब प्रकार की सृष्टि में विष्णु सबसे भिन्न और महान् हैं।

वे यद्यपि सब भूतों में व्याप्त होकर सब प्रकार के भोगों को भोगते हैं फिर भी अव्यय रहते है ॥ २४ ॥ जिन विष्णु भगवान् को चार, चार दो और पाँच आहुतियाँ दी जाती है, वे विष्णु मुझ पर प्रसन्न हों ।२५।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २६ ॥ शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति नित्यं हरिः स्वयम् । ब्रह्मैव शरभः साक्षान्मोक्षदोऽयं महामुने ॥२७॥ मायावशादेव देवा मोहिता ममतादिभिः । तस्य माहात्म्यलेशांशं वक्तुं केनाप्यशक्यते ॥ २८ ॥ परात्परतरं ब्रह्म यत्परात्परतो हरिः । परात्परतरो हीशस्तस्मात्तुल्योऽधिको न हि ॥ २९ ॥ एक एव शिवो नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा । तस्मात्सर्वान्परित्यज्य ध्येयान्विष्ण्वादिकान्सुरान् ॥ ३० ॥ शिव एव सदा ध्येयः सर्वसंसारमोचकः । तस्मै महाग्रासाय महेश्वराय नमः ॥ ३१ ॥

अर्पण हवि ब्रह्म है, उसे ब्रह्म रूप कर्ता द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में हवन किया जाता है, यह भी ब्रह्म ही है। इसलिये समाधिस्थ योगी के लिये ब्रह्म ही प्राप्त करने योग्य है ॥ २६ ॥ जीव ही 'शर' है जिसके अंग में स्वयम् भगवान नित्य प्रकाशित होते है। इस प्रकार ब्रह्म ही 'शरभ' है, जो साक्षात् मोक्ष के प्रदान करने वाले है ॥ २७ ॥ जिसकी माया से देवगण भी मोहित रहते है, उसकी महिमा एक अल्प अंश भी कोई नही कह सकता ॥ २८ ॥ पर से परब्रह्म है, उससे पर विष्णु है, उससे भी पर ईश है। उनसे बड़ा या उनके बराबर कोई भी नहीं है ॥ २९ ॥ एक मात्र शिव ही नित्य है और अन्य सब मिथ्या हैं, इस लिये विष्णु आदि समस्त देवों का त्याग कर संसार-बन्धन से छुड़ाने वाले एक मात्र उनका ही ध्यान करना चाहिये। सबका संहार करने वाले उस महेश को नमस्कार है ॥ ३०–३१ ॥

पैप्पलादं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित् । नास्तिकाय

कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥ ३२ ॥ दाम्भिकाय नृशंसाय शठायानृतभाषिणे । सुव्रताय सुभक्ताय सुवृत्ताय सुशीलिने ॥ ३३॥ गुरुभक्ताय दान्ताय शान्ताय ऋजुचेतसे । शिवभक्ताय दातव्यं ब्रह्मकर्मोक्तधीमते ॥ ३४ ॥ स्वभक्तायैव दातव्यमकृतघ्नाय सुव्रत । न दातव्यं सदा गोप्यं यत्नेनैव द्विजोत्तम ॥ ३५ ॥ एतत्पैप्पलादं महाशास्त्रं योऽधीते श्रावयेद्द्विजः स जन्ममरणेभ्यो मुक्तो भवति। यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । गर्भवासाद्वि-मुक्तो भवति। सुरापानात्पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। ब्रह्महत्यात्पूतो भवति । गुरुतल्पगमनात्पूतो भवति । स सर्वान्वे-दानधीतो भवति । स सर्वान्देवान्ध्यातो भवति । स समस्तमहा-पातकोपपातकात्पूतो भवति । तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति । स सततं शिवप्रियो भवति। स शिव सायुज्यमेति । न स पुनरा-वर्तते न स पुनरावर्तते । इत्याह भगवान ब्रह्मोत्युपनिषत् ।

इस पैप्पलाद ऋषि को प्राप्त हुये महाशास्त्र को चाहे जिस किसी को न देना चाहिये । नास्तिक, कृतघ्न, दुर्वृत्त, दुरात्मा, दाम्भिक, नृशंस, शठ, असत्य भाषी को इसे कदापि न दे। जो सुव्रतधारी, सच्चाभक्त, शुद्धवृत्तिवाला, सुशील, गुरुभक्त, शम दम वाला, धर्म बुद्धिवाला, शिवभक्त ब्रह्म कर्म में चित्त लगाने वाला हो और अपने में भक्ति रखता हो, कृतघ्न न हो उसी को इसे देना चाहिये । यदि ऐसा न मिले तो किसी को न देकर इसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३२–३५ ॥ पैप्पलाद के इस महा शास्त्र को जो स्वयं पढ़ता है तथा अन्य ब्राह्मणों को सुनाता है, वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है । जो इसे जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है, गर्भवास से छुटकारा पा जाता है। सुरापान, स्वर्ण की चोरी, ब्रह्म हत्या, गुरुस्त्री गमन जैसे महा पापों से भी वह छूट जाता है। वह सब वेदों का अध्ययन करने वाला हो जाता है। उसे सब देवों के ध्यान

करने का फल मिल जाता है। वह समस्त महापातक और उपपातकों से छुटकारा पाकर पवित्र हो जाता है। इस प्रकार मुक्त होकर शिवजी का प्रिय होता है और शिव सायुज्य को प्राप्त करता है। उसका पुनरागमन नहीं होता—उसका पुनरागमन नहीं होता। वह ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मा जी ने कहा, ऐसा यह उपनिषद् है ॥ ३६ ॥

॥ शरभोपनिषद् समाप्त ॥

———

रुद्रोपनिषत्

विश्वमयो ब्राह्मणः शिवं व्रजति । ब्राह्मणः पञ्चाक्षरमनुभवति । ब्राह्मणः शिवपूजारतः । शिवभक्तिविहीनश्चेत् स चण्डाल उपचाण्डालः । चतुर्वेदज्ञोऽपि शिवभक्त्यान्तर्भवतीति स एव ब्राह्मणः । अधमश्चाण्डालोऽपि शिवभक्तोऽपि ब्राह्मणाच्छ्रेष्ठतरः । ब्राह्मणस्त्रिपुण्ड्रधृतः । अत एव ब्राह्मणः । शिवभक्तेरेव ब्राह्मणः । शिवलिङ्गार्चनयुतश्चाण्डालोऽपि स एव ब्राह्मणाधिको वर्ति । अग्निहोत्रभसिताच्छिवभक्तचाण्डालहस्तविभूतिः शुद्धा । कपिशा वा श्वेतजापि धूम्रवर्णा वा । विरक्तानां तपस्विनां शुद्धा । गृहस्थानां निर्मलविभूतिः । तपस्विभिः सर्वभस्म धार्यम् । यद्वा शिवभक्तिसंपुष्टं सदापि तद्भसितं देवताधार्यम् ।

विश्वमय ब्राह्मण शिव के पास जाता है। वह पञ्चाक्षर का अनुभव करता है (नमः शिवाय का)। ब्राह्मण वही है जो शिव की पूजा में लगा रहे। यदि वह शिवभक्ति से रहित होगा तो वह चाण्डाल अथवा उपचाण्डाल समझा जायेगा। चारों वेदों का ज्ञाता शिवभक्ति से अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वाला हो जाता है तथा वही वस्तुतः ब्राह्मण है। नीच चाण्डाल भी शिवभक्ति से युक्त होने पर ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण त्रिपुण्ड्र (तीन रेखा वाला तिलक) धारण करने वाला होना चाहिये। इसमे उसका ब्राह्मणपना है, शिव भक्ति से ही वह ब्राह्मण कहलायेगा। शिवलिङ्ग की पूजा करने वाला चाण्डाल भी ब्राह्मण से अधिक श्रेष्ठ है। यज्ञ की भस्म से भी शिवभक्त चाण्डाल के हाथ की भस्म (राख) शुद्ध होती है। ये भस्म कुछ ताम्रवर्ण, सफेद, अथवा

मटमैली धुएँ के रङ्ग के समान तीन तरह होती है। विरक्त तपस्वियों के लिए शुद्ध ग्रहस्थियों के लिये स्वच्छ भस्म ठीक हुआ करती है। तपस्वियो को सभी भस्म करनी चाहिये। अथवा शिव भक्ति से युक्त (जिस भस्म में शिव भक्ति का ज्ञान) (भावना) कर लिया जाय उसे धारण करना चाहिये वही देवताओं द्वारा भी धारण करने योग्य है ।

ॐ अग्निरिति भस्म। वायुरिति भस्म। स्थलमिति भस्म। जलमिति भस्म। व्योमेति भस्म। इत्याद्युपनिषत्कारणात् तत् कार्यम्। अन्यत्र "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः।" तस्मात्प्राणलिङ्गी शिवः। शिव एव प्राणलिङ्गी। जटाभस्मधारोऽपि प्राणलिङ्गी हि श्रेष्ठः। प्राणलिङ्गी शिवरूपः। शिवरूपः प्राणलिङ्गी। जङ्गमरूपः शिवः। शिव एव जङ्गमरूपः। प्राणलिङ्गिनां शुद्धसिद्धिर्न भवति। प्राणलिङ्गिनां जङ्गमपूज्यानां पूज्यतपस्विनामधिकश्चण्डालोऽपि प्राणलिङ्गी। तस्मात्प्राणलिङ्गी विशेष इत्याह। य एवं वेद स शिवः। रुद्र एव रुद्रः प्राणलिङ्गी नान्यो भवति ।

अग्नि, वायु, जल, स्थल, आकाश सभी भस्ममय है ऐसा समझ कर इसे धारण करना चाहिये। वह ईश्वर अन्यत्र 'चारों तरफ आंख वाला, चारों तरफ मुँह वाला, चारो ओर हाथ वाला, चारों ओर पैर वाला' बतलाया गया है। वह एकमात्र देव पृथ्वी आकाश को हाथों द्वारा उत्पन्न करता है। वह सभी द्वारा प्रणाम करने योग्य है। सभी (जल, थल, आकाशचारी) उसे प्रणाम करते है। अतः प्राणलिङ्गी ही शिव है। शिव ही प्राणलिङ्गी है। जटा तथा भस्म को धारण करने वाला प्राणलिङ्गी श्रेष्ठ है। प्राणलिङ्गी शिवरूप तथा शिव रूप प्राणलिङ्गी है। जङ्गम रूप शिव तथा शिव ही जङ्गमरूप है। प्राण

लिङ्गियों की शुद्ध सिद्धि नहीं हुआ करती। प्राणलिङ्गियों में जङ्गम श्रेष्ठों मे पूज्य तपस्वियों में शिवभक्त चाण्डाल श्रेष्ठ प्राणलिङ्गी है। इसलिये प्राणलिङ्गी श्रेष्ठ कहा जाता है जो इस तथ्य को जानता है वह शिव ही है, शिव ही जो रुद्र है प्राणलिङ्गी है दूसरा कोई नही।

ॐ आत्मा परशिवद्वयो गुरुः शिवः। गुरूणां सर्वविश्वमिदं विश्वमन्त्रेण धार्यम्। दैवाधीन जगदिदम्। तद्दैवं तन्मन्त्रात् तनुते। तन्मे दैवं गुरुरिति। गुरूणां सर्वज्ञानिनां गुरुणा दत्तमेतदन्नं परब्रह्म। ब्रह्म स्वानुभूतिः। गुरुः शिवो देवः। गुरुः शिव एव लिङ्गम्। उभयोर्मिश्रप्रकाशत्वात्। प्राणवत्त्वात् महेश्वरत्वाच्च शिवस्तदेव गुरुः। यत्र गुरुस्तत्र शिवः। शिवगुरुस्वरूपो महेश्वरः। भ्रमरकीटकार्येण दीक्षिताः शिवयोगिनः शिवपूजार्थे गुरुपूजाविधौ च महेश्वरपूजनान्मुक्ताः। लिङ्गाभिषेकं निर्माल्यं गुरोरभिषेकतीर्थं महेश्वरपादोदकं जन्ममालिन्यं क्षालयन्ति। तेषां प्रीतिः शिवप्रीतिः। तेषां तृप्तिः शिवतृप्तिः। तैश्च पावनो वासः। तेषां निरसनं शिवनिरसनम्। आनन्दपारायणः। तस्माच्छिवं व्रजन्तु। गुरुं व्रजन्तु। इत्येव पावनम्।

ये आत्मा ब्रह्म तथा शिवमय है, गुरु है, शिव रूप है। गुरुओं को ये सारा विश्व विश्वमन्त्र से धारण करना चाहिये (मन्त्रों के प्रचार प्रसार से विश्व की स्थिति ठीक रखनी चाहिये) ये संसार दैवाधीन है। वह दैव उन मन्त्रों से प्रसारित होता है। वह दैव ही मेरा गुरु है। गुरुओं तथा सर्वज्ञों के गुरु द्वारा किया यह अन्न परब्रह्म रूप है (उपदेश) ब्रह्म अपने ही अनुभव से जाना जा सकता है। देव शिव ही गुरु हैं। गुरु शिव ही लिङ्ग रूप है (निराकार ब्रह्म के चिह्न है) दोनों के सम्मिलित प्रकाशित होने के कारण प्राणवान् तथा महेश्वर होने के कारण शिव ही परम गुरु हैं। जहाँ गुरु है वहाँ शिव है शिव तथा गुरु स्वरूप ही वह महेश्वर है। भ्रमर कीट सिद्धान्त के द्वारा (प्रसिद्ध है

कि भृङ्गी नामका कीड़ा अन्य कीड़ों को पकड़कर जब अपने घरमें बन्द कर देता है तब वह कीड़ा भय के कारण निरन्तर उस भृङ्गी को ध्यान करने के कारण भृङ्गी जैसा ही बन जाता है) ठीक इसी प्रकार निरन्तर शिव का ध्यान करने वाले शिवयोगी शिव पूजा के मार्ग में तथा गुरु पूजा में विधि में निरन्तर एक चित्त होने के कारण महेश्वर के पूजन से मुक्त हो जाते है। शिव लिङ्ग का अभिषेक करने से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। गुरु के अभिषेक से तथा महेश्वर के चरणामृत से जन्मों के पाप धुल जाया करते हैं। इन सब में प्रेम करना ही शिव से प्रेम करना है। इनकी तृप्ति ही शिवतृप्ति है, इनके समीप रहना ही (चिन्तनादि के द्वारा भी) परम पवित्र वास है। उनका निरसन शिव निरसन ही है। इस प्रकार का ज्ञानी हमेशा आनन्दयुक्त रहा करता है। अतः शिव की शरण लेनी चाहिये। गुरु की शरण लेनी चाहिये।

॥ रुद्रोपनिषत् समाप्त ॥

कालाग्निरुद्रपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अथ कालाग्निरुद्रोप निषत् संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता श्रीकालाग्निरुद्रप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।१।

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ अधीहि भगवन्स्त्रिपुण्ड्रविधि सतत्त्व किं द्रव्यं कियत् स्थान कति प्रमाणं का रेखाः के मन्त्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्ता किं फलमिति च । २ ।

तं होवाच भगवान् कालाग्निरुद्रः । यद्द्रव्यं तदाग्नेयं भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म खमिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोके तनय इति समुद्धृत्य मा नो महान्तमिति जलेन संसृज्य त्रियायुषं जमदग्नेरिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेषु त्रियायुषैस्त्र्यम्बकैस्त्रिशक्तिभिस्तिर्यक् तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति तस्मात् समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय । ३ ।

ॐ किसी समय सनत्कुमार ने भगवान् कालाग्निरुद्र से पूछा— हे भगवन्! त्रिपुण्ड की विधि तत्व सहित मुझे समझाइये कि वह क्या है, उसका स्थान कौन-सा है, उसका प्रमाण (आकार) कितना है, कितनी रेखाएँ है, कौन-सा मन्त्र है, उसकी शक्ति क्या है, कौन देवता है, कौन कर्ता है और उसका फल क्या होता है ?" यह सुनकर कालाग्नि रुद्र कहने लगे—त्रिपुण्ड का द्रव्य अग्निहोत्र की भस्म ही है, इस भस्म को 'सद्यो जातादि' पाँच मन्त्र पढ़कर ग्रहण करना चाहिये—अर्थात् 'अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म. जलामिति भस्म, स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म, इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करे, 'मान स्तोक' मन्त्र से अंगुली पर ले और 'मा नो महान्' मन्त्र से जल लेकर 'त्रियायुष' इस मन्त्र से शिर, ललाट, वक्ष और कन्धे पर और त्रियायुष तथा त्र्यंवक मन्त्र से तीन रेखाएँ करना। इसका नाम शाम्भव व्रत कहा गया है। इस व्रत का कथन वेदवेत्ताओं ने सर्व देवताओं मे किया है। जो मुमुक्ष यह इच्छा रखते है कि उनको पुनर्जन्म ग्रहण न करना पड़े वे इसे धारण करें ॥ १-३ ॥

अथ सनत्कुमारः प्रमाणमस्य पप्रच्छ त्रिपुण्ड्रधारणस्य । ४ ।

त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोरामूर्घ्नोराभ्रुवोर्मध्यतश्च । ५ ।

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजः स्वात्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः प्रातः सवनं महेश्वरो देवतेति । ६ ।

याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्त-रात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यदिनं सवनं सदाशिवो देवतेति ।७।

याऽस्य तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकार स्तमः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति । ८ ।

त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु

तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वान् वेदानधीतो भवति स सर्वान् देवान् ज्ञातो भवति स सततं सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति स सकलभोगान् भुङ्क्ते देहं यक्त्वा शिवसायुज्यमेति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान् कालाग्निरुद्रः । ९ ।

यस्त्वेतद्वाऽधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ।१०।

इतना सुनकर सनत्कुमार ने प्रश्न किया कि त्रिपुण्ड की तीन रेखायें करने का क्या कारण है ? उत्तर मिला कि 'तीन रेखाओं में से प्रथम रेखा तो गार्हपत्य अग्निरूप, 'अ' कार रूप, रजोगुणरूप, भूलोक रूप, स्वात्मरूप' क्रियाशक्तिरूप, ऋग्वेदरूप, प्रातः सवनरूप और महेश्वर देव के रूप की है । दूसरी रेखा दक्षिणाग्निरूप, 'उ'कार रूप, सत्वरूप, अन्तरिक्ष रूप, अन्तरात्मारूप, इच्छाशक्तिरूप, यजुर्वेदरूप, माध्यंदिन सवनरूप और सदाशिव के रूप की है । तीसरी रेखा आहवनीयरूप, 'म'काररूप, तमरूप, द्यौःलोकरूप, परमात्मारूप, ज्ञानशक्ति रूप, सामवेद रूप, तृतीय सवनरूप और महादेवरूप की है । इस प्रकार की त्रिपुन्ड की विधि से जो कोई ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा संन्यासी भस्म को धारण करता है तो वह महापातकों और उपपातकों से छूट जाता है । वह सब तीर्थों में स्नान करने के समान पवित्र हो जाता है, उसको समस्त वेदों का अध्ययन हो जाता है । सब देवताओं का वह ज्ञाता हो जाता है और सब रुद्र मन्त्रों के जप के फल को प्राप्त करने वाला होता है । वह सब प्रकार के भोगों को भोगकर शिवलोक को प्राप्त होता है । वह फिर जन्म नहीं लेता फिर जन्म नहीं लेता । इस प्रकार भगवान कालाग्नि रुद्र ने कहा । जो इसका अध्ययन करता है वह भी उसी के समान हो जाता है ऐसा यह उपनिषद् है ॥ ४-१० ॥

॥ कालाग्निरुद्रोपनिषत् समाप्त ॥

नीलरुद्रोपनिषत्

प्रथमः खण्डः

अपश्य त्वावरोहन्तं दिवितः पृथिवीमवः ।
अपश्यं रुद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डिनम् ॥
दिव उग्रोऽवारुक्षत् प्रत्यस्थाद्भूम्यामधि ।
जनासः पश्यतेमं नीलग्रीवं विलोहितम् ॥
एष एत्यवीरहा रुद्रो जलासभेषजीः ।
वित्तेऽक्षेममनीनशद्वातीकारोऽप्येतु ते ॥
नमस्ते भवभामाय नमस्ते भवमन्यवे ।
नमस्ते अस्तु बाहुभ्यामुतो त इषवे नमः ॥
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥
शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥
या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः ।
शिवा शरव्या या तव तया नो मृड जीवसे ॥
या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशत् ॥
असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुर्विलोहितः ।
ये चेमे रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशाऽवैषाँहेड ईमहे ॥१॥

हे नीलकण्ठ ! अपने दिव्य धाम से भूमंडल पर अवतीर्ण होते हुए हमने आपको देखा। अपने उग्र रुद्र रूप से मोरपंख के समान

आकाश को अपना मुकुट बनाये हुए आप पृथिवी पर अविर्भूत होकर पृथिवी मे ही प्रतिष्ठित होते हुए दुष्टों का संहार करते हुए हम आपको देखते है।

मनुष्यो ! इन भगवान् नीलकण्ठ का अत्यंत रक्तवर्ण है, इनका दर्शन करो। यही भगवान् रुद्र है जो जल में उत्पन्न औषधियो में निहित होकर रोग रूप पापो को नष्ट करते है। यह प्राणियो के लिए प्राण रूप है। तुम्हारे अमंगल को नष्ट करने के लिए और अप्राप्त कामनाओं को पूर्ण कराने के लिए वे तुम्हारे निकट पधारें।

हे भगवान् रुद्र ! आपके क्रोध रूप को हमारा नमस्कार ! हे भगवान् भव ! आपके क्रोधावेश रूप को नमस्कार। हे भगवान् नीलकण्ठ ! आपकी दोनों भुजाओ और उनमें ग्रहण किये हुए बाणों को भी नमस्कार। हे कैलाश निवासी शिव ! आप पर्वत पर निवास करते हुए भी सबका कल्याण करते हो। आपने अपने जिस बाण का, दुष्टों को लक्ष्य बनाने के लिए सधान किया है, उस बाण को हमारे लिए कल्याण करने वाला कीजिये। उसके द्वारा हमारे जनों का संहार मत करना।

हे कैलाशवासी शिव ! हम अपनी मगलमयी वाणी के द्वारा आपके अत्यंत निर्मल यश का गान करते है। क्योंकि ऐसा करने से यह सम्पूर्ण विश्व हमारे अनुकूल होकर दुःख से शून्य हो जायगा। आपके बाण कल्याणकारी है। आपका धनुष और उसकी प्रत्यचा भी कल्याण के करने वाली है। हे कल्याण स्वरूप ! अपने इन आयुधों के द्वारा आप हमें जीवन देते है।

हे भगवान् रुद्र ! आप पर्वत पर निवास करते हुए भी सबका मंगल करते है। आपका जो पाप नाशक स्वरूप है, उसके द्वारा हमें सब ओर से प्रकाश दीजिए। आपके लाल, अत्यंत लाल, भूरा तथा ताम्रवर्ण वाले विभिन्न स्वरूप है, उन सबकी स्तुति के लिए हम अभिलाषा करते हैं॥ १ ॥

द्वितीयः खण्डः

अपश्यं त्वावरोहन्तं नीलग्रीवं विलोहितम् ।
उत त्वा गोपा अदृशन्नुत त्वोदहार्यः ॥
उत त्वा विश्वा भूतानि तस्मै दृष्टाय ते नमः ।
नमो अस्तु नोलशिखण्डाय सहस्राक्षाय वाजिने ॥
अथो ये अस्य सत्वानस्तेभ्योऽहमकर नमः ।
नमांसि त आयुधायानातताय धृष्णवे ॥
उभाभ्यामकरं नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ।
प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्नियोर्ज्याम् ॥
या श्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ।
अवतत्य धनुस्त्वॅं सहस्राक्ष शतेषुधे ॥
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः शंभुराभर ।
विज्य धनुः शिखण्डिनो विशल्यो बाणवॉं उत ॥
अनेशन्नस्येषव आभुरस्य निषङ्गथिः ।
परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः ॥
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्निधेहि तम् ।
या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ॥
तया त्वं विश्वतो अस्मानयक्ष्मया परिब्भुज ।
नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ॥
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ।
ये वाभिरोचने दिवि ये च सूर्यस्य रश्मिषु ॥
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ।
या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीनाम् ।
ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ २ ॥

हे अधिक लाल वर्ण वाले नीलकण्ठेश्वर ! हमने आपको पृथिवी पर अवतीर्ण होते हुए देखा है। आपकी उस अवतार रूप अवस्था के देखने वाले गोप और गोपियाँ हैं। आपका स्वरूप योगियों के लिए भी दिखाई देना कठिन है, परन्तु उसके अवतीर्ण होने पर विश्व के सभी प्राणियों ने दर्शन किये। आपके उस कृष्णस्वरूप को हमारा नमस्कार। हे मोरमुकुट धारी प्रभो ! हम आपको नमस्कार करते है। आप ही महान् शक्ति वाले इन्द्र हैं। अपने भक्तों के समक्ष आप सहस्राक्ष विराट् रूप में भी दर्शन देते हैं। आपके इस रूप के जो सहचर, बाल-गोपाल गोपिकाएँ आदि है, वे भी हमारे नमस्कार के पात्र है।

हे प्रभो ! आपके अत्यंत शक्तिशाली उन आयुधों को भी अनेकानेक नमस्कार है, जो इस समय शान्त रूप में स्थिति हैं। मैं आपके धनुष को करबद्ध प्रणाम करता हूँ। अब आप अपने धनुष की प्रत्यंचा को शत्रु के लिए भी प्रयुक्त मत कीजिये। आप अपने बाण को हाथ से उतार कर तूणीरस्थ करके अपने परम कल्याणमय एवं सौम्य शिवरूप का मुझे दशन करावें।

हे सहस्राक्ष ! आप सौ-सौ बाणों का एक साथ संधान करने वाले हैं। आप अपने बाणों के मुखों को तीक्ष्ण कर हमारे कल्याणार्थ उन्हें धनुष पर चढ़ावें। शत्रु-नाश के पश्चात् आपके धनुष से प्रत्यंचा उतर जाय और आपके बाण सताप देना त्याग कर शान्तिपूर्वक तूणीर में निवास करें। वे पर्वतों को चूर्ण कर देने वाले बाण कल्याणकारी हो जांय। आपका शर-संधान हमारी चारों ओर से रक्षा करे। रक्षा करने के पश्चात् उस बाण को आप तूणीर मे स्थित करदें। हे कृपा-वर्षक प्रभो ! आप अपने अमोघ बाण और धनुष के द्वारा चारों ओर से हमारे रक्षक हों।

जो सर्प पृथिवी पर वास करते है, उन्हें हमारा नमस्कार। आकाश और स्वर्ग में रहने वाले सर्पो को भी नमस्कार। सूर्य की

रश्मियों, प्रकाशमय लोकों और जलों में निवास करने वाले सब सर्पों को नमस्कार। जो सर्प राक्षसों के बाण रूप है, गड्ढ़ों में रहते है तथा वनस्पतियो में निवास करते है, उन सर्पो को नमस्कार ॥ २ ॥

तृतीयः खण्डः

य: स्वजनान्नीलग्रीवो यः स्वजनान्हरिः ।
कल्माषपुच्छमोषधे जम्भयोताश्वरुन्धति ॥

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च नीलग्रीवश्च यः शिवः ।
शर्वेण नीलकण्ठेन भवेन मरुतां पिता ॥

विरूपाक्षेण बभ्रुणा वाचं वदिष्यतो हतः ।
शर्व नीलशिखण्ड वीर कर्मणि कर्मणि ॥

इमामस्य प्राशं जहि येनेदं विभजामहे। नमो भवाय। नमश्शर्वाय। नमः कुमाराय शत्रवे। नमः सभाप्रपादिने। यस्याश्वतरौ द्विसरौ गर्दभावभितस्सरौ। तस्मै नीलशिखण्डाय नमः। नीलशिखण्डाय नमः ॥ ३ ॥

हे औषधियो ! जो भगवान् शिव विश्व के कल्याण के लिए विष-पान कर नीलकण्ठ हो जाते है, तथा जो अपने भक्तों का मंगल करने के लिए हरि रूप धारण करते है, उन काली पूँछ वाले केदारेश्वर प्रभु के लिए अमोघ शक्ति वाली होकर उन्हें संतुष्ट करो।

भगवान् शिव पिंगलवर्ण देह और कानों वाले है, वही नीलकण्ठ वाले सर्व स्वरूप और सर्व व्यापक हैं। उन्हीं विरूपाक्ष भव के द्वारा वाणी के जनक और देवताओं का ही नहीं सम्पूर्ण प्राणियों के पिता ब्रह्माजी का सहार हुआ। प्रत्येक कर्म में उन्हें ही व्यापक रूप से देखो और उनके संबन्ध में शंका का परित्याग करो। इस विश्व को जिस शंका द्वारा हम उनसे पृथक् मान लेते हैं, वह शंका सर्वथा त्याज्य है।

संसार के कारणरूप भव को नमस्कार, संहार करने वाले रुद्र को नमस्कार, संसार के संहारक भगवाद् शंकर को नमस्कार नीलमुकुट धारी और काले सींग वाले केदारेश्वर को नमस्कार। दक्ष के यहाँ मण्डप को सुशोभित करने वाले कुमार रूप शिव को नमस्कार।

जिन नीलशिखण्डधारी से अश्व, खच्चर, गर्दभ आदि-आदि की उत्पत्ति हुई, उनको नमस्कार सभामण्डप को सुशोभित करने वाले शिव रूप ईश्वर को बारम्बार नमस्कार ॥ ३ ॥

॥ नीलरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

रुद्रहृदयोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शांतिः शांति, शांति ।

हरि ॐ हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्ष गण दर्शनम् ।
तारसारं महावाक्यं पञ्च ब्रह्माग्निहोत्रकम् ॥
प्रणम्य शिरसा पादौ शुको व्यासमुवाच ह ।
को देवः सर्वदेवेषु कस्मिन् देवाश्च सर्वशः ॥१॥
कस्य शुश्रूषणान्नित्यं प्रीता देवा भवन्ति मे ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पिता शुकम् ॥२॥
सर्वदेवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः ।
रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविर्ब्रह्मा त्रयोऽग्नयः ॥३॥
वामपार्श्वे उमादेवी विष्णुः सोमोऽपि ते त्रयः ।
या उमा सा स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स हि चन्द्रमाः ॥४॥
ये नमस्यन्ति गोविन्दं ते नमस्यन्ति शंकरम् ।
येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चयन्ति वृषध्वजम् ॥५॥

प्रणव के मूल तत्व को कहने वाले रुद्रहृदय, योग कुण्डली, भस्म जाबाल, रुद्राक्ष जाबाल और गणपति यह पाँच उपनिषद् हैं ।

इन्हें ब्रह्मज्ञान से सम्बन्धित अग्निहोत्र के पंच महामन्त्र कहा गया है तथा यही श्रुति के पंच महावाक्य माने गए हैं।

एक बार श्री शुकदेवजी ने अपने पिता महाज्ञानी व्यासजी महाराज के चरणों में शीश झुकाकर निवेदन किया—'प्रभो! सब वेदों ने किस देव का प्रतिपादन किया है और समस्त देवताओं का वास किस देव में है, यह कृपाकर मेरे प्रति कहिये और यह भी बताइये कि किस देवता की उपासना करने से सभी देवता मुझ पर प्रसन्न होंगे?' ऐसा प्रश्न सुनकर तत्वज्ञानी व्यासजी ने कहा—हे पुत्र! भगवान् रुद्र में सब देवता निवास करते हैं। रुद्र भगवान् के दक्षिण पार्श्व में सूर्य, ब्रह्मा एवं गार्हपत्य, दक्षिण और अग्नियों की स्थिति है। वाम पार्श्व में उमा, विष्णु और सोम स्थित हैं। इन तीनों में भी कोई भेद नहीं है। क्योंकि उमा ही विष्णु भगवान् हैं और विष्णु ही सोम हैं। जो गोविन्द को नमस्कार करते है, उनका नमस्कार भगवान् शंकर को स्वयं ही पहुँच जाता है। जो भक्त भगवान् विष्णु की पूजा करते है वे मानों वृषभध्वज की ही पूजा करते है ॥१-५॥

ये द्विषन्ति विरूपाक्षं ते द्विषन्ति जनार्दनम्।
ये रुद्रं नाभिजानन्ति ते न जानन्ति केशवम् ॥६॥
रुद्रात् प्रवर्तते बोजं बीजयोनिर्जनार्दनः।
यो रुद्रः स स्वयं ब्रह्म यो ब्रह्मा स हुताशनः ॥७॥
ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र अग्नीषोमात्मकं जगत्।
पुंलिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं भगवत्युमा ॥८॥
उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजङ्गमाः।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम् ॥९॥
उमाशंकरयोर्योगः स योगो विष्णुरुच्यते।
यस्तु तस्मै नमस्कारं कुर्याद्भक्तिसमन्वितः ॥१०॥

जो भगवान् आशुतोष से द्वेष करने वाले हैं, वे जनार्दन प्रभु के प्रिय कभी नहीं हो सकते। जो रुद्र के ज्ञाता नहीं है, वे केशव के भी ज्ञाता नहीं हो सकते। क्योंकि रुद्र ही बीज के उत्पन्नकर्ता हैं और बीज की योनि रूप भगवान् विष्णु है। रुद्र ही ब्रह्मा है, ब्रह्मा ही अग्नि है। रुद्र ही ब्रह्मा और विष्णु रूप है। यह अग्नि और सोम से सम्बन्धित विश्व भी रुद्र ही है। सृष्टि मे जितने प्राणी पुंलिंग रूप से हैं, वे सभी रुद्र है तथा स्त्रीलिंगात्मक समस्त देहधारी है वे उमा है। इसप्रकार स्थावर जंगम रूप यह सम्पूर्ण सृष्टि रुद्र और उमा रूप है। अव्यक्त संसार रुद्र का रूप और व्यक्त ससार भगवती का उमा रूप है। उमा और शंकर दोनों के मिलने से विष्णु कहे जाते है। जो विष्णु को नमस्कार करते है वे त्रिविधात्मा के ज्ञाता होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाते है ॥६-१०॥

आत्मानं परमात्मानमन्तरात्मानमेव च ।
ज्ञाता त्रिविधमात्मानं परमात्मानमाश्रयेत् ॥११॥
अन्तरात्मा भवेद्ब्रह्मा परमात्वा महेश्वरः ।
सर्वेषामेव भूतानां विष्णुरात्मा सनातनः ॥१२॥
अस्य त्रैलोक्यवृक्षस्य भूमौ विटपशाखिनः ।
अग्रं मध्यं तथा मूलं विष्णुब्रह्ममहेश्वराः ॥१३॥
कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः ।
प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा कृता ॥१४॥
धर्मो रुद्रो जगद्विष्णुः सर्वज्ञानं पितामहः ॥१५॥
श्रीरुद्र रुद्र रुद्रेति यस्तं ब्रूयाद्विचक्षणः ।
कीर्तनात् सर्वदेवस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥१६॥

सब प्राणियों के आत्मा विष्णु हैं, अन्तरात्मा ब्रह्मा और परमात्मा रुद्र है। इस लोकत्रय रूप वृक्ष की शाखायें पृथिवी पर फैली हुई हैं, इसके अग्र भाग विष्णु, क्रिया रूप ब्रह्मा और मूल भाग रुद्र है।

कार्य रूप विष्णु, क्रिया रूप ब्रह्मा और कारण रूप रुद्र हैं। इस प्रकार भगवान् रुद्र ने ही प्रयोजन के अनुसार अपने तीन रूप धारण किए हैं। संसार विष्णु रूप, ज्ञान ब्रह्मा रूप और धर्म रुद्र रूप है। जो ज्ञानी पुरुष रुद्र के नाम का जप करता है, यह इससे सभी देवताओं के नाम जप का फल पाकर सब पापों से छूट जाता है ॥११-१६॥

रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः ॥१७॥
रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी तस्मै तस्यै नमो नमः ।
रुद्रो विष्णुरुमा लक्ष्मीस्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥१८॥
रुद्रः सूर्य उमा छाया तस्मै तस्यै नमो नमः ।
रुद्रः सोम उमा तारा तस्मै तस्यै नमो नमः ॥१९॥
रुद्रो दिवा उमा रात्रिस्तस्मै तस्यै नमो नमः ।
रुद्रो यज्ञ उमा वेदिस्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥२०।
रुद्रो वह्निरुमा स्वाहा तस्मै तस्यै नमो नमः ।
रुद्रो वेद उमा शास्त्रं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥२१॥
रुद्रो वृक्ष उमा वल्ली तस्मै तस्यै नमो नमः ।
रुद्रो गन्ध उमा पुष्पं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥२२॥
रुद्रोऽर्थ अक्षरः सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः ।
रुद्रो लिङ्गमुमा पीठं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥२३॥
सर्वदेवात्मकं रुद्रं नमस्कुर्यात् पृथक्पृथक् ।
एभिर्मन्त्रपदैरेव नमस्यामीशपार्वती ॥२४॥
यत्र यत्र भवेत् सार्धमिमं मन्त्रमुदीरयेत् ।
ब्रह्महा जलमध्ये तु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२५॥

रुद्र रूप पुरुष और उमा रूप स्त्री, इस प्रकार के रूप द्वय में भगवान् शंकर और भगवती उमा को नमस्कार है। रुद्र ब्रह्मा स्वरूप

और उमा वाणी स्वरूप है। इन दोनों रूप में उमा महेश्वर को नमस्कार है। रुद्र रूप विष्णु और उमा रूप लक्ष्मी को नमस्कार है। सूर्य रुद्र हैं छाया उमा है, उनके इन दोनों रूपों को नमस्कार है। चन्द्रमा और तारा रूप रुद्र-उमा को नमस्कार है। दिवस-रात्रि रूप शंकर-उमा को नमस्कार है। यज्ञ और वेदी रूप शिव और उमा को नमस्कार है। वेद-शास्त्र रूप शंकर और उमा को नमस्कार है। वृक्ष और लता रूप शंकर-उमा को नमस्कार है। अर्थ और अक्षर रूप शिव-उमा को नमस्कार है। लिंग और पीठ रूप शंकर-उमा को नमस्कार है। इस प्रकार इन सर्वदेवात्मक रुद्र और उमा को पृथक्-पृथक् नमस्कार करना चाहिए। मैं भी इन मन्त्रों द्वारा शिव-उमा को नमस्कार किया करता हूँ। जहाँ भी, जिस स्थिति में भी रहना हो, वहीं इस अर्धाली युक्त मन्त्र का जप करता रहे। जिसने ब्रह्म हत्या की हो वह भी यदि जल में प्रविष्ट होकर इस मन्त्र को जपे तो सभी पापों से छूट जाता है ॥१७-२५॥

सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
सच्चिदानन्दरूपं तदवाङ्मनसगोचरम् ॥२६॥

तस्मिन् सुविदिते सर्वं विज्ञातं स्यादिदं शुक ।
तदात्मकत्वात् सर्वस्य तस्माद्भिन्नं न हि क्वचित् ॥२७॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापरा च ते ।
तत्रापरा तु विद्यैषा ऋग्वेदो यजुरेव च ॥२८॥

सामवेभदस्तथाऽथर्ववेदः शिक्षा मुनीश्वर ।
कल्पो व्याकरणं चैव निरुक्तं छन्द एव च ॥२९॥

ज्योतिषं च तथाऽनात्मविषया अपि बुद्धयः ।
अथैषा परमा विद्या ययाऽऽत्मा परमाक्षरम् ॥३०॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्र रूपवर्जितम् ।
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा ॥३१॥

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ।
तद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा आत्मानमात्मनि ॥३२॥

हे शुक ! जो सनातन परम ब्रह्म सबका अधिष्ठान, मन और वाणी से अगोचर और सच्चिदानन्दघन स्वरूप है, उसे जो भले प्रकार जान लेता है वह इस सम्पूर्ण रहस्य का ज्ञाता हो जाता है। क्योंकि उस ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। यह सब उसी का स्वरूप है। परा और अपरा नाम की दो विद्यायें हैं वे साधक के लिए ज्ञातव्य है। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, यह चारों वेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष यह अपरा है। इसमें आत्म-विषय के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार का बौद्धिक ज्ञान भरा हुआ है। परन्तु जिसके द्वारा आत्म-ज्ञान होता है वह परा विद्या है। वही परम अविनाशी आत्मतत्व है। वह दिखाई नहीं पड़ता, न ग्रहण किया जा सकता है। उसका नाम, रूप, में गोत्रादि कुछ नहीं है। उसके न नेत्र हैं, न कान है, हाथ-पाँव भी नहीं है। वह विषयों से परे, नित्य, विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से सर्वगत और निर्विकार है। वह सब भूतो का आश्रय स्थान है। ज्ञानी पुरुष उस परमात्मा का अपने ही आत्मा में दर्शन करते हैं ॥२६-३२॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादत्रान्नरूपेण जायते जगदावलि ॥३३॥
सत्यवद्भाति तत् सर्व रज्जुसर्पवदास्थितम् ।
तदेतदक्षरं सत्यं तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥३४॥
ज्ञानादेव हि संसारविनाशो नैव कर्मणा ।
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वगुरुं गच्छेद्यथाविधि ॥३५॥
गुरुस्तस्मै परां विद्यां दद्यद्ब्रह्मात्मबोधिनीम् ।
गुहायां निहितं साक्षादक्षरं वेद चेन्नरः ॥३६॥
छित्त्वाऽविद्यामहाग्रन्थिं शिवं गच्छेत् सनातनम् ।
तदेतदमृतं सत्यं तद्बोद्धव्यं मुमुक्षुभिः ॥३७॥

ब्रह्म से ही भोक्ता एवं अन्य-रूप युक्त यह विश्व प्रकट होता है। वह ब्रह्म सर्वज्ञ एवं सब विद्याओं का आश्रयस्थान है। उसका तप ज्ञान ही है। सत्य के समान दिखाई पड़ने वाला यह विश्व रस्सी में सर्प के आभास के समान ही ब्रह्म में स्थित है। यह विश्व असत्य है, परन्तु ब्रह्म अविनाशी एवं सत्य है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। कर्म से संसार की पाश नही कटती, वह तो ज्ञान से ही छिन्न-भिन्न होती है। इसलिए मुक्ति-काम्य पुरुष को अपने ब्रह्मनिष्ठ एवं श्रोत्रिय गुरु की शरण लेनी चाहिए। वह गुरु उसे आत्मा और ब्रह्म के एक होने का ज्ञान कराने वाली पराविद्या सिखावे। गुहा में अलक्षित उस अविनाशी ब्रह्म से जो पुरुष साक्षात् कर लेता है, उसके अविद्या रूपी बन्धन तो कट जाते है और फिर वह पुराण पुरुष शिव के समीप जाता है। अमृत रूप सत्य मोक्ष की कामना वाले साधकों के लिए ज्ञातव्य है ।।३३-३७।।

धनुस्तारं शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत्। ३८।।

लक्ष्यं सर्वगत चैव शरः सर्वगतो मुखः।
वेद्धा सर्वगतश्चैव शिवलक्ष्यं न सशयः ।।३९।।

न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति वाताः सकला देवताश्च।
स एष देवः कृतभावभूतः रूपं विशुद्धो विरजाः प्रकाशते ।।४०।।

द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यो सह स्थितौ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ।।४१।।

केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः।
प्रकाशते स्वय भेदः कल्पितो मायया तयोः ।।४२।।

घटाकाशमठाकाशौ यथाऽऽकाशप्रभेदतः ।
कल्पितौ परमो जीव शिवरूपेण कल्पितौ ॥४३॥
तत्त्वतश्च शिवः साक्षाच्चिज्जीवश्च स्वतः सदा ।
चिच्चिदाकारतो भिन्ना न भिन्ना चित्त्वहानितः ॥६४॥
चितश्चिन्न चिदाकाराद्भिद्यते जडरूपतः ।
भिद्यते चेज्जडो भेदश्चिदेका सर्वदा खलु ॥४५॥
तर्कतश्च प्रमाणाच्च चिदेजत्वव्यवस्थितेः ।
चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति ।
अद्वैतं परमानन्दं शिवं याति तु केवलम् ॥४६॥
अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम ।
अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोको भवेन्मुनिः ॥४७॥
स्वशरीरे स्वयं ज्योतिस्स्वरूपं सर्वसाक्षिणम् ।
क्षीणादोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ॥४८॥
एवंरूपपरिज्ञान यस्यास्ति परयोगिनः ।
कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य पूर्णस्वरूपिणः ॥४९॥
आकाशमेकं सम्पूर्ण कुत्र चिन्नैव गच्छति ।
तद्वत्स्वात्म परिज्ञानी कुत्र चिन्नैव गच्छति ॥५०॥
स तो ह वै तत्परमंब्रह्मयो वेदं वै मुनिः ।
ब्रह्मैव भवति स्वस्थः सच्चिदानन्दमातृकः ॥५१॥

ब्रह्म रूप लक्ष्य के लिए प्रणव धनुष रूप और आत्मा वाण के समान हैं। उसे बीधने से लिए आलस्य का त्याग आवश्यकीय कार्य है। उस ब्रह्म में उसी प्रकार तन्मय हो जाना चाहिए जैसे लक्ष्य को बींधने के लिए वाण क्रियारत होना है। ब्रह्म रूप लक्ष्य सर्वगत है, आत्मा सर्वतोमुख है, परन्तु यदि साधक भी सर्वगत हो तो शिव : रूप लक्ष्य की प्राप्ति निःसन्देह होती है। जिन परमात्मा के परमधाम में चन्द्र-सूर्य नहीं होते, जहाँ वायु तथा अन्य देवगण भी पहुँच नहीं पाते, वही पर-

मात्मा साधक द्वारा चिन्तन किये जाने पर अपने निर्मल और निर्गुण रूप से प्रकाशमान होते है। यह शरीर रूपी वृक्ष जीव और ईश्वर रूप दो पक्षियों को निवास देने वाला है। इनमें जीव रूप पक्षी स्वीकृत कर्मों का फल भोगता है। परन्तु ईश्वर उसके कर्म-फल भोग के साक्षी स्वरूप प्रकाशित रहता है, वह कर्म का फल नही भोगता। माया के द्वारा ही जीव और ईश्वर के भेद की कल्पना हुई है। यथार्थ में तो चिन्मय जीव स्वयं ही साक्षात् ईश्वर है। जीव और ईश्वर में चित् रूप उपाधि सम्बन्धी आकार भेद के कारण यह विभक्ति परिलक्षित होती है। वास्तव में उनमें कोई भिन्नता नहीं है। यदि यथार्थ में ही भेद हो तो दोनों का चित् स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। चित् से चित् का भेद कल्पित किया जाना जड़ रूप उपाधि से ही हुआ है। चिदाकारता से कोई भेद नही हो सकता। भेद-दृष्टि ही जड़ता से उत्पन्न होती है। चित्त की एकता युक्ति और प्रमाण दोनों के द्वारा ही परिपुष्ट है। अतः चित् की एकता का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य मोह और शोक से मुक्त हो जाता है और अद्वैत परमानन्द रूप शिवत्व की उसे प्राप्ति होती हैं। वह चिद्घन स्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का परम आश्रय है। ऋषि-गण परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा मानकर शोक से छूट जाते है। जिन मनुष्यों के दोष नष्ट हो गये है, वे ही उस सर्वसाक्षी और स्वयं ज्योति रूप परब्रह्म के दर्शन प्राप्त कर सकते है। माया के जाल मे फँसे हुए जीव उसे नही देख सकते। जो सिद्ध पुरुष आत्मा के स्वरूप का ऐसा ज्ञान प्राप्त कर चुके, वे पूर्णता को प्राप्त पुरुष कहीं आते-जाते नहीं। जैसे परिपूर्ण आकाश कहीं जाता नहीं, वैसे ही आत्म-तत्व का ज्ञाता महात्माभी कहीं नहीं जाता। जो उस परमब्रह्मका ज्ञाताहै, वह सच्चिदा-नन्द रूप में स्थित होकर स्वयं ब्रह्म हो जाता है ॥३८-५१॥

॥ रुद्रहृदयोपनिषद् समाप्त ॥

गरुडोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शातिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओ ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करे । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हरिः ॐ गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मा विद्यां नारदाय प्रोवाच नारदो बृहत्सेनाय बृहत्सेन इन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाजो जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत् । अस्याः श्रीमहागरुडब्रह्मविद्याया ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । श्रीभगवान्महागरुडो देवता । श्रीमहागरुडप्रीत्यर्थे मम सकलविषविनाशनार्थे जपे विनियोगः । ॐ नमो भगवते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । श्रीमहागरुडाय तर्जनीभ्यां स्वाहा । पक्षीन्द्राय मध्यामाभ्यां वषट् । श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम् । त्रैलोक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । उग्रभयंकरकालानलरूपाय

करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः।

हरि ॐ। गरुड़ सम्बन्धी ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जाता है, जिस विद्या को ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने वृहत्सेन को, वृहत्सेन ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने जीवत्काम शिष्यों को कहा (उन्हें प्रदान किया)। नीचे लिखे विनियोग से जल छोड़ना चाहिये-'अस्या श्री महागरुड ब्रह्मविद्याया... ... ...विषविनाशार्थे विनियोगः।' अब नीचे लिखे मन्त्रो से अङ्ग न्यास करना चाहियेः—

ॐ नमो ... ...अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।

श्री महागरुडाय ... ...तर्जनीभ्यां स्वाहा।

पक्षीन्द्राय ... ...मध्यमाभ्यां वषट्।

श्री विष्णुवल्लभाय ... ...अनामिकाभ्यांहुम्।

त्रैलोक्य परिपूजिताय ... ...कनिष्ठिकाभ्या वौषट्।

उग्रभयङ्कर ... ...करतल पृष्ठाभ्यां फट्।

इसी प्रकार हृदय शिरशिखा कवच नेत्रादि न्यास करके वौषट् करना चाहिये। "भूर्भुवः स्वरोम्" इससे दिग्बन्धन करना चाहिये।

ध्यानम्। स्वस्तिको दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्। प्राञ्जलीकृतदोर्युग्मं गरुड हरिवल्लभम् ॥ १ ॥ अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकिः। तक्षकाः कटिसूत्रं तु हारः कार्कोट उच्यते ॥ २ ॥ पद्मो दक्षिणकर्णे तु महापद्मस्तु वामके। शङ्खः शिरःप्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे ॥ ३ ॥ पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां चामराभ्यां सुवीजितम्। एलपुत्रकनागाद्यैः सेव्यमानं मुदान्वितम् ॥ ४ ॥ कपिलाक्षं गरुत्मन्तं सुवर्णसदृशप्रभम्। दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नादाभरणभूषितम् ॥५॥

आजानुतः सुवर्णाभमाकट्योस्तुहिनप्रभम् । कुङ्कुमारुणमाकण्ठं शतचन्द्रनिभाननम् ॥ ६ ॥ नीलाग्रनासिकावक्रं सुमहच्चारुकुण्डलम् । दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम् ॥ ७ ॥ कुङ्कुमारुणसर्वाङ्गं कुन्देन्दुधवलाननम् । विष्णुवाह नमस्तुभ्यं क्षेमं कुरु सदा मम ॥ ८ ॥

निम्न श्लोकों से ध्यान करना चाहिये:—

स्वस्तिको दक्षिणं पादं ....हरिवल्लभम् । १ ।

अनन्तो वामकटको ... ...कार्कोट उच्यते । २ ।

पद्मो दक्षिणकर्णे ... ...भुजान्तरे । ३ ।

पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां ... ...मुदान्वितम् । ४ ।

कपिलाक्षं ... ...नागाभरणभूषितम् । ५ ।

आजानुतः ... ...शतचन्द्रनिभाननम् । ६ ।

नीलाग्रनासिकावक्रं... ... ...किरीट मुकुटोज्ज्वलम् । ७ ।

कुङ्कुमारुणसर्वाङ्ग .. ..कुरु सदा मम् । ८ ।

इन सब ध्यान के श्लोकों को गरुड़ का ध्यान करते हुए भलाभाँति श्रद्धापूर्वक पढ़ना चाहिये ।

एवं ध्यायेत्त्रिसंध्यासु गरुडं नागभूषणम् । विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः ॥ ९ ॥ ओमीमां नमो भगवते श्रीमहागरुडाय पक्षीन्द्राय विष्णुवल्लभाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय उग्रभयंकरकालानलरूपाय वज्रनखाय वज्रतुण्डाय वज्रदन्ताय वज्रदंष्ट्राय वज्रपुच्छाय वज्रपक्षालक्षितशरीराय ओमीकेह्येहि श्रीमहागरुडाप्रतिशासनास्मिन्नाविशाविश दुष्टानां विषं दूषयदूषय स्पृष्टानां नाशयनाशय दन्दशूकानां विषं दारय दारय प्रलीनं विषं प्रणाशयप्रणाशय सर्वविषं नाशय नाशय हनहन दहदह पचपच भस्मीकुरुभस्मीकुरु हुं

फट् स्वाहा ॥ चन्द्रमण्डलसंकाश सूर्यमण्डलमुष्टिक । पृथ्वी-मण्डलमुद्राङ्क श्रीमहागरुडाय विषं हरहर हुं फट् स्वाहा ॥ ॐ क्षिप स्वाहा ॥ ओमी सचरति सचरति तत्कारी मत्कारो विषाणां च विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीन विष प्रनष्टं विष हत ते ब्रह्मणा विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ ॐ नमो भगवते महागरुडाय विष्णुवाहनाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय वज्रन-खवज्रतुण्डाय वज्रपक्षालकृतशरीराय एह्येहि महागरुड विषं छिन्धिच्छिन्धि आवेशयावेशय हुं फट् स्वाहा ॥ सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्र चक्षुः स्तोम आत्मा साम ते तनूर्वाम-देव्य बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञिय पुच्छ छन्दांस्यङ्गानि धिष्णिया: शफा यजूंषि नाम ॥ सुपर्णोसि गरुत्मान्दिव गच्छ सुवः पत ओमों ब्रह्मविद्याममावास्यायां पौर्णमास्यां पुरोवाच सचरति सचरति तत्कारी मत्कारो विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हत विष नष्टं विष नष्टं विष प्रनष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हत ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ तस्यम् (?) ।

इस प्रकार तीनों सन्ध्याओं के समय नागभूषण गरुड़ का ध्यान करना चाहिये । इनके ध्यान से विष ऐसे समाप्त हो जाता है जैसे आग द्वारा रुई का ढेर । ६ ।

अब अधोलिखित मन्त्रों का उच्चारण विषनाश करने के लिये करना चाहिये और उस स्थान को झाड़ना चाहिये । इन्हीं मन्त्रों से होम भी सिद्धि प्राप्ति के निमित्त करना चाहियेः—

ॐ मीं मो नमो भगवते ... ...भस्मी कुरु भस्मी कुरु हुं फट् स्वाहा । १ ।

चन्द्रमंडलसकाश... ... ...विषं हर हर हुं फट् स्वाहा । ॐ क्षिप स्वाहा । २ ।

ओमीं सचरति... ... ...वज्रेण स्वाहा । ३ ।

ॐ नमो भगवते ... ...आवेशयावेशय हुं फट् स्वाहा । ४ ।

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् ... .विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा । ५ ।

यद्यनन्तकदूतोऽसि यदि वानन्तकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हत विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा । यदि वासुकिदूतोऽसि यदि वा वासुकिः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मकात्री विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा यदि वा तक्षकः स्वयं सचरति सचरनि तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हत ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि कर्कोटकदूतोऽसि यदि वा कर्कोटकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि पद्मकदूतोऽसि यदि वा पद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि महापद्मकदूतोऽसि यदि वा महापद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि शङ्खकदूतोऽसि यदि वा शङ्खकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥

यदि गुलिकदूतोऽसि यदि वा गुलिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि यदि वा पौण्ड्रकालिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि नागकदूतोऽसि यदि वा नागकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ यदि लूतानां प्रलूतानां यदि वृश्चिकानां यदि घोटकानां यदि स्थावरजङ्गमानां सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा । अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मक महापद्मकशङ्खकगुलिकपौण्ड्रकालिकनागक इत्येषां दिव्यानां महानागानां महानागादिरूपाणां विषतुण्डानां विषदन्तानां विषदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विश्वचाराणां वृश्चिकानां लूतानां प्रलूतानां मूषिकाणां गृहगौलिकानां गृहगोधिकानां घ्रणासानां गृहगिरिगह्वरकालानलवल्मीकोद्भूतानां तार्णानां पार्णानां काष्ठदारुवृक्षकोटरस्थानां मूलत्वग्दारुनिर्यासपत्रपुष्पफलोद्भूतानां दुष्टकीटकपिश्वानमार्जारजम्बुकव्याघ्रवराहाणां जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानां शस्त्रबाणक्षतस्फोटव्रणमहाव्रणकृतानां कृत्रिमाणामन्येषां भूतवेतालकूष्माण्डपिशाचप्रेतराक्षसयक्षभयप्रदानां विषतुण्डदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विषाणां विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषिणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं

नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ।

यद्यनन्तक दूतोऽसि ... ...ब्रह्मणा... ... ... वज्रेण स्वाहा । ६ ।

यदि वासुकिदूतोऽसि ... ...इन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा । ७ ।

यदि वा तक्षक स्वयं ... ...वज्रेण स्वाहा ।

यदि कर्कोटक दूतोऽसि... ... ...वज्रेण स्वाहा ।

यदि पद्मक दूतोऽसि... ... ...वज्रेण स्वाहा ।

यदि महापद्मक दूतोऽसि ... .वज्रेण स्वाहा ।

यदि शङ्खक दूतोऽसि.... ... ...वज्रेण स्वाहा ।

यदि गुलिक दूतोऽसि... ... .वज्रेण स्वाहा ।

यदि पौंड्रकालिक दूतोऽसि... ... ...वज्रेण स्वाहा ।

यदि नागक दूतोऽसि... ... ...वज्रेण स्वाहा ।

यदि लूतानां प्रलूतानां... ... ...वज्रेण स्वाहा ।

अनन्त वासुकितक्षक... ... ...विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ।

य इमां ब्रह्मविद्याममावास्यायां पठेच्छृणुयाद्वा यावज्जीवं न हिंसन्ति सर्पाः । अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वा तृणेन मोचयेत् । शतं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा चक्षुषा मोचयेत् । सहस्रं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा मनसा मोचयेत् । सर्पाञ्जले न मुञ्चन्ति । तृणे न मुञ्चन्ति । काष्ठे न मुञ्चन्ती त्याह भगवान्ब्रह्मेत्युपनिषत् ॥

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

जो इस ब्रह्म विद्या का अमावस्या के दिन अध्ययन करता है उसे सारे जीवन भर सांप नही काटते। आठ ब्राह्मणों को ग्रहण करवा कर तिनके से, सौ ब्राह्मणों को बतलाकर आंख से, हजार ब्राह्मणों को बतलाकर मन से ही विष को मुक्त किया जा सकता है। सर्पकुंडली तिनके तथा काठ पर स्थित होने से विषमुक्त नहीं होता।

।। गरुडोपनिषत् समाप्त ।।

लांगूलोपनिषत्

ॐ अस्य श्रीअनन्तघोरप्रलयज्वालाग्निरौद्रस्य वीरहनुमत्साध्यसाधनाघोरमूलमन्त्रस्य ईश्वर ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीरामलक्ष्मणौ देवता । सौं बीजम् । अञ्जनासूनुरिति शक्तिः । वायुपुत्र इति कीलकम् । श्रीहनुमत्प्रसादासिद्ध्यर्थं भूर्भुवस्स्वर्लोकसमासीनतत्त्वंपदशोधनार्थं जपे विनियोग. ।

ॐ भूः नमो भगवते दावानलकालाग्निहनुमते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । हृदयाय नमः । ॐ भुवः नमो भगवते चण्डप्रतापहनुमते तर्जनीभ्यां नमः । शिरसे स्वाहा । ॐ स्वः नमो भगवते चिन्तामणिहनुमते मध्यमाभ्यां नमः । शिखायै वषट् । ॐ महः नमो भगवते पातालगरुडहनुमते अनामिकाभ्यां नमः । कवचाय हुम् । ॐ जनः नमो भगवते कालाग्निरुद्रहनुमते कनिष्ठिकाभ्यां नमः । नेत्रत्रयाय वौषट् । ॐ तपः सत्यं नमो भगवते भद्रजातिविकटरुद्रवीरहनुमते करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । अस्त्राय फट् । पाशुपतेन दिग्बन्धः । अथ ध्यानम्—

वज्राङ्गं पिङ्गनेत्रं कनकमयलसत्कुण्डलाक्रान्तगण्डं
दम्भोलिस्तम्भसारप्रहरणविवशीभूतरक्षोऽधिनाथम् ।
उद्यल्लाङ्गूलघर्षप्रचलजलनिधि भीमरूपं कपीन्द्रं
ध्यायन्तं रामचन्द्रं प्लवगपरिवृढं सत्त्वसारं प्रसन्नम् ॥

नीचे दिए सङ्कल्प से जल छोड़ना चाहिए—

ॐ अस्य ... ... जपे विनियोगः ।

अब नीचे दिये क्रम के अनुसार अङ्गन्यास करना चाहिए—(तत्तद् स्थानो को छूना चाहिए)

ॐ भूः नमो ··· ··· ···अंगुष्ठाभ्यां नमः हृदयाय नमः।

ॐ भुवः नमो···· ··· ···तर्जनीभ्यां नमः शिरसे स्वाहा।

ॐ स्वः नमो···· ··· ···मध्यमाभ्यां नमः शिखायै वषट्।

ॐ मह···· ··· ···अनामिकाभ्यां नमः। कवचाय हुम्।

अंजन··· ··· ···कनिष्ठिकाभ्यां नमः नेत्र त्रयाय वषट्।

ॐ तपः··· ··· ·· करतल पृष्ठाभ्यां नमः अस्त्राय फट्।

पाशुपत के द्वारा दिग्बन्धन करना चाहिये। नीचे दिये श्लोक से ध्यान करना चाहिए (हाथ जोड़ कर आँखें बन्द कर)।

वज्राङ्ग पिङ्गनेत्रं··· ··· ···सत्वसारं प्रसन्नम्।

इति मानसोपचारैः संपूज्य, ॐ नमो भगवते दावानलकालाग्निहनुमते (जयश्रियो जयजीविताय) धवलीकृतजगत्त्रय वज्रदेह वज्रपुच्छ वज्रकाय वज्रतुन्ड वज्रमुख वज्रनख वज्रबाहो वज्ररोम वज्रनेत्र बज्रदन्त वज्रशरीर सकलात्मकाय भीमकर पिङ्गलाक्ष उग्र प्रलयकालरौद्र वीरभद्रावतार शरभसालुवभैरवदोर्दन्ड लङ्कापुरीदाहन उदधिलङ्घन दशग्रीवकृतान्त सीताविश्वास ईश्वरपुत्र अञ्जनागर्भसंभूत उदयभास्करबिम्बानलग्रासक देवदानवऋषिमुनिवन्द्य पाशुपतास्त्रब्रह्मास्त्रबैलवास्त्रनारायणास्त्रकालशक्तिकास्त्रदंडकास्त्रपाशाघोरास्त्रनिवारण पाशुपतास्त्रब्रह्मास्त्रबैलवास्त्रनारायणास्त्रमृड सर्वशक्तिग्रसन ममात्मरक्षाकर परविद्यानिवारण आत्मविद्यासंरक्षक अग्निदीप्त अथर्वणवेदसिद्धस्थिरकालाग्निनिराहारक वायुवेग मनोवेग श्रीरामतारकपरब्रह्मविश्वरूपदर्शन लक्ष्मणप्राणप्रतिष्ठानन्दकर स्थलजलाग्निमर्मभेदिन्

सर्वशत्रून् छिन्धि छिन्धि मम वैरिण: खादय खादय मम संजीवन-पर्वतोत्पाटन डाकिनीविध्वंसन सुग्रीवसख्यकरण निष्कलङ्क कुमारब्रह्मचारिन् दिगम्बर सर्वपाप सर्वग्रह कुमारग्रह सर्वं छेदय छेदय भेदय भेदय भिन्धि भिन्धि खादय खादय टंक टंक ताडय ताडय मारय मारय शोषय शोषय ज्वालय ज्वालय हारय हारय देवदत्तं नाशय नाशय अतिशोषय अतिशोषय मम सर्वं च हनुमन् रक्ष रक्ष ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रुं फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ नमो भगवते चंडप्रतापहनुमते महावीराय सर्वदुःख-विनाशनाय ग्रहमन्डलभूतमंडलप्रेतपिशाचमंडलसर्वोच्चाटनय अति-भयङ्करज्वरमाहेश्वरज्वर- विष्णुज्वर- ब्रह्मज्वर -वेतालब्रह्मराक्ष-सज्वर-पित्तज्वर- श्लेष्मसान्निपातिकज्वर- विषमज्वर- शीतज्वर-एकाहिकज्वर-द्वयाहिकज्वर- त्र्यैहिकज्वर- चातुर्थिकज्वर- अर्धमा सिकज्वर-मासिकज्वर-षान्मासिकज्वर- सांवत्सरिकज्वर- अस्थ्य-न्तर्गतज्वर-महापस्मार-भ्रमिकापस्मारांश्च भेदय भेदय खादय खादय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुँ फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ नमो भगवते चिन्तामणिहनुमते अङ्गशाल-अक्षिशूल-शिरश्शूल-गुल्मशूल-उदरशूल- कर्णशूल-नेत्रशूल-गुदशूल-कटिशूल जानुशूल-जङ्घाशूल-हस्तशूल-पादशूल-गुल्फशूल-वातशूल-पित्तशूल पायुशूल-स्तनशूल-परिणामशूल-परिधामशूल-परिबाणशूल-दंतशूल कुक्षिशूल सुमनश्शूल- सर्वशूलानि निर्मूलय निर्मूलय दैत्यदानव-कामिनीवेतालब्रह्मराक्षसकोलाहलनागपाशनन्तवासुकितक्षककार्को-टकलिङ्गपद्मककुमुदज्वलरोगपाशमहामारीन् कालपाशविषं निर्विषं कुरु कुरु ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुँ फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ग्लां ग्लीं ग्लूं ॐ नमो भगवते पाताल-गरुडहनुमते भैरववनगतगजसिंहेन्द्राक्षीपाशबन्धं छेदय छेदय

प्रलयपारुत कालाग्निहनुमन् शृङ्खलाबन्धं विमोक्षय विमोक्षय सर्वग्रहं छेदय छेदय मम सर्वकार्याणि साधय साधय मम प्रसादं कुरु कुरु मम प्रसन्न श्रीरामसेवकसिंह भैरवस्वरूप मां रक्ष रक्ष ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रां ह्रीं क्ष्मौं भ्रैं श्रां श्रीं क्लां क्लीं क्रां क्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः ह्रां ह्रीं हुं ख ख जय जय मारण मोहन घूर्ण घूर्ण दम दम मारय मारय वारय वारय खे खे ह्रां ह्रीं ह्रूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ नमो भगवते कालाग्निरौद्रहनुमते भ्रामय भ्रामय लव लव कुरु कुरु जय जय हस हस मादय मादय प्रज्वलय मृडय मृडय त्रासय त्रासय साहय साहय वशय वशय शामय शामय अस्त्रत्रिशूलडमरुखड्गकालमृत्युकपालखट्वांगधर अभयशाश्वत हुं हुं अवतारय अवतारय हुं हुं अनन्तभूषण परमन्त्र-परयन्त्र-शतसहस्र कोटितेज पुञ्जं भेदय भेदय अग्नि बन्धय बन्धय वायुं बन्धय बन्धय सर्वग्रहं बन्धय बन्धय अनन्तादिदुष्टनागानां द्वादशकुलवृश्चिकानामेकादशलूनानां विषं हन हन सर्वविषं बन्धय बन्धय बन्धय वज्रतुंड उच्चाटय मारणमोहनवशीकरणस्तम्भनजृम्भणाकर्षणोच्चाटनमिलनविद्वेषणयुद्धतर्कमर्माणि बन्धय बन्धय ॐ कुमारीपदत्रिहारबाणोग्रमूर्तये ग्रामवासिने अतिपूर्वशक्ताय सर्वायुधधराय स्वाहा अक्षयाय घे घे घे घे ॐ लं लं लं घ्रां घ्रौं स्वाहा ॐ ह्लाँ ह्लीं ह्लूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥

ॐ श्रां श्रीं श्रूं श्रैं श्रौं श्रः ॐ नमो भगवते भद्रजानिकटरुद्रवीरहनुमते टं टं टं लं लं लं देवदत्तदिगम्बराष्टमहाशक्त्यष्टाङ्गधर अष्टमहाभैरवनवब्रह्मस्वरूप दशविष्णुरूप एकादशरुद्रावतार द्वादशार्कतेजः त्रयोदशसोममुख वीरहनुमन् स्तंभिनीमोहिनीवशीकरिणीतन्त्रैकसावयव नगरराजमुखबन्धन बलमुखमकरमुखसिंह-

मुखजिह्वामुखानि बन्धय बन्धय स्तम्भय स्तम्भय व्याघ्रमुखसर्व-वृश्चिकाग्निज्वालाविषं निर्गमय निर्गमय सर्वजनवैरिमुख बन्धय बन्धय पापहर वीर हनुमन् ईश्वरावतार वायुनन्दन अञ्जनासुत बन्धय बन्धय श्रीरामचन्द्रसेवक ॐ ह्लां ह्लां ह्लां आसय आसय ह्लीं ह्लां घ्री क्रीं यं भैं म्रं म्रः हट् हट् खट् खट् सर्वजन-विश्वजन-शत्रुजन-वश्यजन-सर्वजनस्य दृशं लं लां श्रीं ह्रां ह्रीं मनः स्तम्भय स्तम्भय भञ्जय भञ्जय अद्रि ह्रीं व ह्रीं ह्रीं मे सर्व ह्रीं ह्रीं सागरह्रीं ह्रीं वं व सर्वमन्त्रार्थाथर्वणवेदसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा। श्रीराम-चन्द्र उवाच । श्रीमहादेव उवाच । श्रीवीरभद्रस्तौ उवाच । त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः ।

इस प्रकार मानसिक पूजा करके अधोलिखित मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिए इनसे हवन (होम) करना चाहिये—

ॐ नमो भगवते दावानल कालाग्नि हनुमते··· ···हनुमन् रक्ष-रक्ष ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रं फट् घे घे स्वाहा ॥ १ ॥

ॐ नमो भगवते चण्डप्रताप हनुमते··· ···खादय खादय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं हुँ फट् घे घे स्वाहा ॥ २ ॥

ॐ नमो भगवते चिन्तामणि हनुमते··· ···निर्विषं कुरु कुरु घे घे स्वाहा ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ग्लां ग्लीं ग्लूं ॐ नमो भगवते पाताल गरुड हनुमते··· ···वारय वारय ··· घे घे स्वाहा ॥ ४ ॥

ॐ नमो भगवते कालाग्निरौद्र हनुमते··· ···भ्रां भ्रौं स्वाहा हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ५ ॥

ॐ श्रां श्रीं श्रूं श्रैं श्रौं श्रः ॐ नमो भगवते भद्रजानिकटरुद्र-

वीर हनुमते··· ··· ···ह्रीं ह्री सागरह्रीं ह्रीं वं वं सर्व. मन्त्रार्थाथर्वण वेदसिद्धि कुरु कुरु स्वाहा ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्री रामचन्द्र तथा शिवने वीरभद्र को तथा वीरभद्र ने उन दोनों को कहा। इस सारे विधि विधान को पूछा समझा आदि।

इसे जो तीनों प्रातः मध्याह्न एवं सायं सन्ध्या के समय पढ़ता है उसको वे सभी वस्तुयें हो जाया करती है जो कि ऊपर लिखे मन्त्रों में निर्दिष्ट है।

॥ लांगूलोपनिषद् समाप्त ॥

गायत्री रहस्योपनिषत्

ॐ स्वस्ति सिद्धम् । ॐ नमो ब्रह्मणे । ॐ नमस्कृत्य याज्ञवल्क्यः ऋषिः स्वयंभुवं परिपृच्छति । हे ब्रह्मन् गायत्र्या उत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि । अथातो वसिष्ठः स्वयंभुवं परिपृच्छति । यो ब्रह्मा स ब्रह्मोवाच । ब्रह्मज्ञानोत्पत्तेः प्रकृति व्याख्यास्यामः । को नाम स्वयंभू पुरुष इति । तेनाङ्गुलीमथ्यमानात् सलिलमभवत् । सलिलात् फेनमभवत् । फेनाद्बुद्बुदमभवत् । बुद्बुदादण्डमभवत् । अन्डाद्ब्रह्माभवत् ब्रह्मणो वायुरभवत् । वायोरग्निरभवत् । अग्नेरोङ्कारोऽभवत् । ओंकाराद्व्याहृतिरभवत् । व्याहृत्याः गायत्र्यभवत् । गायत्र्याः सावित्र्यभवत् । सावित्र्याः सरस्वत्यभवत् । सरस्वत्याः सर्वे वेदा अभवन् । सर्वेभ्यो वेदेभ्यः सवे लोका अभवन् । सर्वेभ्यो लोकेभ्यः सर्वे प्राणिनोऽभवन् ।

ॐ स्वस्ति (कल्याण हो) सबको सिद्धि प्राप्त हो । ब्रह्म को नमस्कार हो । इस प्रकार प्रणाम कर याज्ञवल्क्य ऋषिजी स्वयं भुव से पूछते है—तो जो ब्रह्म स्वरूप ब्रह्मा है वह बोले—ब्रह्म ज्ञान की उत्पत्ति की प्रकृति की आदि कारण की व्याख्या की जाती है । कौन स्वयम्भू है ? वही पुराण पुरुष । उसने अँगुली का मन्थन करते हुए जल को उत्पन्न किया (उससे जल उत्पन्न) हुआ । जल से फेन, फेन से बुद्बुद, बुद्बुद से अण्डा, अण्डे से ब्रह्मा, ब्रह्मा से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से ॐकार, ॐकार से व्याहृति, व्याहृति से गायत्री, गायत्री से सावित्री, सावित्री से सरस्वती, सरस्वती से सभी वेद, सब वेदों से सारे लोक, और अन्त में सब लोकों से सारे प्राणी उत्पन्न हुए ।

अथातो गायत्री व्याहृतयश्च प्रवर्तन्ते । का च गायत्री काश्च व्याहृतयः । किं भूः किं भुवः किं सुवः किं महः किं जनः किं तपः किं सत्यं किं तत् किं सवितुः किं वरेण्य किं भर्गः किं देवस्य किं धीमहि किं धियः किं यः किं नः किं प्रचोदयात् । ॐ भूरिति भुवो लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षलोकः । स्वरिति स्वर्गलोकः । मह इति महर्लोकः । जन इति जनोलोकः । तप इति तपोलोकः । सत्यमिति सत्यलोकः । तदिति ददसौ तेजोमयं तेजोऽग्निर्देवता । सवितुरिति सविता सविता सावित्रमादित्यो वै । वरेण्यमित्यत्र प्रजापतिः । भर्ग इत्यापो वै भर्गः । देवस्य इतीन्द्रो देवो द्योतत इति स इन्द्रस्तस्मात् सर्वपुरुषो नाम रुद्रः । धीमहीत्यन्तरात्मा । धिय इत्यन्तरात्मा परः । य इति सदाशिवपुरुषः । नो इत्यस्माकं स्वधर्मे । प्रचोदयादिति प्रचोदितकाम इमान् लोकाम् प्रत्याश्रयते यः परो धर्म इत्येषा गायत्री ।

सो यही से गायत्री तथा व्याहृतियाँ प्रवर्तित होती है ।

गायत्री कौन है ? व्याहृतियाँ कौन है ? तथा भू भुवः, स्वः, महः जनः, तपः, सत्य, तत्, सवितु वरेण्यं, भर्गः, देवस्य धीमहि, धियः, यः नः तथा प्रचोदयात् क्या हैं, कि स्वरूप है ?

उत्तर—ॐ । भूः ये भूलोक का वाचक है, भुवः आकाश का, स्वः स्वर्ग लोक का, महः महर्लोक का, जनः जनलोक का, तपः तपोलोक का, सत्यम् सत्य लोक का, तत् तेजस्वी अग्नि देव का, सवितुः ये सूर्य का, बरेण्यम् यह प्रजापति (ब्रह्मा) का, भर्गः जल का, देवस्य यह तेजस्वी इन्द्र का (जो परम ऐश्वर्य का द्योतक सर्वपुरुष नामक रुद्र से प्रसिद्ध है उसका) धीमहि यह अन्तरात्मा का, धियः ये दूसरी अन्तरात्मा (ब्रह्म) का, यः यह उस सदाशिव पुरुष का, नः यह अपने स्वरूप का (हमारे इस अर्थ का वाचक) इस प्रकार सभी यथोक्तक्रम से तत्तत् स्वरूप के बोधक हैं । प्रचोदयात् यह प्रेरणा की इच्छा का द्योतक है । इन सभी लोकों का आश्रयण जो धर्म करा दे वही गायत्री है ।

सा च किंगोत्रा कत्यक्षरा कतिपादा। कति कुक्षयः। कानि शीर्षाणि। सांख्यायनगोत्रा सा चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपादा चतुष्पादा। पुनस्तस्याश्चत्वारः पादाः षट् कुक्षिकाः पञ्च शीर्षाणि भवन्ति। के च पादाः काश्च कुक्षयः कानि शीर्षाणि। ऋग्वेदोऽस्याः प्रथमः पादो भवति। यजुर्वेदो द्वितीयः पादः। सामवेदस्तृतीयः पादः। अथर्ववेदश्चतुर्थः पादः। पूर्वा दिक् प्रथमा कुक्षिर्भवति। दक्षिणा द्वितीया कुक्षिर्भवति। पश्चिमा तृतीया कुक्षिर्भवति। उत्तरा चतुर्थी कुक्षिर्भवति। ऊर्ध्वं पञ्चमी कुक्षिर्भवति। अधः षष्ठी कुक्षिर्भवति। व्याकरणोऽस्याः प्रथमः शीर्षो भवति। शिक्षा द्वितीयः। कल्पस्तृतीयः निरुक्तश्चतुर्थः। ज्योतिषामयनमिति पंचमः। का दिक् को वर्णः किमायतनं कः स्वरः किं लक्षणं कान्यक्षरदैवतानि क ऋषयः कानि छन्दांसि काः शक्तयः कानि तत्त्वानि के चावयवाः। पूर्वायां भवतु गायत्री। मध्यमायां भवतु सावित्री। पश्चिमायां भवतु सरस्वती। रक्ता गायत्री। श्वेता सावित्री। कृष्णा सरस्वती। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरायतनानि।

वह किस गोत्र वाली, कितने अक्षर वाली, कितने पाद वाली, कितनी कुक्षिवाली है तथा उसके शीर्ष मूर्धादिस्थान कौन है ?

उत्तर—वह सांख्यायन गोत्र वाली, चौबीस अक्षर वाली गायत्री तीन पाद तथा चार पाद की है। फिर उसके चार पाद, छः कुक्षियाँ तथा पाँच शिर है ?

कौन पाद है ? कुक्षियाँ कौन है ? शिर कौन है ?

ऋग्वेद इसका प्रथम पाद है। यजुर्वेद दूसरा, सामवेद तीसरा तथा अथर्ववेद चौथा पाद है। पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि, दक्षिण दिशा दूसरी कुक्षि, पश्चिम तीसरी तथा उत्तर दिशा चौथी कुक्षि है। ऊर्ध्व देश (आकाश) पाँचवी कुक्षि तथा नीचे की भूमियाँ छठी कुक्षि है।

व्याकरण इसका पहला सिर, शिक्षा दूसरा, कल्प तीसरा, निरुक्त चौथा, तथा ज्योतिष पाँचवाँ शिर है।

किस दिशा में, किस रङ्ग की अधिष्ठात्री देवियाँ स्थित हैं? उनका विस्तार क्या है? स्वर, लक्षण क्या है? किन अक्षरों की वह अधिष्ठातृ देवियाँ हैं? कौन उनके ऋषि हैं? कौन छन्द है? कौन शक्तियाँ है? कौन तत्व है तथा कौन अवयव है?

पूर्व मे गायत्री, जिसका रङ्ग लाल है, मध्यम में (दक्षिण मे) सावित्री जिसका रङ्ग सफेद है, पश्चिम में सरस्वती जिसका वर्ण काला है स्थित हैं। ध्यान करने योग्य है।

पृथिवी, आकाश तथा स्वर्ग इनके विस्तार स्थल निवासस्थान हैं।

अकारोकारमकाररूपोदात्तादिस्वरा[illegible] म। पूर्वा सन्ध्या हंसवाहिनी ब्राह्मी। मध्यमा वृषभवाहिनी माहेश्वरी। पश्चिमा गरुडवाहिनी वैष्णवी। पूर्वाह्णकालिका सन्ध्या गायत्री कुमारी रक्ता रक्ताङ्गी रक्तवासिनी रक्तगन्धमाल्यानुलेपनी पाशांकुशाक्ष-मालाकमण्डलुवरहस्ता हंसारूढा ब्रह्मदैवत्या ऋग्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भूमण्डलवासिनी। मध्याह्नकालिका सन्ध्या सावित्री युवती श्वेताङ्गी श्वेतवासिनी श्वेतगन्धमाल्यानुलेपनी त्रिशूलडमरुहस्ता वृषभारूढा रुद्रदैवत्या यजुर्वेदसहिता आदित्य-पथगामिनी भुवोलोके व्यवस्थिता। सायं सन्ध्या सरस्वती वृद्धा कृष्णांगी कृष्णवासिनी कृष्णगन्धमाल्यानुलेपना शङ्खचक्रगदाभय-हस्ता गरुडारूढा विष्णुदैवत्या सामवेदसहिता आदित्यपथ-गामिनी स्वर्गलोकव्यवस्थिता।

ये तीनों अकार, उकार तथा मकार रूप उदात्तादि स्व-रात्मक हैं।

प्रातःकालीन जो सन्ध्या है, वह हंस में बैठने वाली ब्रह्मा के

स्वरूप के समान, मध्यमा सन्ध्या बैल पर आरूढ़ शङ्कर स्वरूपिणी तथा अन्तिम सायकालीन गरुड़ के ऊपर स्थित तथा विष्णु स्वरूप चतुर्भुजा शङ्खादिधरा है।

पूर्वाह्णकाल वाली सन्ध्या गायत्री, कुमारी लाल वर्ण, लाल वस्त्र वाली, लाल चन्दन, लाल मालाओं को धारण करने वाली, पाश, अंकुश, अक्षमाला, कमण्डलु, आदियो से शोभित हाथ वाली, हंस मे बैठी, ब्रह्माधिदेवता, ब्रह्मस्वरूपिणी, ऋग्वेद सहित, सूर्य के मार्ग में विचरण करने वाली तथा पृथिवी पर निवास करने वाली है।

मध्याह्न काल वाली जो सन्ध्या है वह युवती, स्वच्छ सफेद वर्ण वाली, सफेद वस्त्रों को धारण करने वाली, सफेद चन्दन तथा मालाये धारण करने वाली, त्रिशूल तथा डमरू धारण किए, बैल पर बैठी, रुद्राधिदेवता, यजुर्वेद युक्त (यजुर्वेद जिसके एक हाथ में पुस्तक रूप में विराजमान है) सूर्य मार्ग में सञ्चरण करने वाली आकाश में स्थित रहने वाली है।

सायंकालीन सन्ध्या सरस्वती है। वह बूढ़ी काले रङ्ग की, काले वस्त्रों को धारण करने वाली, काले गन्ध तथा माला का अनुलेपन करने वाली, शङ्ख, चक्र तथा गदा लिए गरुड़ पर स्थित विष्णु अधिदैवत्य (विष्णु जिसका अधिदेवता है) सामवेद युक्त सूर्य मार्गगामी तथा स्वर्ग लोक में निवास करने वाली है।

अग्निवायुसूर्यरूपाऽऽहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निरूपा ऋग्यजुःसामरूपाभूर्भुवःस्वरितिव्याहृतिरूपाप्रातर्मध्याह्नतृतीयसवनात्मिका सत्वरजस्तमोगुणात्मिका जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तरूपा वसुरुद्रादित्यरूपा गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीरूपा ब्रह्मशंकरविष्णुरूपेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपा स्वराड्विराड्वषड्ब्रह्मरूपेति। प्रथममाग्नेयं द्वितीयं प्राजापत्यं तृतीय सौम्यं चतुर्थमीशानं पंचममादित्यंषष्ठं गार्हपत्यं सप्तमं

मैत्रमष्टमं भगदैवत नवममार्यमणं दशमं सावित्रमेकादश त्वाष्ट्रं द्वादशं पौष्णं त्रयौदशमैन्द्राग्नं चतुर्दशं वायव्यं पंचदशं वामदेवं षोडशं मैत्रावरुण सप्तदशं भ्रातृव्यमष्टादशं वैष्णवमेकोनविंशं वामनं विशं वैश्वदेवमेकविंशं रौद्रं द्वाविंशं कौबेरं त्रयोविंशमाश्विनं चतुर्विशं ब्राह्ममिति प्रत्यक्षरदैवतानि । प्रथमं वासिष्ठं द्वितीय भारद्वाजं तृतीयं गार्ग्यं चतुर्थमौपमन्यवं पंचमं भार्गवं षष्ठं शाण्डिल्यम् सप्तमम् लौहितमष्टमं वैष्णवम् नवमम् शातातपम् दशमम् सनत्कुमारमेकादशम् वेदव्यासम् द्वादशम् शुकम् त्रयोदशम् पाराशर्यम् चतुर्दशम् पौन्ड्रकम् पन्चदशम् क्रतुम् षोडशम् दाक्षम् सप्तदशम् काश्यपमष्टादशमात्रेयमेकोनविंशमगस्त्यं विंशमौद्दालकमेकविंशमांगिरसम् द्वाविंशम् नामिकेतुं त्रयोविंशम् मौद्गल्यम् चतुर्विंशमाङ्गिरसं वैश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति ।

ये गायत्री अग्नि वायु सूर्यरूप, आह्वनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि बह्निरूप, ऋक् यजु तथा सामवेद स्वरूप, भूः, भुर्वः तथा स्वः व्याहृति रूप, प्रातः मध्याह्न तथा सायंकालीन यजु की आत्मस्वरूप, सत्व रज तथा तम गुण वाली, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति का प्रतीक, वसु, रुद्र तथा आदित्यात्मक गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती जो छन्द तन्मयी, ब्रह्म, शङ्कर एवं विष्णु के स्वरूप वाली, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया रूप जो शक्ति तत्स्वरूप स्वराट्, विराट् तथा वषट् रूप जो ब्रह्म तन्मया हैं ।

इसका प्रथम अक्षर अग्नि दैवत्य, दूसरा प्रजापति दैवत्य, तीसरा चन्द्र दैवत्य, चौथा ईशान, (शिव), पाँचवाँ आदित्य, छठा गार्हपत्य (अग्नि विशेष), सातवाँ मैत्र, आठवाँ भग दैवत्य, नौवाँ अर्यमा दैवत्य, दसवाँ सविताधि दैवत्य, ग्यारहवाँ त्वष्टा, बारहवाँ पूषा, तेरहवाँ इन्द्राग्नि, चौदहवाँ वायु, पन्द्रहवाँ वामदेव, सोलहवाँ मैत्रावरुण, सत्रहवाँ भ्रातृव्य, अठारहवाँ विष्णु दैवत्य, उन्नीसवाँ वामन, बीसवाँ

वैश्वदेव, इक्कीसवाँ रुद्रदैवत्य, बाईसवाँ कुवेर दैवत्य तेईसवाँ अश्विनी कुमार दैवत्य तथा चौबीसवां अक्षर ब्रह्माधिदैवत्य है।

पहले अक्षर का ऋषि वशिष्ठ, दूसरे का भरद्वाज, तीसरे का गर्ग, चौथे का उपमन्यु, पांचवे का भृगु (भार्गव) छठे का शाण्डिल्य, सातवें का लोहित, आठवें का विष्णु, नौवें का शातातप, दसवें का सनत्कुमार, ग्यारहवें का वेद व्यास, बारहवें का शुकदेव, तेरहवें का पाराशर्य, चौदहवें का पौड्रकर्म, पन्द्रहवें का क्रतु, सोलहवें का दक्ष, सत्रहवें का कश्यप, अठारहवें का अत्रि, उन्नीसवें का अगस्त्य, बीसवें का उद्दालक, इक्कीसवें का आङ्गिरस, बाईसवें का नामिकेतु, तेईसवें का मुद्गल, चौबीसवें का अङ्गिरागोत्रज विश्वामित्र ये क्रमशः ऋषि है (अर्थात् गायत्री के जो चौबीस अक्षर उनके द्रष्टा ये चौबीस ऋषि हैं।)

गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्तिबृहत्युष्णिगदितिरिति त्रिरावृत्तेन छन्दांसि प्रतिपाद्यन्ते। प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरूपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति चतुर्विंशतिशक्तयो निगद्यन्ते। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशगन्धरसरूपस्पर्शशब्दवाक्यानि पादपायूपस्थत्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणमनोबुद्ध्यहंकारचित्तज्ञानानीति प्रत्यक्षराणां तत्वानि प्रतीयन्ते। चम्पकातसीकुंकुमपिङ्गलेन्द्रनीलाग्निप्रभोद्यत्सूर्यविद्युत्तारकसरोजगौरमरकतशुक्लकुन्देन्दुशङ्खपान्डुनेत्रनीलोत्पलचन्दनागुरुकस्तूरीगोरोचनघनसारसन्निभम् प्रत्यक्षरमनुस्मृत्य समस्तपातकोपपातकमहापातकागम्यागमनगोहत्याब्रह्महत्याभ्रूणहत्या वीरहत्यापुरुषहत्याऽऽजन्मकृतहत्यास्त्रीहत्यागुरुहत्यापितृहत्याप्राणहत्याचराचर-हत्याऽभक्ष्यभक्षणप्रतिग्रहस्वकर्मविच्छेदनस्वाम्यार्तिहीनकर्मकरण-परधनापहरणशूद्रान्नभोजनशत्रुमारणचन्डालीगमनादिसमस्तपाप-हरणार्थम् सस्मरेत्।

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती अनुष्टुप, पंक्ति, बृहती, उष्णिक् ये त्रिरावृत (तीन आवृत्ति युक्त) छन्द गिनाये जाते है ।

इसकी चौबीस शक्तियाँ इस प्रकार हैं—प्रह्लादिनी, प्रज्ञा, विश्वभद्र, विलासिनी प्रभा, शान्ता, मा, कान्ति, स्पर्शा दुर्गा, सरस्वती, विरूपा, विशालाक्षी, शालिनी, व्यापिनी, विमला, तमोऽपहारिणी, सूक्ष्मावयवा, पद्मालया, विरजा, विश्वरूपा, भद्रा, कृपा तथा सर्वतोमुखी ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, वाक्य, पैर, मल मूत्रेन्द्रियाँ, त्वचा, आँख, कान, जीभ, नाक, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त तथा ज्ञान ये गायत्री के प्रत्येक अक्षर के तत्व हैं ।

चम्पा, अतसी, (एक नीला फूल) कुंकुम, पिंगल, इन्द्र नील, अग्निप्रभा, उद्यत्सूर्य, विद्यु त्तारक, सरोज, गौर मरकत, शुक्ल, कुन्द, इन्दु, शंख, पांडु नेत्र नील कमल चन्दन अगुरु, कस्तूरी गोरोचना कपूर के समान इन प्रत्येक अक्षरों का आश्रय सभी पाप उपपातक, महापातक, अगम्यागमन (जिनसे योनि सम्बन्ध नहीं होना चाहिये उनसे योनि सम्बन्ध करना आदि), गोहत्या, ब्रह्म हत्या, भ्रूण (गर्भपात) हत्या, बीर हत्या, पुरुष हत्या, सारे जन्मों में की हुई हत्यायें, स्त्री हत्या, गुरु हत्या, पितृ हत्या, आत्मघात, चराचर जीवों की हत्या, जो खाने लायक नहीं उन्हे खाने से होने वाली हत्या, दान व अपने कर्म का त्याग, स्वामी की सेवा से पराङ्मुख कर्म करने वाला, दूसरे के धन को चुराने से होने वाले पाप, शूद्र के अन्न को खाने, शत्रु घात, चाण्डाली से योन सम्बन्ध रखना आदि सारे पापों के हरण के लिए याद करना चाहिए ।

मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो विष्णुर्ललाटं रुद्रश्चक्षुषी चन्द्रादित्यौ कर्णौ शुक्रबृहस्पती नासापुटे अश्विनौ दन्तोष्ठावुभे सन्ध्ये मुखं मरुतः स्तनौ वस्वादयौ हृदयं पर्जन्य उदरमाकाशो नाभिरग्निः कटिरिन्द्राग्नी जघनं प्राजापत्यमूरू कैलासमूलं जानुनी विश्वेदेवौ

जङ्घे शिशिरः गुल्फानि पृथिवीवनिस्पत्यादीनि नखानि महती अस्थीनि नवग्रहा असृक्के तुर्मांसमृतुसन्धयः कालद्वयास्फालनं संवत्सरोनिमेषोऽहोरात्र मिति वाग्देवीं गायत्रीं शरणमहं प्रपद्ये ।

य इदं गायत्रीरहस्यमधीते तेन ऋतुसहस्रभिष्टं भवति । य इदं गायत्रीरहस्यमधीते दिवसकृतं पापं नाशयति । प्रातर्मध्याह्नयोः षण्मासकृतानि पापानि नाशयति । सायं प्रातर्धीयानो जन्मकृतं पापं नाशयति । य इदं गायत्रीरहस्यं ब्राह्मणः पठेत् तेन गायत्र्याः षष्टिसहस्रलक्षाणि जप्तानि भवन्ति । सर्वान् वेदानधीतो भवति । सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । अपेयपानात् पूतो भवति । अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति । वृषलीगमनात् पूतो भवति । अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी भवति । पङ्क्तिषु सहस्रपानात् पूतो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति । इत्याह भगवान् ब्रह्मा ।

मै ऐसी वाणी की अधिष्ठात्री देवी गायत्री का आश्रय लेता हूँ कि शिर ब्रह्ममय शिखान्त भाग विष्णु, ललाट (मस्तक) रुद्र, आँखें सूर्य तथा चन्द्रमा कान शुक्राचार्य तथा बृहस्पति नाक के रन्ध्र अश्विनीकुमार दाँतों के होठ दोनों सन्ध्यायें मुख मरुत् (वायु) स्तन वसु आदि, हृदय बादल, पेट आकाश, नाभि अग्नि, कमर इन्द्र तथा अग्नि जांघ प्राजापत्य उरुद्वय कैलास के मूलस्थल, घुटने विश्वेदेव जङ्घायें शिशिर, गुल्फ (पृथ्वी की वनस्पति आदि) नख महान् तत्व हड्डियाँ नवग्रह, अन्तड़ियाँ केतु, माँस ऋतु सन्धियाँ, दोनों कालोंका(गमन) बोधक, वर्ष तथा निमेष दिन एवं रात है ।

जो इस गायत्री का अध्ययन करता है । उसने तो मानों हजारों यज्ञ कर लिए । जो इस गायत्री रहस्य को पढ़ता है वह दिन में किए पापों को नष्ट कर देता है ।

जो सुबह एवं मध्याह्न में इसे पढ़ता है, वह अपने छः महीने के पापों से मुक्त हो जाता है । जो प्रतिदिन प्रातः सायं इसका अध्ययन

करे, वह सारे जन्म के पापों को नष्ट कर देता है। जो ब्राह्मण इस गायत्री रहस्य को पढ़े तो उसने मानों गायत्री मन्त्र को साठ हजार लाख बार जप लिया है।

उसने सारे वेदों का अध्ययन कर लिया। सभी तीर्थों में उसने स्नान कर लिया। न पीने लायक (शराब आदि) को पीने से जो पाप होता है उसमे भी मुक्त हो जाता है। न खाने लायक को खाने से हुए पाप से मुक्त हो जाता है।

ब्रह्मचारी न भी हो तो ब्रह्मचारी के समान तेजस्वी हो जाता है। पंक्तियों मे हजार बार (अपेय) पान कर पवित्र हो जाता है। तथा आठ ब्राह्मणों को इसका ग्रहण करवाकर, बताकर, समझाकर ब्रह्मलोक को चला जाता हैं। ये सब भगवान् (प्रजापति) ब्रह्मा ने इस प्रकार उत्तर देकर समझाया।

॥ गायत्रीरहस्योपनिषद्समाप्त ॥

सावित्र्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों । वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों । सब उपनिषद् ब्रह्म रूप है । मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे । ऐसे ब्रह्मरत रहते हुए मुझको उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो । ॐ शान्ति शान्तिः शान्तिः ।

कः सविता का सावित्री ? अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री स यत्राग्निस्तत् पृथिवी यत्र वा पृथिवी तत्राग्निस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् । १ । कः सविता का सावित्री ? वरुण एव सविताऽऽपः सावित्री स यत्र वरुणस्तदापो यत्र वा आपस्तद्वरुणस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ।।२।। कः सविता काः सावित्री ? वायुरेव सविताऽऽकाशः सावित्री स यत्र वायुस्तदाकाशो यत्र वा आकाशस्तद्वायुस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ।।३।। कः सविता का सावित्री ? यज्ञ एव सविता छन्दांसि सावित्री स यत्र यज्ञस्तच्छन्दांसि यत्र वा छन्दांसि स यज्ञस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ।।४।। कः सविता का सावित्री ? स्तनयित्नुरेव सविता विद्युत् सावित्री

स यत्र स्तनयित्नुस्तद्विद्युत् यत्र वा विद्युत्त स्तनयित्नुस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ५ ॥ कः सविता का सावित्री ? आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री स यत्रादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वा द्यौस्तदादित्यस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ६ ॥ कः सविता का सावित्री? चन्द्र एव सविता नक्षत्राणि सावित्री स यत्र चन्द्रस्तन्नक्षत्राणि यत्र वा नक्षत्राणि स चन्द्रमास्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ७ ॥ कः सविता का सावित्री ? मन एव सविता वाक् सावित्री स यत्र वा मनस्तद्वाक् यत्र वा वाक् तन्मनस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ८ ॥ कः सविता का सावित्री ? पुरुष एव सविता स्त्री सावित्री स यत्र पुरुषस्तत् स्त्री यत्र वा स्त्री तत् पुरुषस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ९ ॥

सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? अग्नि सविता और पृथिवी सावित्री हैं। जहाँ अग्नि है वही पृथिवी है और जहाँ पृथिवी है वहाँ अग्नि हैं। वे दोनों योनि अर्थात संसार के जन्मदाता है, वे दोनों एक युग्म है। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? वरुण देव ही सविता है और जल ही सावित्री, जहाँ वरुण देवता हैं वहीं जल हैं और जहाँ जल है वहीं वरुण देवता हैं। दोनों योनि अर्थात् संसार के उत्पत्ति कर्ता हैं। वे दोनों एक युग्म है । सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? वायु सविता है और आकाश सावित्री। जहाँ वायु देव है वहीं आकाश हैं। जहाँ आकाश हैं वहीं वायु देव है। वे दोनों योनि हैं, एक युग्म हैं। सविता किसे कहते है और सावित्री किसे ? यज्ञ देव सविता हैं और छन्द सावित्री। जहाँ यज्ञ देव हैं वहीं छन्द हैं। जहाँ छन्द हैं वहीं यज्ञ देव हैं। वे दोनों योनि है एक युग्म हैं। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? गरजन करने वाले बादल सविता हैं और विद्युत

सावित्री । जहाँ गरजन करने वाले बादल हैं, वहीं विद्युत हैं । जहाँ विद्युत हैं वहीं गरजन करने वाले बादल है । वे दोनों एक योनि हैं, एक युग्म है । सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? सूर्य को सविता कहते हैं और द्युलोक को सावित्री । जहाँ सूर्यदेव हैं वहीं द्युलोक हैं, जहाँ द्युलोक है, वहीं सूर्यदेव हैं । वे दोनों योनि है, एक युग्म हैं । सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? चन्द्रदेव को ही सविता कहते हैं और नक्षत्र को सावित्री । जहाँ चन्द्र देव हैं वहीं नक्षत्र हैं । जहाँ नक्षत्र हैं वहीं चन्द्र देव हैं । वे दोनों एक योनि है, एक युग्न हैं, । सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? मन को ही सविता कहा गया है और वाणी को सावि ी, जहाँ मन है वही वाणी हैं, जहाँ वाणी हैं वहीं मन है । वे दोनों एक योनि हैं, एक युग्म है । सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? पुरुष को ही सविता कहा जाता है और स्त्री को सावित्री । जहाँ पुरुष है वहीं स्त्री है, जहाँ स्त्री है वहीं पुरुष है । वे दोनों एक योनि है । एक युग्म हैं ।।१-६।।

तस्या एव[ष] प्रथमः .पादो भूस्तत्सवितुर्वरेण्यमित्यग्निर्वै वरेण्यमापो वरेण्यं चन्द्रमा वरेण्यम् । १० । तस्या एव [ष]-द्वितीयः पादो भर्गमयो भुवो भर्गो देवस्य धीमहीत्यग्निर्वै भर्ग आदित्यो वै भर्गश्चन्द्रमा वै भर्गः ।। ११ ।। तस्या एष तृतीयः पादः स्वर्धियो यो नः प्रचोदयादिति स्त्री चैव पुरुषश्च प्रजयनतः ।। १२ ।।

योवा एतां सावित्रीमेवं वेद स पुनर्मृत्युं जयति ।।१३।।

सावित्री का पहला पाद—'भूः—तत्सवितुर्वरेण्ययम' है । अग्नि, जल व चन्द्रमा देवता ही वरेण्य हैं । सावित्री का दूसरा पाद है "भुवः—भर्गो देवस्य धीमहि' वह तेजोमय है । अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा देवता ही वह भर्ग तेज हैं । सावित्री का तीसरा पाद है "धियो योनः प्रचोदयात् ।"

इस सावित्री देवी को जो स्त्री और पुरुष गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए समझते हैं वे मृत्यु से छूट जाते है अर्थात पुनः जन्म नहीं लेते । १०-१३ ।

बलातिबलयोर्विराट् पुरुष ऋषिः । गायत्री छन्दः । गायत्री देवता । अकारोकारमकारा बोजाद्याः । क्षुधाऽऽदिनिरसने विनियोगः । क्लामित्यादि षडङ्गम् । ध्यानम्—

अमृतकरतलाग्रौ सर्वसंजीवनाढ्या-

वघहरणसुदक्षौ वेदसारे मयूखे ।

प्रणवमयविकारौ भास्कराकारदेहौ

सततमनुभवेऽहं तौ बलातिबलान्तौ ॥

ओ३म् ह्री बले महादेवि ह्री महाबले क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुच्छ्रमोपनाशिनी धीमहि धियो यो नजति प्रचुर्या या प्रचोदयात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहाः ॥ १४ ॥

एवं विद्वान् कृतकृत्यो भवति सावित्र्या एव सलोकतां जयतीत्युपनिषत् ॥ १५ ॥

बलि अतिबलि नाद की दो विद्याओं के ऋषि विराट पुरुष हैं और उनका छन्द और देवता गायत्री है । उसका 'अ'कार बीज है और 'उ'कार शक्ति उनका 'म'कार कीलक है । भूर की निवृति के लिए इसका विनियोग है । क्लीं के मध्यम से इनका षडनुन्मास करना चाहिए । ॐ क्लीं हृदयाय नमः, ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा, ॐ क्लीं शिखायै वषट्, ॐ क्लीं कवचाय हुम, ॐ क्ली नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ क्लीं अस्त्राय फट् ।" अब ध्यान का वर्णन किया जाता है । मैं उन बला अतिबलि विद्याओं

के देवताओं को सदैव अनुभव करता हूँ जो सूर्य के समान चमकते हुए शरीर वाले, प्रणव स्वरूप, :किरणात्मक, वेदों के साररूप, पापों को समाप्त करने में दक्ष, सब तरह की सन्जीवनी शक्तियों से अधिष्ठित हैं और जिनके हाथ अमृत से भरे हुए हैं। बलि और अनिबलि दोनों विद्याओं के देवताओं का मन्त्र इस प्रकार है।

ॐ ह्रों बले महादेवि ह्री महाबले क्लीं चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धिप्रदे तत्सवतुर्वरदात्मिके ह्रीं वरोण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुद्भ्रमोपनाशिनि धीमहिधियो या नो जाते प्रचुर्य या प्रचोदयायत्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा।

इस तरह इन विद्याओं को जानने वाला धन्य हो जाता है। वह सावित्री देवी के लोक में पहुँचने की सामर्थ्य रखता है। यह उपनिषद् है ॥ १४ ॥

॥ सावित्र्युपनिषत् समाप्त ॥

सरस्वतीरहस्योपनिषत्

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्तिपाठ—ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ। मै ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

ऋषयो ह वै भगवन्तमाश्वलायनं संपूज्य पप्रच्छुः—

केनोपायेन तज्ज्ञानं तत्पदार्थविभासकम् ।
यदुपासनया तत्त्वं जानासि भगवन् वद ॥ १ ॥

सरस्वतीदशश्लोक्या सऋचा बीजमिश्रया ।
स्तुत्वा जप्त्वा परां सिद्धमलभं मुनिपुङ्गवा : ॥ २ ॥

ऋषय ऊचुः—

कथं सारस्वतप्राप्तिः केन ध्यानेन सुव्रत ।
महासरस्वती येन तुष्टा भगवती वद ॥ ३ ॥

स होवाचाश्वलायनः—

अस्य श्रीसरस्वतीदशश्लोकमहामन्त्रस्य—अहमाश्वलायन ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीवागीश्वरी देवता। यद्वागिति बीजम्। देवीं वाचमिति शक्तिः। प्रणो देवीति कीलकम्। विनियोगस्तत्प्रीत्यर्थे। श्रद्धा मेधा प्रज्ञा धारणा वाग्देवता महासरस्वतीत्येतैरङ्गन्यासः॥ ४॥

एक समय की बात है भगवान् आश्वलायन के निकट ऋषिगण गए और उनकी विधिवत् पूजा कर प्रश्न किया 'भगवन्! जिस ज्ञान के द्वारा तत् पदात्मक परमेश्वर का स्पष्ट बोध होता है, उस ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार हो? आपको जिस देवता की उपासना द्वारा तत्व ज्ञान की प्राप्ति हुई है, उसके सम्बन्ध में बताने की कृपा करिये।'

भगवान् आश्वलायन ने कहा—'ऋषियो! मैंने बीज मंत्र सहित दस ऋषिओं वाली सरस्वती दशश्लोकी के द्वारा उपासना करते हुए परासिद्धि को प्राप्त किया है।'

ऋषियों ने पुनः प्रश्न किया—' हे श्रेष्ठ व्रती महर्षे! उस सारस्वत मंत्र की उपलब्धि आपको किस ध्यान के द्वारा किस प्रकार हुई, जिससे आप पर भगवती महासरस्वतीजी का अनुग्रह हुआ है। हमारे प्रति भी उस उपाय को कहने की कृपा करें।'

इस पर उन प्रसिद्ध आश्वलायन ने कहा—'इस श्री सरस्वती दशश्लोकी महामन्त्र का ऋषि मैं ही हूँ। इसका छन्द अनुष्टुप्, देवता वागीश्वरी और बीज यद्वाग् है। शक्ति 'देवीं वाचं', कीलक 'प्रणो देवी' है। इसका विनियोग श्री वागीश्वरी देवता के प्रीत्यर्थ है। अङ्गन्यास श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा, वाग्देवता और महासरस्वती इन नाम-मंत्रों से किया जाता है॥ १-४॥

नीहारहारघनसारसुधाकराभां

कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम् ।
उत्तुङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं
वाणीं नमामि मनसा वचसां विभूत्यै ॥ ५ ॥

प्रणो देवीत्यस्य मन्त्रस्य—भरद्वाज ऋषिः । गायत्री छन्दः । श्रीसरस्वती देवता । प्रणवेन बीज शक्तिकीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः । मन्त्रेण न्यासः ॥ ६ ॥

या वेदान्तार्थतत्त्वैकस्वरूपा परमेश्वरी ।
नामरूपात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥ ७ ॥

ॐ प्रणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
धीनामवित्र्यवतु ॥ ८ ॥

आ नो दिव इति मन्त्रस्य—अत्रिर्ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । ह्रीमिति बीजशक्तिकीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः । मन्त्रेण न्यासः ॥ ९ ॥

या सङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकव गीयते ।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती ॥ १० ॥

ह्रीं आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा
सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम् ।
हवं देवी जुजुषाणा घृताची
शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु ॥ ११ ॥

पावका न इति मन्त्रस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । सरस्वती देवता । श्रीमिति बीजशक्तिकीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः । मन्त्रेण न्यास ॥ १२ ॥

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्तते ।
अनादिनिधनाऽनन्ता सा मां पातु सरस्वती ॥ १३ ॥

श्रीं पावका नःसरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥ १४ ॥

चोदयित्रीति मन्त्रस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । सरस्वती देवता । ब्लूमिति बीजशक्तिकीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ १५ ॥

ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—'कल्याण प्रदायिनी, हिम, कपूर, मुक्ता अथवा चन्द्रप्रभा के समान शुभ्र कान्तिवती, सुवर्ण के समान पीले चम्पक पुष्पों की माला से अलकृत, उन्नत सुपुष्ट वक्ष सहित सुन्दर अंगवाली वागेश्वरी को मन और वाणी द्वारा विभूति की सिद्धि के निमित्त नमस्कार करता हूँ ।'

'ॐ प्रणो देवी' मन्त्र के ऋषि भरद्वाज, छन्द गायत्री और देवता सरस्वतीजी है । 'ॐ नमः' बीज, शक्ति तो है ही, साथ ही कीलक भी है । अभीष्ट कार्य की सिद्धि के निमित्त इसका विनियोग और मन्त्र के द्वारा अङ्गन्यास किया जाता है ।

'जिन सरस्वती का स्वरूप वेदान्त का सारभूत ब्रह्मतत्व ही है और जो विभिन्न नाम रूपों में प्रकट है, वे सरस्वती मेरी रक्षिका हों ।'

दान से सुशोभित होने वाली, स्तोताओं की रक्षिका एवं अन्नवती भगवती सरस्वती हम साधकों को अन्न से परिपूर्ण करें ॥ १ ॥

'आ नो दिवा०' इस मन्त्र के ऋषि अत्रि, छन्द त्रिष्टुप् और देवता सरस्वती हैं । 'ह्रीं' बीज, शक्ति और कीलक है । इच्छित कार्य की सिद्धि के लिए इसका विनियोग तथा इसी मन्त्र द्वारा न्यास किया जाता है ।

'वेदों और उनके अंग-उपांगों में जिन एक देव की स्तुति की जाती है तथा जो परब्रह्म की अद्वैत शक्ति हैं, वे भगवती सरस्वती हमारी रक्षिका हों ॥ ५–१० ॥

हमारे द्वारा उपासना के योग्य देवी सरस्वती ज्योतिर्मान् सुलोक से नीचे पर्वताकार मेघों के मध्य होती हुई हमारे यज्ञ में पधारें। वे देवी हमारे स्तोत्र से प्रसन्न होकर स्वेच्छा से हमारे सुख उत्पन्न करने वाले स्तोत्रों को श्रवण करें ॥ २ ॥

'पावकान:' इस मन्त्र के ऋषि मधुच्छन्दा, छन्द गायत्री, देवता सरस्वती हैं। बीज, शक्ति और कीलक 'श्री' है। इसका विनियोग कामना सिद्धि के निमित्त तथा इसी मन्त्र द्वारा अङ्गन्यास करने का विधान है।

'जो वर्ण, पद, वाक्य में अर्थों सहित सर्वत्र व्याप्त है, जो आदि, अन्त से परे एवं अनन्त रूप वाली है, वे देवी सरस्वती मेरी रक्षा करने वाली हों।'

जो देवी सरस्वती सबको पवित्र करती है, जो अन्न और कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले धन के प्राप्त कराने में कारणरूपिणी हैं, वे देवी हमारे यज्ञ मे आने की इच्छा करें ॥ ३ ॥

'चोदयित्री०' इस मन्त्र के ऋषि मधुच्छन्दा, छन्द गायत्री, देवता सरस्वती है। बीज, शक्ति और कीलक 'ब्लूं' तथा कार्य पूर्ति के लिए इसका विनियोग एवं मन्त्र द्वारा ही अगन्यास किया जाता है ॥११–१५॥

अध्यात्ममधिदैवं च देवानां सम्यगीश्वरी ।
प्रत्यगास्ते वदन्ती या सा मां पातु सरस्वती ॥ १६ ॥
ब्लूं चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ १७ ॥

महो अर्णेति मन्त्रस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः। गायत्री छन्दः। सरस्वती देवता। सौरिति बीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ १८ ॥

अन्तर्याम्यात्मना विश्वं त्रैलोक्यं या नियच्छति ।

रुद्रादित्यादिरूपस्था सा मां पातु सरस्वती ॥ १९ ॥

सौः महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना ।

धियो विश्वा विराजति ॥ २० ॥

'जो सरस्वती देवताओं की प्रेरणात्मिका शक्ति, अधिदैवरूपिणी एवं हमारे भीतर वाणी रूप में प्रतिष्ठित है, वे भगवती मेरी रक्षिका हों।'

'जो भगवती सत्य एवं प्रिय वाणी बोलने की प्रेरणा देती हैं तथा श्रेष्ठ बुद्धि वाले कर्मशील पुरुषों को उनके कर्त्तव्य का ज्ञान कराती है, उन्हीं देवी सरस्वती ने हमारे इस यज्ञ को धारण किया है ॥ ४ ॥

'महो अर्णः' इस मन्त्र के ऋषि मधुच्छन्दा, छन्द गायत्री, और देवता सरस्वती है। बीज, शक्ति और कीलक 'सौः' है। इसमें मन्त्र के द्वारा ही न्यास किया जाता है।

'जो सरस्वती अन्तर्यामी रूप से लोकत्रय का नियंत्रण करने वाली है तथा जो रुद्र-आदित्य आदि अनेक देवताओं के रूप में अवस्थित हैं, वे हमारी रक्षिका हों।

'नदी रूप में आविर्भूत सरस्वती अपने प्रवाह रूप कर्म के द्वारा अपने में निहित अगाध जल राशि का परिचय देती हैं। वे ही सरस्वती सब प्रकार की कर्त्तव्यात्मक बुद्धि का विकास करती है ॥ १९-२० ॥

चत्वारि वागिति मन्त्रस्य—उचथ्यपुत्र ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः सरस्वती देवता। ऐमिति बीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ २१ ॥

या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानाऽनुभूयते ।

व्यापिनी ज्ञप्तिरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥ २२ ॥

ऐं चत्वारि वाक् परिमिता पदानि

तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।। २३ ।।

यद्वाग्वदन्तीति मन्त्रस्य—भार्गव ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । क्लीमिति बीजशक्तिकीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ।। २४ ।।

नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता ।
निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ।। २५ ।।
क्लीं यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ।।२६।।

'चत्वारि वाक्०' ऋषि उचथ्य-पुत्र दीर्घतमा, छन्द त्रिष्टुप्, देवता सरस्वती, बीज, शक्ति, कीलक 'ऐं' । मन्त्र द्वारा ही अंगन्यास किया जाता है ।

जो सरस्वतीदेवी अन्तर्दृग् वाले जीवों के समक्ष विभिन्न रूपों में प्रकट होती तथा जो ज्ञप्ति रूप से व्याप्त है, वे सरस्वती मेरी रक्षिका बनें ।'

वाणी, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार पदों वाली है इन पदों को ज्ञानी जन भले प्रकार जानते हैं । इनमें से प्रथम तीन तो हृदयगह्वर मे स्थित होने से प्रकट नहीं होतीं । परन्तु वैखरी ही मनुष्यों के बोलने में प्रयुक्त होती है ।। ५ ।।

'यद्वाग्वदन्ति०' ऋषि भार्गव, छन्द त्रिष्टुप्, देवता सरस्वती है । बीज, शक्ति, कीलक 'क्लीं' है । मन्त्र द्वारा ही न्यास होता है ।

'जो देवी सरस्वती नाम-रूप के द्वारा अष्टधा बनी हुई तथा निर्विकल्प रूप में भी प्रकट हैं, वे भगवती मेरी रक्षा करने वाली हों ।'

'दिव्य भावों को प्रकट करने वाली और देवताओं को आनन्दित करने वाली, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करती हुई यज्ञ में विराजमान

होने वाली देवी सब दिशाओं के निमित्त अन्न-जल दुहती है। जो इस मध्यमा वाणी में श्रेष्ठ है, उसका गमन कहाँ होता है ?॥ ६ ॥

'देवी वाचं' ऋषि भार्गव, छन्द त्रिष्टुप्, देवता सरस्वती। बीज, शक्ति, कीलक 'सौः' है। मन्त्र द्वारा ही न्यास करना चाहिए।

'जिन वाणी रूपा भगवती सरस्वती का प्रकट, अप्रकट वाणी वाले देवादि सम्पूर्ण जीव उच्चारण करते है तथा जो भगवती सभी इच्छित पदार्थों को दुग्ध रूप में प्रदान करने वाली कामधेनु है, वे मेरी रक्षा करें।' ॥ २१-२६ ॥

देवी वाचमिति मन्त्रस्य—भार्गव ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। सौरिति बीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः॥ २७ ॥

व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे वेदाद्या व्याहरन्ति याम्।
सर्वकामदुधा धेनुः सा मां पातु सरस्वती॥ २८ ॥

सौः देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु॥ २९ ॥

उत त्व इति मन्त्रस्य—बृहस्पतिर्ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। समिति बीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः॥ ३० ॥

यां विदित्वाऽखिलं बन्धं निर्मथ्या खिलवर्त्मना।
योगी याति परं स्थानं सा मां पातु सरस्वती॥ ३१ ॥

स उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वां विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥३२॥

अम्बितम इति मन्त्रस्य—गृत्समद ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। ऐमिति बीजशक्तिकीलकम्। मन्त्रेण न्यासः॥ ३३ ॥

नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्यतां पुनः ।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती ।। ३४ ।।
ऐं अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति :
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ।। ३५ ।।

जो प्रकाशमती वैखरी वाणी प्राण रूप से देवताओं द्वारा उत्पन्न हुई है, उस वाणी का अनेक प्रकार के देहधारी उच्चारण करते है। कामधेनु के समान सुख देने वाली तथा अन्न-बल प्रदायिनी वाणी रूपिणी देवी श्रेष्ठ स्तुतियों से प्रसन्न होती हुई हमारे समीप प्रकट हों।

'उत त्व०' ऋषि बृहस्पति, छन्द त्रिष्टुप, देवता सरस्वती। बीज, शक्ति और कीलक 'सं'। मन्त्र द्वारा ही न्यास करना चाहिए।

'जिन सरस्वती को ब्रह्मविद्या रूप से जान लेने पर योगीजन सभी बंधनों को काट डालते है, जिससे पूर्ण मार्ग द्वारा उन्हें परमपद की प्राप्ति होती है। वे देवी मेरी रक्षा करने वाली हों।'

वाणी को देखकर भी कुछ लोग उसे नहीं देखते, सुनकर भी नहीं सुनते। परन्तु कुछ लोग तो ऐसे भाग्यशाली हैं जिनके सामने जैसे पतिकामा स्त्री अपने पति के समक्ष अनावृत्त रूप मे उपस्थित होती है, वैसे ही ये वाग्देवी अपने स्वरूप को प्रकट कर देती हैं।

'अम्बितमे' ऋषि गृत्समद, छन्द अनुष्टुप्, देवता सरस्वती बीज, शक्ति, कीलक 'ऐं'। मन्त्र द्वारा न्यास करें।

जिन सरस्वती देवी में ब्रह्मतत्ववेत्ताजन नाम-रूप वाले सम्पूर्ण प्रपंच को आविष्ट करते हुए उनका ध्यान करते हैं, वे देवी मेरी रक्षिका हों।

हे सरस्वते! तुम देवियों में, नदियों में और माताओं में, भी सर्वश्रेष्ठ हो। हम धन के अभाव से निन्दा को प्राप्त हुए के समान हो रहे है। तुम हमें धन रूप समृद्धि दो ।। २७—३५ ।।

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ।। ३६ ।।
नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनी ।
त्वामहं प्रार्थये नित्य विद्यादान च देहि मे ।। ३७ ।।
अक्षसूत्राङ्कुशधरा पाश पुस्तकधारिणी ।
मुक्ताहारसमायुक्ता वाचि तिष्ठतु मे सदा ।। ३८ ।।
कम्बुकण्ठी सुताम्रोष्ठी सर्वाभरणभूषिता ।
महासरस्वती देवी जिह्वाग्रे संनिवेश्यताम् ।। ३९ ।।
या श्रद्धा धारणा मेधा वाग्देवी विधिवल्लभा ।
भक्तजिह्वाग्रसदना शमादिगुणदायिनी ।। ४० ।।
नमामि यामिनीनाथलेखाऽलंकृतकुन्तलाम् ।
भवानीं भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम् ।। ४१ ।।
यः कवित्वं निरातङ्कं भुक्तिमुक्ती च वाञ्छति ।
सोऽभ्यर्च्यैनां दशश्लोक्या नित्यं स्तौति सरस्वतीम् ।।४२।।
तस्यैवं स्तुवतो नित्यं समभ्यर्च्य सरस्वतीम् ।
भक्तिश्रद्धाऽभियुक्तस्य षाण्मासात् प्रत्ययो भवेत् ।। ४३ ।।
ततः प्रवर्तते वाणी स्वेच्छया ललिताक्षरा ।
गद्यपद्यात्मकैः शब्दैरप्रमेयैर्विवक्षितैः ।। ४४ ।।
अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः प्रायः सारस्वतः कविः ।। ४५ ।।
सा होवाच सरस्वती—
आत्मविद्या मया लब्धा ब्रह्मणैव सनातनी ।
ब्रह्मत्वं मे सदा नित्यं सच्चिदानन्दरूपतः ।। ४६ ।।

जो सरस्वती ब्रह्मा के मुख-कमल रूप वन में राजहंस के समान विचरण करती है, वे श्वेत कान्ति और अंगवाली देवी हमारे मन रूपी हृदय में नित्य रमण करें। हे काश्मीरपुर वासिनी शारदे ! में नित्य तुम्हारी स्तुति करता हूँ। मुझे विद्या-दान दो। तुम्हें नमस्कार है। तुम अपनी चार भुजाओं में अक्षसूत्र, अंकुश, पाश और पुस्तक धारण करने वाली हो। तुम्हारे हृदय देश पर मुक्ताहार सुशोभित रहता है। तुम सदा मेरी वाणी मे निवास करो। तुम्हारी ग्रीवा शख के समान सुन्दर और लाल ओठ है तथा तुम विभिन्न आभूषणों से अलंकृत हो। तुम मेरी जिह्वा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होओ। भक्तों की जिह्वा के अग्रभाग में निवास कर उन्हे शम दम प्रदान करने वाली वे सरस्वती श्रद्धा, धारणा और मेधा स्वरूपिणी तथा ब्रह्माजी की प्रियतमा है। चन्द्रकला से विभूषित केश-पाश वाली तथा संसार-बंधन को काटने वाली अमृत जलयुक्त नदी रूपिणी भगवती सरस्वती को मै नमस्कार करता हूँ। जो कवित्व, भोग, निर्भयता अथवा मोक्ष की इच्छा करता हो वह इन दशों मन्त्रों के द्वारा भगवती सरस्वती की भक्ति पूर्वक पूजा-स्तुति करे। भक्ति और श्रद्धा सहित विधि पूर्वक पूजा कर नित्य स्तुति करने वाला भक्त छः मास मे ही उनकी कृपा को प्राप्त कर लेता है। इसके अनन्तर गद्य-पद्य से निहित सुन्दर शब्दों वाली वाणी उसके मुख से स्वयं ही उद्भूत होने लगती है। सरस्वती की भक्ति करने वाला कवि दूसरों से सुने बिना ही ग्रथों के अर्थो का समझने वाला होता है। हे विप्रो ! भगवती सरस्वती ने ही अपनी भक्ति के इस प्रभाव को अपने श्रीमुख से कहा था। ब्रह्माजी के द्वारा ही पुरातन आत्म विद्या को प्राप्त कर सका और अब मैं सच्चिदानन्द रूप वाले नित्य ब्रह्मत्व से सम्पन्न हुँ ।३६-४६।

प्रकृतित्वं ततः स्पृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः ।
सत्यामाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥ ४७ ।
तेन चित्प्रतिबिम्बेन त्रिविधा भाति सा पुनः ।

प्रकृत्यवच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्च मे ।। ४८ ।।

शुद्धसत्त्वप्रधानायां मायायां बिम्बितो ह्यजः ।
सत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्मायेति प्रतिपाद्यते ।। ४९ ।।

सा माया स्ववशोपाधिः सर्वज्ञस्येश्वरस्य हि ।
वश्यमायत्वमेकत्वं सर्वज्ञत्वं च तस्य तु ।। ५० ।।

सात्त्विकत्वात् समष्टित्वात् साक्षित्वाज्जगतामपि ।
जगत् कर्तुमकर्तुं वा चान्यथा कर्तुमीशते
यः स ईश्वर इत्युक्तः सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ।। ५१ ।।

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपा वृतिरूपकम् ।
विक्षेप शक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत् सृजेत् ।। ५२ ।।

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ।। ५३ ।।

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गदेहेन संयुतम् ।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ।। ५४ ।।

अस्य जीवत्वमारोपात् साक्षिण्यप्यवभासते ।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ।। ५५ ।।

तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति ।
या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ।। ५६ ।।

अत्राप्यावृतिनाशे न विभाति ब्रह्मसर्गयोः ।
भेदस्तयोर्विकारः स्यात् सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ।। ५७ ।।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ।
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः ।। ५८ ।।

फिर सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की समानता से प्रकृति रची गई। जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वैसे ही प्रकृति में चेतन का प्रतिबिम्ब सत्य के समान लगता है। उस चेतन के प्रतिबिम्ब से प्रकृति तीन प्रकार की लगती है। प्रकृति के योग से ही तुम्हें यह देह मिला है। सत्त्व गुण की प्रधानता वाली प्रकृति माया कही जाती है। उस माया मे प्रतिबिंबित चेतन ही अजन्मा है। यह माया सब के जानने वाले ब्रह्म की आज्ञाकारिणी उपाधि है। माया को अपने वश में रखना, अद्वितीय और सर्वज्ञ होना यही ब्रह्म के मुख्य लक्षण है। वह ब्रह्म सब लोकों के साक्षी स्वरूप होने के कारण संसार की रचना करने, न करने तथा उससे भी भिन्न कार्य करने में पूर्ण समर्थ है। विक्षेप और आवरण माया की यह दो शक्तियाँ कही गई है। विक्षेप रूप शक्ति लिंगदेह से ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी संसार की रचना करती है। आवरण शक्ति द्रष्टा और दृश्य के अन्तर को तथा ब्रह्म और सृष्टि के अन्तर को ढकने वाली है। साक्षी को वह लिंग-देह वाली प्रतीत होने से वह बधन के देने वाली है। चेतन का प्रतिबिम्ब जब कारण रूपा प्रकृति मे निहित होता है तब विश्व मे कार्यकारी जीव की उत्पत्ति होती है। आरोपित होने से उसका जीवत्व साक्षी रूप ब्रह्म में भी परिलक्षित होता है। आवरण-शक्ति के हट जाने पर भेद का स्पष्ट रूप से आभास होने लगता है और जीवत्व की स्थिति समाप्त हो जाती है। सृष्टि और ब्रह्म के भेद को आवृत्त करने वाली शक्ति के वशीभूत हुआ ब्रह्म विकारयुक्त प्रतीत होता है। आवरण के हटते ही ब्रह्म और सृष्टि के भेद की प्रतीति होने लगती है। परन्तु विकार की स्थिति ब्रह्म में नहीं होती, सृष्टि में ही होती है। अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम इन पाँच अंशों में से प्रथम तीनों तो ब्रह्म के स्वरूप है और नाम, रूप यह दोनों ही विश्व रूपार्थक है। इन दोनों से संबंधित हो जाने पर ही ब्रह्म इस विश्व के रूप में स्थित होता है ॥ ४६—५८ ॥

समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाऽथ वा बहिः ॥ ५९ ।
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि ।
दृश्यशब्दानुभेदेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥ ६० ॥
कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् ।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥ ६१ ॥
असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः ।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥ ६२ ॥
स्वानुभूतिरसावेशाद्दृश्यशब्दावुपेक्षितुः ।
निर्विकल्पसमाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥ ६३ ॥
हृदि वा बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्य सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥ ६४ ॥
स्तब्धीभावो रसास्वादात् तृतीयः पूर्ववन्मतः ।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत् कालं निरन्तरम् ॥ ६५ ॥
देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि ।
यत्र तत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम् ॥ ६६ ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ ६७ ।
मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि ।
इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः ॥
इत्युपनिषत् ॥ ६८ ॥

साधना करने वाला पुरुष बाह्याभ्यांतरिक रूप से सदा ही समाधि-रत रहे । हृदय में सविकल्प और निर्विकल्प इन दो प्रकारों की समाधि होती है । सविकल्प समाधि के भी दो रूप हैं दृश्यानुविद्ध और शब्दानुविद्ध । चित्त में जो कामादि विकारों की उत्पत्ति होती है, वे सब विकार दृश्य है और चेतन आत्मा उनके साक्षी रूप में है। यही

दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कही गई है। शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि वह है जिसमें साधक सोचता है कि मैं अद्वैत स्वरूप हूँ, संग-रहित और स्वयं प्रकाश हूँ। मैं ही सच्चिदानन्द हूँ। आत्म रूप में अनुभव किये जाने वाले रस के आवेश से दृश्य और शब्द की उपेक्षा वाले साधक का हृदय निर्विकल्प समाधि का अनुभव करता है। जैसे वायु-रहित स्थान में रखा हुआ दीपक अविचल रूप से प्रकाशित होता रहता है, वैसे ही साधक की स्थिति स्थिर रहती है। यह हृदय के भीतर होने वाली समाधि के ही दो रूप कहे हैं। इसी प्रकार बाहर भी किसी वस्तु विशेष के प्रति चित्त में एकाग्रता होने पर समाधि लग जाती है। द्रष्टा और दृश्य के विवेक से प्रथम प्रकार की समाधि लगती है और जिसमें प्रत्येक वस्तु से उसके नाम रूप का पृथक्करण होने पर उसके आश्रय भूत चेतन का चिन्तन होता है, वह द्वितीत प्रकार की समाधि कही गई है। जिसमें चैतन्य रस की अनुभूति से उत्पन्न हुए आवेश से स्तब्धता की स्थिति हो, वह तीसरे प्रकार की समाधि है। इन समाधियों में ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। शारीरिक अभिमान नष्ट होकर परमात्मतत्व का ज्ञान होने पर मन जहाँ-जहाँ पहुँचता है, वहीं वह श्रेष्ठ अमृतत्व के अनुभव द्वारा सुखी होता है। उस समय सभी संशय मिट जाते और हृदय-ग्रंथियाँ खुल जाती हैं। उस कलायुक्त तथा कला-रहित ब्रह्म के साक्षात्कार से सभी कर्मो का क्षय हो जाता है। जो मनुष्य जीवत्व और ईश्वरत्व के भेद को यथार्थ नहीं मानता, वही मुक्त पुरुष है इसे सत्य समझना चाहिए ॥ ५९—६८ ॥

॥ सरस्वतीरहस्योपनिषद् समाप्त ॥

देव्युपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शांतिपाठ—हे पूज्य देवो! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः काऽसि त्वं महादेवि॥१॥

साऽब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च। अहमानन्दानानन्दाः। विज्ञानाविज्ञानेऽहम्। ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। इत्याहाथर्वणी श्रुतिः॥२॥

अहम् पञ्चभूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत्। वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याऽहमविद्याऽहम्। अजाऽहमनजाऽहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् चाहम्॥३॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणावुभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ॥४॥

अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम् ।
विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि ।।५।।

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते ।
अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्।६।।

मम योनिरप्स्वन्तःसमुद्रे य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति।७।।

देवी के समीप जाकर सभी देवताओं ने निवेदन किया—'महा-देवि ! अपने सम्बन्ध में बताओ कि तुम कौन हो ?' ।।१।।

देवी ने उत्तर दिया—'मै ब्रह्म स्वरूपिणी हूँ । यह कार्य-कारण रूप, प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है । मैं आनन्द रूपिणी तथा आनन्द-रहित रूप वाली हूँ । मैं विज्ञानमयी और अविज्ञान रूपा हूँ । मैं ज्ञातव्य ब्रह्म तथा ब्रह्म से परे भी हूँ । मैं पंचीकृत अथवा अपंचीकृत महाभूत हूँ । दिखाई पड़ने वाला यह सम्पूर्ण विश्व मैं ही हूँ । विद्या-अविद्या, वेद-अवेद, अजा और अनजा मैं ही हूँ । मैं नीचे भी हूँ, ऊपर भी हूँ, अगल-बगल में भी मै ही हूँ । मै रुद्रों और वसुओं के रूप में संचार करने वाली हूँ ।। आदित्यों और विश्वेदेवों के रूप में भ्रमण करती रहती हूँ । मै ही मित्रावरुण, इन्द्राग्नि और अश्विद्वय की पालिका हूँ । सोम, पूषा भग और त्वष्टा को मै ही धारण करती हूँ । तीनों लोको को आक्रान्त करने के उद्देश्य से पदक्षेप करने वाले विष्णु ब्रह्मा और प्रजापति के धारण करने वाली हूँ। देवताओं के लिए हवि-बाहक और सोमाभिषव वाले यजमान के निमित्त हवियुक्त धनों को धारण करती हूँ । मैं उपासकों के लिए धन-दायिनी, ज्ञानवती, यज्ञों में नायिका तथा सम्पूर्ण विश्व की अधीश्वरी हूँ । विश्व के पिता रूप आकाश को परमात्मा के ऊपर मैं ही प्रकट करती हूँ । मेरा स्थान आत्म रूप की धारियित्री बुद्धि वृत्ति मे है । इस प्रकार जानने वाला ज्ञानी पुरुष दिव्य सम्पत्ति प्राप्त करता है ।।२-७।।

ते देवा अब्रुवन्—

नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः ।

नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥८॥

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम् ।

दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरां नाशय ये तमः ॥६॥

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।

सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥१०॥

कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम् ।

सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम् ॥११॥

महालक्ष्मीश्च विद्महे सर्वसिद्धिश्च धीमहि ।

तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥१२॥

अदितिरिह जनिष्ट दक्षया दुहिता तव ।

तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥१३॥

कामो योनिः कामकला वज्रपाणि-

गुंहा हसा मातरिश्वाऽभ्रमिन्द्रः ।

पुनर्गुहा सकला मायया च

पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम् ॥१४॥

एषाऽऽत्मशक्तिः । एषा विश्वमोहिनी पाशांकुशधनुर्बाणधरा । एषा श्रीमहाविद्या ॥१५॥ य एवं वेद स शोकम् तरति ॥१६॥ नमस्ते अस्तु भगवति भवति मातरस्मान् पातु सर्वतः ॥१७॥

देवताओं ने कहा—'देवी को नमस्कार ! महान् पुरुषों को भी अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त करने वाली, कल्याणमयी महादेवी को सादर नमस्कार है । गुणों से साम्य अवस्था वाली कल्याणी को नमस्कार है । हम उन्हें विधिवत् प्रणाम करते हैं । वे अग्नि के समान तेजोमयी, ज्ञान से प्रकाशमाना, कमफल की प्राप्ति के लिए सेव्यमाना एवं दीप्तिमयी

भगवती दुर्गा की हम शरण ग्रहण करते हैं। हे दैत्यविनाशिनि देवि ! तुम्हें नमस्कार है। देवताओं द्वारा उत्पन्न वैखरी वाणी का अनेक प्रकार के प्राणी उच्चारण करते है। वे कामधेनु के समान सुख देने वाली तथा अन्न, बल दायिनी वाणी रूपा देवी हमारी उत्तम स्तुति से सन्तुष्ट होकर हमारे निकट पधारें। जो वेदों द्वारा स्तुत, काल-नाशिनी, विष्णु शक्ति, सरस्वती, स्कन्दमाता, देवमाता अदिति तथा दक्ष-कन्या सती रूप वाली भगवती हैं, उन कल्याणमयी और पापनाशिनी भगवती को हम नमस्कार करते है। हम सर्वशक्ति वाली भगवती महालक्ष्मी से परिचित हैं और उनका सदा ध्यान करते है। वे देवी हमें अपने विषय विशेष में प्रवृत्त करें।

हे दक्ष ! आपकी कन्या अदिति के प्रसूता होने पर अमृतत्व गुण वाले देवताओं की उत्पत्ति हुई। काम, योनि, कमल, वज्री, गुहा, वर्ण, वायु, अभ्र, वज्रपाणि, गुहा, सकल रूप वर्ण एवम् माया यह सब उस जगन्माता की ब्रह्मरूपिणी मूल विद्या है। यह विश्व को विमोहित करने वाली, पाश-अंकुश-धनुष बाण धारिणी परब्रह्म की शक्ति हैं। यही श्री महाविद्या है। इस प्रकार जानने वाला पुरुष शोक-सन्ताप से मुक्त हो जाता है। हे जगन्माता ! तुम्हें नमस्कार है। तुम सभी प्रकार से हमारी रक्षा करने वाली बनो ॥८-१७॥

सैषाऽष्टौ वसवः। सैषैकादशरुद्रा। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहनक्षत्रज्योतींषि कलाकाष्ठाऽऽदिकाल-रूपिणी। तामहं प्रणौमि नित्यम् ॥१८॥

तापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम् ॥१९॥
वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।

अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ॥२०॥
एवमेकाक्षरम् मन्त्रम् यतयः शुद्धचेतसः ।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ॥२१॥
वाङ्मया ब्रह्मभूस्तस्मात् षष्ठम् वक्त्रसमन्वितम् ।
सूर्यो वामश्रोत्र बिन्दुः संयुताष्टतृतीयकम् ॥२२॥
नारायणेन संयुक्तो वायुश्चाधरसंयुतः ।
विच्चे नवार्ण कोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः ॥२३॥
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम् ।
पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम् ।
त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुघां भजे ॥२४॥
नमामि त्वामहं देवीं महाभयविनाशिनीम् ।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम् ॥२५॥

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया। यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता। यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या। यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽजा। एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यत एका। एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका। अत एवोच्यतेऽज्ञेयाऽनन्ताऽलक्ष्याऽजैका नैका ॥२६॥

वही यह एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य और अष्ट वसु हैं। वही यह सोमपायी, विश्वेदेवा है। वही यह यातुधान, दैत्य, राक्षस, पिशाच यक्ष और सिद्ध हैं। वही यह विष्णु और रुद्र रूप वाली तथा सत्व-रज-तम हैं। वही यह प्रजापति, इन्द्र और मनु हैं। ग्रह, नक्षत्र, तारे और कला·काष्ठादि सहित काल स्वरूपा हैं। भोग और मोक्षदायिनी, पापनाशिनी, विजय की अधिष्ठात्री, अन्तसे अतीत, कल्याण-मंगल रूप वाली,

दोषरहित एवम् आश्रयदात्री भी यही हैं। हम इन देवीको सदा नमस्कार करते हैं।

आकाश एव ईकार युक्त, अग्नि सहित अर्द्धचन्द्र से विभूषित जो बीज है, वह सभी कामनाओं का पूर्ण करने वाला है। जिन साधकों का मन शुद्ध है, वे इस एकाक्षर ब्रह्म का चिन्तन करते है। वाणी, माया काम, वक्त्र, दक्षिण कर्ण, बिन्दु, नारायण, अधर, विच्चे इनसे युक्त नवार्ण मन्त्र उपासकों को सायुज्य पदवी प्रदान करने वाला है।

हृदय-कमल में निवास करने वाली, अरुणोदय के समान प्रभा वाली, पाश-अंकुशधारिणी, मनोहर रूप वाली वरदहस्त और अभय मुद्रा वाली, त्रिनेत्र, लोहितवसना, कामना पूर्ण करने वाली देवी का मैं सदा भजन करता हूँ। हे महादेवी ! तुम महान् भय और महान् संकटको दूर करने वाली तथा करुणामयी मूर्ति हो। मै तुम्हे नमस्कार करता हूँ। ब्रह्मादि भी जिनके यथार्थ रूप को नही जानते, इसीलिए जो अज्ञेया तथा अन्त न होने से अनन्ता कही जाती है, जो दिखाई न पड़ने से अलक्ष्या, जन्म रहित होने से अजा, एक ही सर्वत्र व्याप्त होने से एका तथा विश्व रूप में अकेली ही सुशोभित होने से नैका कही जाती हैं ॥१८-२६॥

मंत्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यनां शून्यसाक्षिणी ॥२७॥

यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।
तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम् ॥२८॥

इदमथर्वणशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षजपफल मवाप्नोति। इदमथर्वणशीर्षं ज्ञात्वा योऽर्चां स्थापयति ॥२९॥

शतलक्षं प्रजप्त्वाऽपि नार्चासिद्धिं च विन्दति।
शतमष्टोत्तरं चास्याः पुरश्चर्याविधिः स्मृतः ॥३०॥

दशवारं पठेद्यस्तु सद्य : पापैः प्रमुच्यते ।
महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः ।।३१।।

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पाप नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पाप नाशयति । तत् सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति । निशीथे तुरीयसध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिर्भवति । नूतन-प्रतिमायां जप्त्वा देवतासांनिध्यं भवति । प्राणप्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति । भौमाश्विन्यां महादेवीसंनिधौ जप्त्वा महामृत्यु तरति य एवं वेदेत्युपनिषत् ।३२।।

समस्त अक्षरों में मूलाक्षर रूप में रहने वाली, चिन्मयातीता, शून्यसाक्षिणी वे सर्वश्रेष्ठ दुर्गा के नाम से प्रसिद्ध है । उन संमार सागर से पार करने वाली दुराचारको नष्ट करने वाली दुर्गा देवीको मै भवसागर से भयभीत हुआ नमस्कार करता हूँ ।

इस अथर्वशीर्ष का जप करने वाले को पाँचों अथर्वशीर्ष के जप का कल प्राप्त होता है । इसके बिना जाने हुए लाखों बार अर्चना करने से भी कोई लाभ नहीं हो सकता । इसका दस बार जप करने से समस्त पापों से उसी समय मुक्ति हो लाती है । सायंकाल में पाठ करने से दिन भर के और प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि भर के पाप दूर हो जाते हैं । मध्य रात्रि के पाठ से वाक् सिद्धि होती है । भौमाश्विनी योग में पाठ करने से महा मृत्यु से परित्राण होता है ।।२७-३२।।

।। देव्युपनिषद् समाप्त ।।

बह्वृचोपनिषत्

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुत मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृत वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शान्तिपाठ—ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास मे ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ। मै ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

ॐ देवी ह्येकाऽग्र आसीत् । सैव जगदण्डमसृजत । कामकलेति विज्ञायते । शृङ्गारकलेति विज्ञायते ।। १ ।।

तस्या एवब्रह्माऽजीजनत् । विष्णुरजीजनत् । रुद्रोऽजीजनत् । सर्वे मरुद्गणा अजीजनन् । गन्धर्वाप्सरसः किंनरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन् । भोग्यमजीजनत् । सर्वमजीजनत् । सर्वं शाक्तमजीजनत् । अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत् किंचैतत् प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत् ।। २ ।।

सैषा परा शक्तिः । सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्योमोमों वाचि प्रतिष्ठा।।३।।

सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देश-कालवस्त्वन्तरासङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥ ४ ॥

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा । अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भा-वाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याऽद्वितीयाब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्द-लहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव विभाति । यदस्ति सन्मात्रम् । यद्भाति चिन्मात्रम् । यत् प्रियमानन्दम् । तदेतत् सर्वाकार महात्रिपुरसुन्दरी । त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता । इतरत् सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी । सत्यमेकं ललिता-ऽऽख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म ॥ ५ ॥

पञ्चरूपपरित्यागादर्वरूपप्रहाणतः ।

अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् ॥ इति ॥ ६ ॥

देवी ने ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की और वही संसार की उत्पत्ति से पहले थी । वह ही कामकला और शृंगारकला के नाम से प्रसिद्ध है । उन्हीं से ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र का प्रादुर्भाव हुआ । उन्हीं से सारे मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएं और किन्नर उत्पन्न हुए, समस्त भोग सामग्री का कारण वही हुईं । सब कुछ उन्हीं से सृजन हुआ । शक्ति से ही सब कुछ बना । मनुष्य तथा समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणियों (अण्डज, स्वेदज, उद्भिज, जरायुज) की उत्पत्ति उन्हीं से हुई, उन्हीं को अपरा शक्ति, शाम्भवी विद्या, कादि विद्या, हादि विद्या, सादि विद्या व रहस्यरूपा कहते हैं । वे ही वह अक्षर तत्व हैं जो प्रणव का प्रतिपादन करती हैं, प्रणव स्वरूप है, प्रत्येक प्राणी की वाणी पर अधिष्ठित हैं । वे ही तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति) व तीनों प्रकार के शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) में व्याप्त हो रही हैं और वही उनको प्रकाशित कर रही हैं । वे देश, काल और वस्तु की सीमा के भीतर रहती है परन्तु यह उन्हें स्पर्श नहीं कर सकते और वे प्रत्येक प्राणी में चेतना उत्पन्न करती

है। उन्हीं को आत्मा कहा जाता है। उनको छोड़कर सब कुछ असत्य और अनात्म है। वे परब्रह्म का बोध कराने वाली विद्या शक्ति हैं। वे ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली हैं। वे सत, चित्, और आनन्दस्वरूपा है। प्रत्येक वस्तु के बाहर और भीतर व्याप्त हो रही है। उनके अस्ति, भाति और प्रिय तीनो रूप, सत, चित् और आनन्द के बोधक है। इस प्रकार से वह महात्रिपुरसुन्दरी समस्त स्थूल वस्तुओं में अधिष्ठित हैं। मैं और तुम, देवता, सारा संसार व शेष सब कुछ वे देवी ही हैं। ललिता ही सत्य हैं, वे ही परब्रह्म तत्व है। पाँच रूपों (अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप) के त्यागने और अपने रूप के न त्यागने से जो सत्ता शेष रह जाती है, उसी को परम तत्व कहते है ॥ ६ ॥

प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा ॥ ७ ॥

योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाव्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पंचदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाऽम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति वरस्वयंकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति ॥ ८ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥
इत्युपनिषत् ॥ ९ ॥

"प्रज्ञान ही ब्रह्म है" व "मैं ही ब्रह्म हूँ" आदि वाक्यों से उसी परम तत्व को व्यक्त किया जाता है। जब तक "वह-तू-मै" कहते है तो हम उसी को प्रकट करते हैं। "जो वह है, वह ही मैं हूँ" "वह भी मैं

हूँ" "ब्रह्म भी मैं ही हूँ" "आत्मा ब्रह्म है" आदि वाक्यों द्वारा उसी परम विद्या का विवेचन होता है। उसी पंचदशाक्षर वाली देवी के ही वाला, अम्बिका, बगला, मातङ्गी स्वयंवर-कल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चण्डा, वाराही, तिरस्करिणी, राजमातङ्गी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढ़ा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती, ब्रह्मानन्दकला, आदि नाम हैं। जिस विनाश को प्राप्त न होने वाले आकाश में सारे देवता विराजमान रहते हैं, उसी परम आकाश में ऋचाएँ अधिष्ठित हैं। जो उस परम आकाश को भली-भांति समझने की चेष्टा नहीं करता, वह केवल ऋचाओं के पढ़ने से कुछ नहीं कर सकता। उसको भली प्रकार समझ लेने वाले ही उस में सदा निवास करने का स्थान पा जाते हैं।

।। बह्वृचोपनिषत् समाप्त ।।

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः। शान्तिः॥ शान्तिः॥।

शान्तिपाठ—ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ। मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो,। ॐ शांतिः शांतिः शांति।

प्रथमः खण्डः

अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मीविद्याम्॥ १॥

तथेत्यवोचद्भगवानादिनारायणः सर्वे देवा यूयं सावधान मना भूत्वा शृणुत। तुरीयरूपां तुरीयातीतां सर्वोत्कटां सर्वमन्त्रासनगतां पीठोपपीठदेवतापरिवृतां चतुर्भुजां श्रियं हिरण्यवर्णामिति पंचदशर्ग्भिर्न्यायथ॥ २॥

अथ पंचदशऋगात्मकस्य श्रीसूक्तस्यानन्दकर्दमचिक्लीतेन्दिरासुता ऋषयः। ीरित्याद्या [या] ऋचः। चतुर्दशानामृचा-

मानन्दाद्यृषयः । हिरण्यवर्णामित्याद्यृक्त्रयस्यानुष्टुप् छन्दः । कांसोऽस्मीत्यस्य बृहती छन्दः । तदन्ययोर्द्वयोस्त्रिष्टुप् । पुनरष्ट-कस्यानुष्टुप् । शेषस्य प्रस्तारपङ्क्तिः । श्यग्निर्देवता । हिरण्य-वर्णामिति बीजम् । कांसोऽस्मीति शक्तिः । हिरण्मया चन्द्रा रजतस्रजा हिरण्यस्रजा हिरण्या हिरण्यवर्णेति प्रणवादिनमोऽन्तै-श्चतुर्थ्यन्तैरङ्गन्यासः । अथ वक्त्रत्रयैरङ्गन्यासः । मस्तकलोचन-श्रुतिघ्राणवदन कण्ठबाहुद्वयहृन्नाभिगुह्यपायूरुजानुजङ्घेषु श्री सूक्तैरेव क्रमशो न्यसेत् ॥ ३ ॥

अमलकमलसंस्था तद्रजः पुञ्जवर्णा
करकमलधृतेष्वाभीतियुग्माम्बुजा च ।
मणिमकुटविचित्रालंकृताकल्पजालैः
सकलभुवनमाता संततं श्रीः श्रियै 'नः ॥ ४ ॥

एक समय की बात है, भगवान् आदि नारायण से देवताओं ने निवेदन किया—'प्रभो ! सौभाग्य लक्ष्मी विद्या का हमारे प्रति उपदेश करिये ।

भगवान् ने कहा—'देवताओ ! एकाग्र मन से सुनो । स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप अवस्थाओ से जो तुरीयावस्था, वरन् तुरीयावस्था से भी परे निर्गुण एवं विकराल रूप वाली है, जो मन्त्र रूप आसन पर प्रतिष्ठित होने वाली है पीठों और उपपीठों में विराजमान देवगण से घिरी हुई है, उन चार भुजा वाली लक्ष्मीजी का श्रीसूक्त की पन्द्रह ऋचाओं के द्वारा चिन्तन करना चाहिए ।

उन पन्द्रह ऋचाओं के ऋषि इन्दिरा, आनन्द, कर्दम और चिक्लीत हैं । प्रथम मन्त्र की ऋषि इन्दिरा शेष मन्त्रों के ऋषि पुत्र हैं । प्रथम तीन ऋचाओं का छन्द अनुष्टुप्, चौथी का बृहती पाँचवीं-छठवीं का त्रिष्टुप्, सातवी से चौदहवी तक का अनुष्टुप् और प्रस्तारपंक्ति है ।

देवता श्री और अग्नि, बीज 'हिरण्यवर्णाम्', शक्ति 'कां सोस्मि' है। हिरण्यमयी, चन्द्रा, रजतस्रजा, हिरण्यस्रजा हिरण्या, हिरण्यवर्ण इन नामों को चतुर्थी विभक्ति में रखकर ओंकार से आरम्भ कर अंत में नमः उच्चारण करता हुआ न्यास करे।

फिर श्रीसूक्त के मन्त्रों से अङ्गन्यास करे फिर निम्न मन्त्र से ध्यान करे—

'अरुण वर्ण के कमलदल पर विराजमान, कमल-पराग की राशि के समान पीले रंग वाली, वर-मुद्रा, अभय मुद्रा और दो हाथों में कमल-पुष्प-धारिणी, मणिमय कंकणों से अलकृत, सब लोकों की माता श्री महालक्ष्मी हमें निरंतर श्री से सम्पन्न बनावें ॥ १—४ ॥

तत्पीठम्। कर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। वस्वादित्यकलापद्मेषु श्रीसूक्तगतार्धार्धर्चा तद्बहिर्यः शुचिरिति मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशकं च विलिख्य श्रियमावाहयेत् ॥ ५ ॥

अङ्गैः प्रथमाऽऽवृतिः। पद्मादिभिर्द्वितीया। लोकेशैस्तृतीया। तदायुधैस्तुरीयाऽऽवृतिर्भवति। श्रीसूक्तैरावाहनादि। षोडशसहस्रजपः ॥ ६ ॥

सौभाग्यरमैकाक्षर्या भृगुनृचद्गायत्रीश्रिय ऋष्यादयः।
शमिति बीजशक्तिः। श्रामित्यादि षडङ्गम् ॥ ७ ॥
भूयाद्भूयो द्विपद्माभयवरदकरा तप्तकार्तस्वराभा
शुभ्राभ्राभेभयुग्मद्वयकरधृतकुम्भाद्भिरासिच्यमाना।
रत्नौघाबद्धमौलिर्विमलतरदुकूलार्तवालेपनाढ्या
पद्माक्षी पद्मनाभोरसि कृतवसतिः पद्मगा श्रीः श्रियै: नः ॥८॥

पीठ कर्णिका के भीतर साध्य कार्य श्रीबीज लिखे फिर अष्टदल, दशदल और षोडशदल वाले पद्मों पर भूवृत्तों के मध्य में श्री सूक्त की

आधी-आधी ऋचा लिखे। फिर निर्भू वृत्त में फल श्रुति रूप ऋचा लिख कर षोडशार के बीच में और ऊपर अकार से सकार तक मातृका वर्णों का लेखन करे। सबसे ऊपर निर्भू वृत्त में वषड् सम्पन्न त्वरिता बीज के सहित श्रीबीज का लेखन करे। इस प्रकार दश अंगों वाला श्रीचक्र बनावे।

अङ्ग मन्त्रों के द्वारा प्रथम आवरण पूजा की जाती है। पद्म आदि निधियों के द्वारा दूसरी बार आवरण पूजा की जाती है। लोक-पालों के द्वारा तृतीय आवरण पूजा होती है। वज्रादि आयुधों के द्वारा चतुर्थ आवरण पूजा का क्रम है। श्रीसूक्त की ऋचाओं से आवाहनादि कार्य किये जाते है। इतना करने के पश्चात् पुरश्चरण के लिए सोलह हजार मंत्र-जप का विधान है।

एकाक्षर सौभाग्यलक्ष्मी मन्त्र के ऋषि भृगु, छंद नीचृद्गायत्री और देवता श्री है। बीज 'श्रीं' और अङ्गन्यास 'श्रां' इत्यादि के द्वारा होता है।

जिन श्रीदेवी ने अपने दो हाथों में कमल तथा दो में वर मुद्रा और अभयमुद्रा ग्रहण की हुई हैं, जिनके देह की कान्ति स्वर्ण के समान है, जो शुभ मेघ के समान आभा वाली दो हाथियों की सूँडों में धारण किये कलशों के जल से अभिषिक्त हो रही है, जिनके सिर पर लाल वर्ण के रत्नों का मुकुट सुशोभित है, जिनके अगों पर ऋतु के अनुकूल अंग-राग लिपे हुए हैं, जो स्वच्छ वस्त्र वाली हैं, कमल के समान नेत्र वाली पद्मनाभ निवासिनी, कमलासना श्रीदेवी हमारे निमित्त परम ऐश्वर्य प्रदान करावें ॥ ५—८ ॥

तत्पीठम् । अष्टपत्रं वृत्तत्रयं द्वादशराशिखण्डं चतुरश्रं रमापीठं भवति। कर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम् । विभूति-रुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्तिः सन्नतिर्व्युष्टिरुत्कृष्टिरृद्धिरिति प्रणवादिनमोऽन्तैश्चतुर्थ्यन्तैर्नवशक्ति यजेत् ॥ ९ ॥

अङ्गैः प्रथमाऽऽवृतिः। वासुदेवादिर्द्वितीया। बालक्यादिस्तृतीया। इन्द्रादिभिश्चतुर्थी भवति। द्वादशलक्षजपः ॥ १० ॥

श्रीलक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी वसुप्रदा हिरण्यरूपा स्वर्णमालिनी रजतस्रजा स्वर्णप्रभा स्वर्णप्राकारा पद्मवासिनी पद्महस्ता पद्मप्रिया मुक्तालंकारा चन्द्रा सूर्या बिल्वप्रिया ईश्वरी भुक्तिर्मुक्तिर्विभूतिर्ऋद्धिः समृद्धिः कृष्टिः पुष्टिर्धनदा धनेश्वरी श्रद्धा भोगिनी भोगदा धात्री विधात्रीत्यादिप्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ता मन्त्राः। एकाक्षरवदङ्गादिपीठम्। लक्षजपः। दशांशं तर्पणम्। शतांशं हवनम्। सहस्रांशं द्विजतृप्तिः ॥ ११ ॥ निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः। न कदाऽपि सकामानामिति ॥ १२ ॥

तीन वृत्तों से युक्त रमापीठ यंत्र अङ्कित करे। अष्टदल कर्णिका में साध्य सहित श्री बीज लिखे। प्रारंभ में ओंकार और अंत में नमः के योग सहित प्रत्येक नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग द्वारा नौ शक्तियों की पूजा करे। विभूति, उन्नति, कान्ति, सृष्टि, कीर्ति, सन्नति, व्युष्टि, सत्कृष्टि एवं ऋद्धि यही नौ शक्तियाँ है। अङ्गन्यास द्वारा प्रथम आवरण पूजा करे। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का क्रमशः पूजन करे। इस प्रकार द्वितीय आवरण पूजा होती है। फिर बालकी आदि की पूजा द्वारा तृतीय आवरण को पूजे। फिर इन्द्रादि देवों और उनके आयुधों के द्वारा चतुर्थ आवरण पूजा करे। पुरश्चरण के निमित्त द्वादशलक्ष मंत्र-जप का विधान है।

त्र्यक्षरी विद्या के पूजन में आदि में ओंकार और अंत में नमः लगाकर प्रत्येक नाम की चतुर्थी विभक्ति सहित प्रयोग होता है। श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुप्रिया, हिरण्यरूपा, वसुप्रदा, रजतस्रजा, स्वर्णमालिनी, स्वर्णप्रभा, स्वर्णप्राकारा, पद्मवासिनी, पद्महस्ता, पद्मप्रिया, बिल्वप्रिया, चन्द्रसूर्या, मुक्तालंकारा, ईश्वरी, भुक्ति, मुक्ति, विभूति, ऋद्धि,

समृद्धि, कृष्टि, पुष्टि, धनदा, धनेश्वरी, श्रद्धा, सावित्री, भोगिनी, भोगदा धात्री, विधात्री प्रभृति नामों के द्वारा शक्ति-पूजन करे। एकाक्षर मन्त्र के समान ही पीठ पूजा की जाती है। पुरश्चरण के निमित्त एक लक्ष मंत्र-जप करना चाहिए। जप का दसवां भाग तर्पण, तर्पण का दसवां भाग हवन और हवन का दसवां भाग ब्राह्मण भोजन कराना चाहिये। इस श्रीविद्या की प्राप्ति उन्हीं को होती है जो कामना-रहित भाव से उपासना करते हैं। कामना-सहित उपासना करने वालों को इसकी सिद्धि नहीं होती ॥ ९—१२ ॥

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनं देवा ऊचुस्तुरीयया मायया निर्दिष्टं तत्त्वं ब्रूहीति। तथेति स होवाच—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्धते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥ १ ॥

समाप्य निद्रां सुजीर्णेऽल्पभोजी
श्रमत्याज्यबाधे विविक्ते प्रदेशे।
सदाऽऽसीत निस्तृष्ण एष प्रयत्नो-
ऽथ वा प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात् ॥ २ ॥

वक्त्रेणापूर्य वायुं हुतवहनिलयेऽपानमाकृष्य धृत्वा
स्वाङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीभिर्वरकरतलयोः षड्भिरेवं निरुध्य।
श्रोत्रे नेत्रे च नासापुटयुगलमथोऽनेन मार्गेण सम्यक्
पश्यन्ति प्रत्ययांसं प्रणवबहुविधध्यानसंलीनचित्ताः ॥ ३ ॥

आदि नारायण से देवताओं ने निवेदन किया—'भगवन्! तुरीया माया द्वारा निर्दिष्ट तत्व के संबंध में हमें उपदेश दीजिए।'

भगवान् आदि नारायण ने कहा—'योग से योग की वृद्धि होती है, इसलिए योग के द्वारा ही योग को जाने। योग में सदा दत्तचित्त योगी चिरकाल तक सुख का उपभोग करता है। मितभोगी साधक राग-द्वेषादि मल के परिपक्व होने पर आलस्य-रहित होकर तथा इस विश्व-प्रपंच को ब्रह्मत्व-प्राप्ति में रोड़ा समझकर एकान्त-साधन करता है, वह या तो राजयोग में प्रवृत्त होता है अथवा गुरु द्वारा बताये हुए हठ योग वाले मार्ग पर चलता है। इस प्रकार योगी इन दो प्रकार के योगों में से किसी एक का अवलम्बन करता है। जो साधक प्राणायाम का अभ्यास करते हैं वे मुख द्वारा वायु को भीतर खींचते और अपान वायु को नाभि से जठराग्नि कोष्ठ में खींचकर मुख द्वारा खींची हुई वायु का उससे संयोग कराते हैं, फिर अंगूठे, अंगुलियों और हथेलियों से कान, नेत्र और नासा-पुटों को बन्द कर प्राणायाम द्वारा प्रणव का चिंतन कर, उसी में रमण करते हुए आत्म-साक्षात्कार करते हैं॥ १-३ ॥

श्रवणमुखनयननासानिरोधनेनैव कर्तव्यम्।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलं श्रूयते नादः॥ ४॥
विचित्रघोषसंयुक्ताऽनाहते श्रूयते ध्वनिः।
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धोऽप्यरोगवान्॥ ५॥
संपूर्णहृदयः शून्ये त्वारम्भे योगवान् भवेत्।
द्वितीयां विघटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः॥ ६॥

कान, नाक, मुख, नेत्र के छिद्रों को बन्द करने पर अभ्यास की एक अन्य विधि भी सिद्ध होती है। उसके द्वारा शुद्ध सुषुम्णा नाड़ी में प्रणव का अनाहत नाद सुना जाता है। अनाहत चक्र में ध्वनि सुनते हुए विभिन्न प्रकार के विचित्र घोष सुनाई देते हैं। यह साधना साधक को अत्यंत तेजस्विता प्राप्त कराती है। उसके देह से दिव्य गन्ध आती है और वह स्वस्थ होता हुआ दिव्य शरीर को प्राप्त होता है। शून्य में

पूर्ण मनोयोग पूर्वक ध्वनि सुनते रहने से आरम्भ में साधक योग से युक्त हो जाता है। इस प्रकार इच्छा शक्ति द्वारा प्रेरित जीवात्मा जब सुषुम्णा मार्ग पर अग्रसर होता है तब स्वाधिष्ठान चक्र को भेदकर उसके मध्यवर्ती छिद्र के द्वारा प्राणवायु सुषुम्णा में प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४-६ ॥

दृढासनो भवेद्योगी पद्माद्यासनसंस्थितः ।
विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात् परमानन्दसंभवः ॥ ७ ॥
अतिशून्यौ विमर्दश्च भेरीशब्दस्ततो भवेत् ।
तृतीयां यत्नतो भित्त्वा निनादो मद्दलध्वनिः ॥ ८ ॥
महाशून्य ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ।
चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः ॥ ९ ॥
निष्पत्तौ वैष्णवः शब्दः क्वणतीति क्वणो भवेत् ।
एकीभूतं तदा चित्तं सनकादिमुनीडितम् ॥ १० ॥
अन्तेऽनन्तं समारोप्य खण्डेऽखण्डं समर्पयन् ।
भूमानं प्रकृतिं ध्यात्वा कृतकृत्योऽमृतो भवेत् ॥ ११ ॥
योगेन योगं संरोध्य भावं भावेन चाञ्जसा ।
निर्विकल्प परं तत्त्वं सदा भूत्वा परं भवेत् ॥ १२ ॥
अहंभावं परित्यज्य जगद्भावमनीदृशम् ।
निर्विकल्पे स्थितो विद्वान् भूयो नाप्यनुशोचति ॥ १३ ॥

पद्मासन में स्थित योगी दृढ़ अभ्यास में सफल होता है। इसके पश्चात् तृतीय मणिपूरक नामक चक्र में स्थित जो माया अनेक कामनाओं की वृद्धि करती रहती है, उसे विच्छिन्न कर देने पर परम आनन्द प्राप्त हो सकता है। शून्य को लाँघता हुआ प्राणवायु जब नाड़ी के साथ संघर्षित होता है तब उससे भेरी सदृश्य ध्वनि सुनाई देती है। तृतीय

मणिपूरक चक्र के भेद कर चलने पर प्राणवायु से मृदंग की-सी ध्वनि निकलती है। फिर अन्य चक्रों को भेदता हुआ चलने वाला प्राणवायु महाशून्य में पहुँच कर सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है। तद-नन्तर प्राणवायु तालु चक्र द्वारा चित्त को जीतकर तालुचक्र का भेदन करता है वहाँ चित्त स्थित सभी आनन्द उसे प्राप्त होते है ॥ ७-६ ॥

इस साधना के अंत में प्रणव शब्द के रूप में स्वयं प्रकट होकर गूँजता है। चित्त उसमें लीन हो जाता है। यह कथन सनकादि मुनियों का है। उस महाचक्र में स्थित साधक अन्त में अनन्त का समा-रोप करता है। मायाग्रस्त रूप को ब्रह्म में समर्पित कर साधक आत्मा की सर्वव्याप्तता के चिन्तन द्वारा कृतकृत्य होता हुआ अमृतत्व प्राप्त करता है। असंप्रज्ञात योग द्वारा संप्रज्ञात योग पर विजय पावे और अभाव से भाव का निरोध करे। तब साधक निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होकर कैवल्य में स्थित होता है। उस समय उसका अहं भाव मिट जाता है और मायामय संसार भी लुप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञानी साधक [illegible] फिर ममत्व नहीं घेरता ॥ १०-१३ ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भवति योगतः ।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ १४ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं यत् समाधिरभिधीयते ॥ १५ ॥
यत् समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिरभिधीयते ॥ १६ ॥
प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम् ।
सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते ॥ १७ ॥
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्यसमाधिना ।

निश्चलं तं विजानीयात् समाधिरभिधीयते ॥ १८ ॥
यत्रयत्र मनो याति तत्रतत्र परं पदम् ।
तत्रतत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ॥ १६ ॥

जल में मिलाया हुआ नमक उसी में घुलमिल जाने के समान, मन जब आत्मा मे विलीन हो जाता है उस अवस्था को समाधि कहते है। प्राणायाम के द्वारा सम्यक् रूप से क्षीण हुआ प्राणवायु जब कुम्भक में स्थिर होता है और चित्तवृत्तियों का लोप हो जाता है, तब चित्त और आत्मा का एकीभाव समाधि कहा जाता है। समाधि उस अवस्था का नाम है, जिसमें जीवात्मा का परमात्मा से समत्व होने पर सभी संकल्प मिट जाते है। सांसारिक बोध-रहित जिस स्थिति में मन-बुद्धि का पूर्ण विलीनीकरण हो जाने पर सब कुछ शून्यवत दिखाई पड़ता है, उस अवस्था को निरामय कहते है, वही समाधि कही जाती है। शरीर के इधर-उधर गमन करने पर भी चित्त का निश्चल एव ध्यानमग्न रहना समाधि की अवस्था ही है। उस अवस्था में साधक का मन जहाँ भी गमन करता है, वही उसे परम पद उपलब्ध होता है। उसके लिए परम ब्रह्म सर्वत्र समान रूप से अवस्थित रहता है ॥ १४-१६ ॥

तृतीयः खण्डः

अथ हैनं देवा ऊचुर्नवचक्रविवेकमनुब्रूहीति ।

तथेति स होवाच--

आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृत्ताभङ्गिमण्डलाकारं तत्र मूल-कन्दे शक्तिः पावकाकारं ध्यायेत् तत्रैव कामरूपपीठ सर्वकामप्रदं भवति इत्याधारचक्रम् ॥ १ ॥

द्वितीय स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुख्यं

लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्याणपीठं जगदाकर्षण-सिद्धद्वं भवति ॥ २ ॥

तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पकुटिलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनीं बालार्ककोटिप्रभां तटित्संनिभां ध्यायेत् सामर्थ्यशक्तिः सर्वसिद्धिप्रदा भवति मणिपूरकचक्रम् ॥ ३ ॥

हृदयचक्रमष्टदलमधोमुखं तन्मध्ये ज्योतिर्मयलिङ्गाकारं ध्यायेत् सैवं हंसकला सर्वप्रिया सर्वलोकवश्यकरी भवति ॥ ४ ॥

कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वामे इडा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णां ध्यायेत् य एवं वेदानाहतसिद्धिदा भवति ॥ ५ ॥

तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहो घण्टिकालिङ्गं मूलचक्र-रन्ध्रे राजदन्तावलम्बिनीविवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत् चित्तलयो भवति ॥ ६ ॥

सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रं तत्र ज्ञाननेत्रं दीपशिखाऽऽकारं ध्यायेत् तदेव कपालकन्दं वाक्सिद्धिदं भवत्याज्ञाचक्रम् ॥ ७ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं तत्र सूचिकागृहेतरं धूम्रशिखाऽऽ-कारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवतीति परब्रह्म-चक्रम् ॥ ८ ॥

नवममाकाशचक्रं तत्र षोडशदलपद्ममूर्ध्वमुखं तन्मध्यकर्णि-कात्रिकूटाकारं तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तितां परशून्यं ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिसाधनं भवति ॥ ९ ॥

देवताओं ने पुनः भगवान् आदि नारायण से निवेदन किया—'प्रभो ! नव चक्र विवेक के सम्बन्ध में हमारे प्रति उपदेश करिये ।'

भगवान् आदिनारायण ने कहा —'मूलाधार स्थित जो ब्रह्मचक्र

है, वह योनि के आकार के तीन घेरों वाला है। वहाँ कर्णिकामूल मे सुप्त सर्प के आकार मे कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। जब तक वह जाग्रत न हो तब तक भभकती हुई ज्वाला के रूप में उसका ध्यान करे। भगवती त्रिपुरा का कामरूप पीठ नामक स्थान वही है। उसकी अर्चना के द्वारा सभी भोगो की प्राप्ति हो सकती है। यह आधार नाम वाले प्रथम चक्र के संबंध मे कहा गया ॥ १ ॥

षट्दल पद्म का स्वाधिष्ठान चक्र दूसरा है। उस छः दल के कमल के कर्णिका पृष्ठ मे एक लाल वर्ण के शिवलिंग का पश्चिमाभिमुख चिन्तन करे। वहाँ उड्यान पीठ है उसकी उपासना विश्व-आकर्षण की सिद्धि प्राप्त कराने वाली है। तृतीय नाभिचक्र टेढ़ा, सर्पाकार तथा पाँच घेरो वाला है। उस चक्र मे करोड़ों बालसूर्यो की-सी ज्योति वाली तथा तडित् के समान् कृशाग कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करे। जाग्रत होने पर यह शक्ति अत्यत सामर्थ्य वाली होती है तथा सब सिद्धियाँ देती है। मणिपूरक चक्र आठ दल वाले कमल के आकार का तथा निम्न मुख रहता है यही हृदय चक्र है। इसमें ज्योतिर्मय लिंग का चिंतन करे। वह ज्योतिर्मय लिंग हंसकला नाम से सर्व प्रिय है। उसकी जाग्रति पर सर्वलोक वश करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। कण्ठ मे एक चार अंगुल प्रमाण का चक्र है। उसमें वायीं ओर इडा और दायी ओर पिंगला नाड़ी है। इन दोनों के मध्य श्वेतवर्ण वाली सुषुम्णा नाड़ी का चिंतन करे। इसे जानने वाले को अनाहत चक्र सिद्धि देने वाला है। इससे आगे जो तालुचक्र है उसमें अमृत की धार निरंतर बहती रहती है। इस तालुचक्र में दस-बारह दल होते है। आगे दाँतों की जड़ तक विस्तृत हुआ जो चक्र के आकार का छिद्र है उसमें तालुचक्र है। उसमें शून्य का ध्यान करे ऐसा करने से चित्त शून्य-रत होता है। अँगूठे के परिमाण का सातवाँ भ्रूचक्र है। उसमें निवात दीप शिखा के आकार वाले ज्ञान नेत्र का चिन्तन करे। इस चक्र के जाग्रत होने पर कपाल-

कन्द और उससे संबंधित विषयों का ज्ञान मिलता है। आठवाँ आज्ञाचक्र है, वही ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है। उस रन्ध्र का परिणाम सुई की नोंक के समान है। वहाँ धूम्रशिखा रूप का चिंतन करे। वहाँ जालधर पीठ है, जिसकी उपासना से मोक्ष मिलती है। इसलिए इसे परब्रह्म चक्र भी कहा गया है। नौवां चक्र आकाश चक्र है। वहाँ सोलह दल वाला कमल ऊपर की ओर मुख वाला है। उसकी मध्य कर्णिका त्रिगुणों की जननी होने से तीन शिखरों वाले पर्वत के आकार की बतायी गयी है। उसके मध्य ऊपर की ओर झुकी हुई शक्ति है, उसका अवलोकन करते हुए चिंतन करे। वहीं पूर्ण गिरि पीठ है, उसकी उपासना से सब कामनाऐं सिद्ध होती है ॥ २-९ ॥

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स सकलधनधान्यसत्पुत्रकलत्रहयभूगजपशुमहिषी-दासीदासयोगज्ञानवान् भवति न स पुनरावर्तत इत्युपनिषत् ।१०।

जो इस सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् का नित्य पाठ करता है, वह अग्निपूत और वायुपूत होता है। वह सब धन, धान्य, स्त्री, पुत्र, हाथी, अश्व, गौ, भैंस तथा भृत्यादि युक्त ऐश्वर्य से सम्पन्न ज्ञानी होता है तथा अन्त में परम पद को प्राप्त होकर वहाँ से फिर नहीं लौटता ॥ १० ॥

॥ सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् समाप्त ॥

त्रिपुरोपनिषत्

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्तिपाठ—ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूँ । मैं ऋत भाषण करूँगा, सत्य भाषण करूँगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः ।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥१॥
नवयोनिं नव चक्राणि दीधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च ।
नवानां चक्रा अधिनाथाः स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम्॥२॥
एका स आसीत् प्रथमा सा नवासीदा सोनविंशादा सोनत्रिंशात् ।
चवत्वारिंशादथतिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो माऽऽविशन्तु ॥
ऊर्ध्वज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद्रजोऽभूत् ।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयति ॥४॥
यास्तिस्रो रेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रि प्रकाराः ।
एतत्त्रयं पूरकं पूरकाणां मन्त्रप्रतते मदनो मदन्या ॥५॥

जो अपनी अज्ञ दृष्टि द्वारा कल्पित व्यष्टि, समष्टि भेद से युक्त स्थूल व सूक्ष्म कारण वाले तीन पुर हैं, एवं जो देवयान पितृयान आदि भेद से, कर्मोपासना ज्ञानकाण्ड से, ज्ञान, विज्ञान, सम्यग् ज्ञान के भेद से विकल्पित जो तीन रास्ते है, साथ ही "अकथादि श्रीपीठ" इत्यादि श्रुति के अनुरोध से इस श्रीचक्र में जो अ से लेकर क्ष पर्यन्त के अक्षर सन्निविष्ट हैं, इन पुरों इन पथों इन अक्षरों को जीवेश प्रत्यक् पर आत्मा से अधिष्ठित करके महा महिमामय अर्थात् सृष्टि निर्माण की सामर्थ्यरूपिणी स्थूल आदि जो तीन शरीर, उनसे विलक्षण जराहीन महान् कोई चिरन्तन चिद् शक्ति सर्वोत्कृष्ट रूप से विराजमान है, वही सर्वोत्तम है ॥१॥

जिसका आश्रय लेकर नवयोनियाँ अर्थात् महात्रिपुरसुन्दरी आदि शक्तियाँ, सर्वानन्दमय आदि नौचक्र, यम, नियम, आसन, प्राणा-याम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, सहजयोग भेद से नौ योग तथा ना चक्रों के अन्दर रहने वाली नौ योगिनियाँ प्रकाशित होती हैं। नौ जो देवताओं की आधार भूमियाँ उनके चक्राधिनाथ तथा प्रतिहारि-णियाँ कामेश्वरी आदि भद्रायें तथा योनि आदि नौ मुद्रायें भी इसी पर आश्रित हैं। इसके ही आश्रय से प्रकाशित होती है।

ऐसी यह प्रधान रूपा एक ही थीं और वही यह नवभद्र आदि रूप में थीं। और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच प्राण तथा अन्त: करण चतुष्टय (चार) भेद से जो उन्नीस तत्व समूह है उससे उत्पन्न जो शक्तियाँ उनके स्वरूप में भी यही थीं। साथ ही दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, चार अन्त:करण, पाँच महाभूत, पाँच उपप्राण के भेद से जो उन्तीस तत्व ग्राम उनसे उत्पन्न जो शक्तियाँ उनके रूप में भी यहीं थीं, और इसी प्रकार अन्त:करण चतुष्टय सहित जो चौदह इन्द्रियाँ, तीन कर्म विक्षेपादि चार गुण प्रभृति जो चालीस शक्तियाँ है, तद्रूप में भी यही विद्यमान थीं। सो क्रिया, ज्ञान व इच्छात्मक ज्ञान, विज्ञान,

सम्यग्ज्ञान रूप, तीन शक्तियाँ (जो कि इसी चित् शक्ति के रूप हैं) अपने पुत्र की हित कामना वाली माता के समान मुझे ब्रह्म पदवी की प्राप्ति के लिए प्रेरित करें, मेरे में प्रविष्ट हों, स्थित रहें ।३।

"अथ तत ऊर्ध्वं उदेता" "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" "ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि" इत्यादि श्रुति (वेदऋचा) के अनुरोध से पराक् प्रपञ्च रूप इन्धन(लकड़ी) का आश्रय लेकर ऊर्ध्व (ऊपर) की ओर जलने वाली, प्रकाशित होने वाली प्रत्यग् ज्योति ही पराग् वृत्ति के उदय होने से पहले सदा अनुभूत होती है (हुई है) उसके वैपरीत्य से तिरश्चीन अर्थात् पराग् रूप जो सत्व रज तम वह अपने अधीनस्थ पराग् भाव को छोड़कर, अजर (जराहीन) ब्रह्म हुआ (हो जाया करता) है ।

इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् ब्रह्म से अभिन्न अपने को मानकर अपने अतिरिक्त संसार में कुछ न देखता हुआ (योगी) परम प्रसन्न होता है, आनन्दित होता है, परमप्रकाश का युञ्जमोद (प्रसन्नता) स्वरूप जो इन्दु रूप ज्योति उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं वही मैं हूँ, ये जो खण्ड मण्डलाकार, अखण्ड सविकल्प निर्विकल्प वृत्तियाँ है ये मुझे जो कि मैं ब्रह्म भावापन्न हूँ ब्रह्मरूप हो चुका हूँ, अलंकृत करती है । वे सब भी स्वयं ब्रह्म में लीन हो जाती हैं । तब परमात्मा अद्वैत रूप से स्थित हो जाया करता है ॥४॥

जो पुनः ये तीन रेखायें अर्थात् जड़-क्रिया, ज्ञान, इच्छा शक्ति हैं जो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति व तुरीय स्थान है, लोचन कण्ठ हृदय, सहस्रार चक्र हैं एवं भूः भुवः स्वः तीन लोक हैं, स्वर्ग हैं, एवं तम आदि गुण और एक-एक गुण के पुनः तम रूप इत्यादि भेद से तीन प्रकार हैं ये सब जिस का आश्रय लेकर स्थित हैं वह इन सब के पूरक प्रधान देव आदि विद्या, तदङ्ग देवता मन्त्र प्रतत (श्री चक्र) मध्य त्रिकोणरूप

कामिनी (स्त्री) जो चिद् शक्ति उसके साथ रहने वाले बिन्दु रूपी मदन (कामेश्वर) प्रधान रूप से विद्यमान है, शोभित हैं ।५।।

मदन्तिका मानिनी मंगला च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता ।
लज्जा मत्तिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती।।६।।

इमां विज्ञाय सुधया मदन्ती परिस्रुता तर्पयन्तः स्वपीठम् ।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परधाम त्रैपुरं चाविशन्ति ।।७।।

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाऽभ्रमिंद्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्या ।।७।।

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।
कथ्य कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवाँसो अमृतत्वं भजन्ते ।।९।।

पुरं हन्त्रीमुखं विश्वमातू रवे रेखा स्वरमध्यं तदेषा ।
बृहत्तिथिर्दश पञ्चादिनित्या सषोडशिकं पुरमध्यं बिभर्ति ।।१०।।

यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि ।
कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरोजायते कामरूपश्च काम्यः ११
परिस्रुतं झषमाजं पलं च भक्तानि योनिः सुपरिष्कृताश्च ।
निवेदयन् देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति ।। १२।।

सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकान् ।
इषुभिः पंचभिर्धनुषा च विद्धत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या ।।१३।।

भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम् ।
समप्रधानो समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः।१४।

परिस्रुता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः ।
शर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति ।।१५।।

इयं महोपनिषत्त्रैपुर्या यामक्षयं परमा गीर्भिरीट्टे ।
ए षर्ग्युजुः परमेतच्च सामायमथर्वेयमन्या च विद्या ।।१६।।

ॐ ह्रीमों ह्रीमित्युपनिषत् ॥१७॥

उनके परिवार की आवरण देवता पन्द्रह हैं जो कि क्रमशः—मदन्तिका, मानिनी, मङ्गला, सुभगा, सुन्दरी, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता, लालपन्ती हैं ॥६॥

इस प्रकार परिवार के देवताओं द्वारा जो चारों ओर से सेवित है, वह यह अमृत द्वारा मदयुक्त 'मेरे अतिरिक्त कुछ नही है'' 'मैं ही यह सारा विश्व प्रपञ्च हूँ' इस प्रकार अपने रूप के अनुसन्धान में जिसने सब कुछ भुला दिया ऐसी चिद् शक्ति शिव के साथ विराजमान है । जो योगी इसे जान जाते है वे उसके पद को प्राप्त करते हैं ।

जो ऐसा जानने में असमर्थ हैं वे निष्काम कर्म योगी जीवन भर श्री चक्र को अपने वर्ण, आश्रम के अनुरोध से क्षीर आदि द्वारा तृप्त करते हुए समयापन किया करते है और शरीर समाप्ति पर विशाल स्वर्ग पीठ पर (श्रीपुर में) ज्ञान का अभ्यास करते हुए प्रलय तक रहते हैं तदनन्तर त्रिपुर रूप जो परम धाम उसमें निवास करते है और कृत-कृत्य हो जाया करते है' ॥७॥

अब मूल विद्या को प्रकट करते हैं—काम अर्थात् ककार, योनि अर्थात् ए कामकला=ईकार, वज्रपाणि=लकार, गुहा=ह्रींकार, हस=हकार तथा सकार मातरिश्वा=ककार, अभ्र=हकार, इन्द्र=लकार, पुनर्गुहा=ह्रीकार, सकलाः=सकार, ककार, लकार, मायया च=ह्रींकार ये पुरुरुची विश्वमाता एवं विशिष्ट रूप ये आदि मूल विद्या हैं जिसकी आत्मा ॐकार है ॥८॥

विरक्तों को आदि विद्या के ज्ञान का फल—

मूल विद्या का जो छठा अक्षर 'ह' है वह शिवबीज, सातवाँ 'स' शक्ति बीज, बह्नि सारथि अर्थात् 'क' कामेश बीज एवं शिवसम्पुटित शक्ति बीज है। इसीप्रकार इस आदि विद्याका 'ह-स-क' ये तीन मूलाक्षर

वाणी के पांसु रूप में जप करते हुए शब्द स्पर्शहीन कालदर्शी सर्वज्ञ को अपने अतिरिक्त सब कुछ नहीं ऐसा जानकर, व्यष्टि समष्टि रूप जो प्रपञ्च कलाक, अथवा अपने अतिरिक्त जीव, शिव, तत्कल्पनीय, व्यष्टि समष्टि प्रपञ्च समूह नहीं है ऐसा जानते हुए कामेश्वर ईश्वर को तुष्ट करते हुए योगी अमृतत्व की प्राप्ति कर लेते है ॥९॥

भक्तानुग्रह के लिए जो ऐसे रूप धारण किया करती है उसका ध्यान करके ही अपने-अपने स्वभावके अनुसार योगी फल प्राप्त करते है। वह 'पुरमेकादशद्वारम्' इस श्रुति के आधार पर पुरं=यानी स्वाविद्या-पद तथा उसका कार्यकलाप, रूप धारण करती है। अपिच 'ह-स-क' ये हन्त्रीमुख=आदिविद्या सार रूप को धारण करती है।

सूर्य की रेखा अर्थात् 'ई ओ' ये जो स्वर मध्य हैं वह रूप भी यह धारण करती है। वृहत्तिथि=निमेष से लेकर कल्पान्त जो काल विशेष, पञ्चदशादिनित्या=पन्द्रह तिथियाँ, वार, नक्षत्रादि रूप, नित्य देवता भाव को प्राप्त पन्द्रह तिथियों के साथ वृहत्तिथिरूप सोलवें सहित पूर्वोक्त पहले बताये पुरमध्य=स्व अविद्यापद, आरोप आधार, ईश्वर रूप भी यही धारण करती है।

इस प्रकार देवताओं के जिन स्वरूपों में जिस जिस का मन लगता है उसी के आश्रय से चित्त शुद्धि द्वारा वह कृतकृत्य हो जाता है ॥१०॥

इन रूप का ध्यान करने में अशक्तों के लिए अब ध्यानान्तर कहा जाता हैं=अथवा रवि, चन्द्र आदि के मंडल से उत्पन्न, स्तान बिम्ब, एक मुख नीचे की ओर इस प्रकार उपलक्षित सर्वाङ्ग, सुन्दरी को देहत्रय रूप गुहा में स्थित परमेश्वर की कला कामरूप चिद्शक्ति का ध्यान करके मनुष्य कामना परिपूर्ण करके अपनी इच्छानुसार कामरूप हो जाता है किन्तु काम्य फल जन्मादि का कारण होताहै अतः त्रैवर्णिक मोक्षेच्छुकों को काम्योपासना नहीं करनी चाहिए ॥११॥

इसी प्रकार अपने-अपने वर्णानुसार ,शूद्र आदि भी विधिवत् अपने भोज्यपदार्थों में आत्मोपभोग बुद्धि को छोड़कर प्रथम महान् वता का अर्पण कर तथा प्रसाद रूप लेकर पुण्य लोक में सिद्धि प्राप्त करते हैं ॥१२॥

इस प्रकार न करने वाले विषयासक्त अनेक इच्छाओं से भरे हुए मनुष्यों को सरस्वती विश्वमाता लक्ष्मी के सहित आदि शक्ति जो अरुणा अर्थाद् गौरी वह ब्रह्ममात्र विद्या होकर उनका उपसंहार करती है उनसे सिद्धियों को छिपाती है उन्हें नहीं देती अपितु अज्ञान पाशों द्वारा बाँधकर उन्हें संसार के महागर्त (गढ्डे) में डाल देती है और वह जन्म जन्मान्तरों तक इसी आवर्त में घूमते रहते हैं ॥१३॥

जो निष्काम बुद्धि से चिद् शक्ति का ध्यान करते हैं वह भी कृतकृत्य हो जाते हैं। सकाम, निष्काम, जो भक्त समूह प्रवृत्ति निवृत्ति की प्रवर्तिका जो चिद्शक्ति तथा भग अर्थात् ऐश्वर्य, विद्या, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य युक्त जो भगवान् काम व ईश कामेश्वर वे दोनों चिद् सामान्यात्मा के कारण सम प्रधान समान, शक्ति वाले, समान ओज वाले देव इसी जन्म में जिन निष्कामों को दृष्टिगोचर हो जाया करते है उन्हें वह ब्रह्म पद के दाता हो जाया करते है। उन दयालु शिव व शक्ति के मध्य त्रिविध शरीर से विलक्षण जराहीन विश्वमाता शक्ति है ॥१४॥

जो कि निष्काम बुद्धि से अपने उपासकों की भावनाओं द्वारा ज्ञान, विज्ञान, सम्यग् ज्ञान रूप हवि से तृप्त होकर अपने भक्तों पर प्रसन्न हो विक्षेप रूपी आवरण के गल जाने पर शिव के साथ अपने उपासक की आत्मस्वरूप बनकर अवशिष्ट रह जाती है। इस प्रकार उपासक अपनी अज्ञ दृष्टि द्वारा कल्पित प्रपंच से उन्मनस्क होकर, सारे विश्व के जो उत्पादक, पालक एवं संहारक हैं उन शिव में विश्व रूपता का आपादन कर लेता है ॥१५॥

इस प्रकार जो यह महोपनिषत् इसे ऋक् आदि चार वेद और अन्य चौसठ जो कलायें (विद्यायें) जिस अक्षय संविद् रूप को उदार वाणी (शब्दों) द्वारा गाया करते है इत्थं भूत यह ब्रह्म विद्या ब्रह्ममात्र पर्यसन्न (ब्रह्म साक्षात्कार जिसका अन्तिम तत्व है) सर्वोत्कृष्ट है ॥१६॥

इसका शरीर 'ॐ ह्रीं मों ह्रीम्' एतद् रूप है । अर्थात् चिद् एवं चिद्शक्ति रूप है ॥१७॥

॥ त्रिपुरोपनिषद् समाप्त ॥

सीतोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शांतिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् का सीता किं रूपमिति ॥ १ ॥
स होवाच प्रजापतिः सा सीतेति—
मूलप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिः स्मृता ।
प्रणवप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृति रुच्यते ॥ २ ॥
सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामया भवेत् ।
विष्णुः प्रपञ्चबीजं च माया ईकार उच्यते ॥ ३ ॥
सकारः सत्यममृतं प्राप्तिः सोमश्च कीर्त्यते ।
तकारस्तारलक्ष्म्या च वैराजः प्रस्तरः स्मृतः ॥ ४ ॥

ईकाररूपिणी सोमाऽमृतावयव देव्यलंकारस्रङ्मौक्तिकाद्याभरणालंकृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति ॥ ५ ॥

प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना । उद्भवा नरकात्मिका द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना । तृतीया ईकाररूपिणी अव्यक्तस्वरूपा भवतीति सीता इत्युदाहरन्ति शौनकीये ॥ ६ ॥

एक समय की बात है प्रजापति ब्रह्माजी से देवताओं ने प्रश्न किया—'भगवन् ! सीताजी का रूप कैसा है, वे कौन है यह हमारे प्रति कहिये ।' । १ । तब वे प्रजापति ब्रह्माजी कहने लगे—'सीताजी शक्ति रूपिणी है । मूल प्रकृति रूप होने से वे ही प्रकृति कही जाती है । प्रणव की प्रकृति रूपा होने से भी उन्हे प्रकृति कहते है ।' । २ । वे साक्षात् योगमाया ही है । उनका सीता नाम तीन वर्णो का है । सम्पूर्ण विश्व प्रपंच के बीज भगवान् विष्णु है । उनकी योगमाया का रूप ईकार है । ॥ ३ ॥ 'स'कार को सत्य, अमृत, सिद्धि, चन्द्र तथा प्राप्ति का वाचक कहते हैं । दीर्घ अकारयुक्त 'त'कार विस्तार करने वाला एवं महालक्ष्मी रूप वाला कहा है । ईकार वाली अव्यक्त महामाया अपने अमृतमय अवयवों और दिव्याभूषणों से विभूषित रूप में व्यक्त होती हैं । ५ । वे त्रयरूपा अपने प्रथम रूप में शब्दब्रह्म से युक्त है । वे प्रसन्न होकर बुद्धि रूप से बोध देने वाली है । वे अपने द्वितीय रूप में, जब इस भूतल पर व्यक्त हुई तब जनक की यज्ञ भूमि मे हल के अग्र भाग से प्रकट हुई । उनका तृतीय रूप ईकारमय एवं अव्यक्त है । यही तीन रूप पर्याय रूप से सीता कहे गए है । शौनकीय तन्त्र में कहा है । ६ ।

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥ ७ ॥
सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।

प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥इति ॥ ८ ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति च ॥ ९ ॥ सेयं सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारकार्यकारणमयी महालक्ष्मीर्देवेशस्य भिन्नाभिन्नरूपा चेतनाचेतनात्मिका ब्रह्मस्थावरात्मा तद्गुणकर्मविभागभेदाच्छरीररूपा देवर्षिमनुष्यगन्धर्वरूपा असुरराक्षसभूतप्रेतपिशाचभूतादिभूतशरीररूपा भूतेन्द्रियमनःप्राणरूपेति विज्ञायते ॥ १० ॥

'श्रीराम के नित्य सान्निध्य के कारण सीताजी विश्व का कल्याण करने वाली है। वे ही सब प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करती है। ७। वही मूल प्रकृति के रूप में प्रसिद्ध षडैश्वर्य से युक्त भगवती है। प्रणवस्वरूपा होने से ब्रह्मवेत्ता उन्हें प्रकृति कहते हैं। ८। वे सीताजी सर्व देवता स्वरूपा, सर्ववेद रूपिणी, सर्वलोकमयी, सबकी आश्रयभूता, सर्व कीर्तियों से सम्पन्न, सर्वधर्म-सम्पन्न, सभी पदार्थों और जीवों की आत्मा, सब देव-गंधर्व, मनुष्य आदि प्राणियों की स्वरूपभूता हैं। वे सभी प्राणियों की देहरूपा और समस्त विश्वरूपा महालक्ष्मी हैं। वे भगवान् से भिन्न और अभिन्न भी कही जाती है ॥ ९-१० ॥

सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यात्मना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति ॥ ११ ॥

इच्छाशक्तिस्त्रिविधा भवति श्रीभूमिनीलाऽऽत्मिका भद्ररूपिणी प्रभावरूपिणी सोमसूर्याग्निरूपा भवति ॥ १२ ॥

सोमात्मिका ओषधीनां प्रभवति कल्पवृक्षपुष्पफललतागुल्मात्मिका औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोमफलप्रदा अमृतेन तृप्तिं जनयन्ती देवानामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानाम ॥ १३ ॥

सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवा रात्रिः कालकलानि-

मेषमारभ्य घटिकाऽष्टयाम दिवसवाररात्रिभेदेन पक्षमासर्त्वयन-संवत्सरभेदेन मनुष्याणां शतायुःकल्पनया प्रकाशमाना चिरक्षिप्रव्यपदेशा निमेषमारभ्य परार्धपर्यन्तं कालचक्रं जगच्चक्रमित्यादि-प्रकारेण चक्रवत् परिवर्तमाना । सर्वस्यैतस्यैव कालस्य विभाग-विशेषाः प्रकाशरूपाः कालरूपा भवन्ति ।। १४ ।।

अग्निरूपा अन्नपानादि प्राणिनां क्षुत्तृष्णाऽऽत्मिका देवानां मखरूपा वनौषधीनां शीतोष्णरूपा काष्ठेष्वन्तर्बहिश्च नित्यानित्य-रूपा भवति ।। १५ ।।

'वे शक्तिरूपिणी होकर इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और साक्षात् शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं। उनकी इच्छाशक्ति से युक्त स्वरूप भी तीन प्रकार का है। ११। श्रीदेवी, भूदेवी, नीलादेवी के रूप में वे मंगलरूपिणी, प्रभावरूपिणी तथा चन्द्र, सूर्य, अग्नि रूप से अत्यंत तेज-मयी होती हैं। १२। वे चन्द्ररूपिणी होकर औषधियों को पुष्ट करती हैं। वे कल्पवृक्ष, लता, गुल्म, पुष्प, पत्र, फल तथा औषधियों-महौषधियों के स्वरूप को प्रकट करने वाली हैं। उसी चन्द्ररूप में देवताओं को 'महस्तोम' यज्ञ का फल देती हैं। अन्न द्वारा प्राणियों को और अमृत द्वारा देवताओं को वे ही तृप्त करती हैं ।। १३ ।।

'वे ही सब लोकों को प्रकाशित करती हैं। दिवस, रात्रि, निमेष, घड़ी, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर आदि के भेद से मनुष्य को शतायु प्रदान करती हुई स्वयं प्रकाशित होती हैं। निमेष से परार्ध तक तथा विलम्ब और शीघ्रता के भेद से सम्पूर्ण कालचक्र तथा जगत् चक्रादि के भेद से काल के सभी अंग-प्रत्यंग उन्हीं के स्वरूप हैं। इसीलिये वे प्रकाशस्वरूपा और कालस्वरूपा है ।। १४ ।।

'वे अग्नि रूप वाली होकर प्राणियों को अन्न-जल आदि के सेवन एवं पान करने के निमित्त भूख-प्यास रूप से, देवताओं को मुख रूप से,

वनस्पतियों को शीतोष्ण रूप से और काष्ठों के भीतर बाहर नित्य और अनित्य रूप से अवस्थित हैं ॥ १५ ॥

श्रीदेवी त्रिविधं रूपं कृत्वा भगवत्संकल्पानुगुण्येन लोकरक्षणार्थं रूपं धारयति श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते ॥ १६ ॥

भूदेवी ससागराम्भस्सप्तद्वीपा वसुन्धरा भूरादिचतुर्दशभुवनानामाधाराधेया प्रणवात्मिका भवति ॥ १७ ॥

नीला च विद्युन्मालिनी सर्वौषधीनां सर्वप्राणिनां पोषणार्थं सर्वरूपा भवति ॥ १८ ॥

समस्तभुवनस्याधोभागे जलाकारात्मिका मण्डूकमयेति भुवनाधारेति विज्ञायते ॥ १९ ॥

क्रियाशक्तिस्वरूपम् । हरेर्मुखान्नादः । तन्नादाद्बिन्दुः । बिन्दोरोंकारः । ओंकारात् परतो रामवैखानसपर्वतः । तत्पर्वते कर्मज्ञानमयीभिर्बहुशाखा भवन्ति ॥ २० ॥

'अपने श्रीदेवी के रूप में तीन प्रकार का रूप धारण करने वाली सीताजी सब लोकों की रक्षा के हेतु प्रकट होती है । उस समय उनका स्वरूप लक्ष्मी रूप में दिखाई देता है । १६ । जो देवी जलमय समुद्रों से युक्त सप्तद्वीपा पृथिवी के रूप में चौदह भुवनों की आश्रयभूता होती हुई प्रणव रूप में प्रकट होती है, उनके उस स्वरूप को भूदेवी कहा गया है ॥ १७ ॥ जो देवी सब औषधियों और प्राणियों के पोषणार्थ सर्वरूपा होने वाली तथा विद्युन्माया के समान मुख वाली होकर नीलादेवी के रूप में व्यक्त होती है ॥ १८ ॥ वही आदिशक्ति सब भुवनों के नीचे जल के रूप में और भुवनों के लिए आश्रयमयी होती है । १९ ।

'भगवान् श्रीहरि के मुख से उन सीताजी का क्रियाशक्ति रूप

नाद-रूप में प्रकट हुआ। उस नाद से बिन्दु और बिन्दु से ओंकार व्यक्त हुआ। ओंकार से परे राम-वैखानस पर्वत है, जिसकी कर्म और ज्ञान से संबंधित अनेक शाखाऐं है ।। २० ।।

तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं सर्वार्थदर्शनम् ।
ऋग्यजुःसामरूपत्वात् त्रयीति परिकीर्तिता ।। २१ ।।
[हेतुना] कार्यसिद्धेन चतुर्धा परिकीर्तिता ।
ऋचो यजूंषि सामान्यथर्वाङ्गिरसस्तथा ।। २२ ।।
चातुर्होत्रप्रधानत्वाल्लिङ्गादित्रितयं त्रयी ।
अथर्वाङ्गिरसं रूपं सामऋग्यजुरात्मकम् ।। २३ ।।
तथाऽऽदिशन्त्याभिचारसामान्येन पृथक्-पृथक् ।
एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः ।। २४ ।।
शतं च नव शाखासु यजुषामेव जन्मनाम् ।
साम्नः सहस्रशाखाः स्युः पञ्चशाखा अथर्वणः ।। २५ ।।
वैखानसमतं तस्मिन्नादौ प्रत्यक्षदर्शनम् ।
स्मर्यते मुनिभिर्नित्यं वैखानसमतः परम् ।। २६ ।।
कल्पो व्याकरणं शिक्षा निरुक्तं ज्योतिषं छन्दः एतानि षडङ्गानि ।। २७ ।।
उपाङ्गमयनं चैव मीमांसा न्यायविस्तरः ।।
धर्मज्ञसेवितार्थं च वेदवेदोऽधिकं तथा ।। २८ ।।
निबन्धाः सर्वशाखा च समयाचारसङ्गतिः ।
धर्मशास्त्रं महर्षीणामन्तःकरणसंभृतम् ।।
इतिहासपुराणाख्यमुपाङ्गश्च प्रकीर्तितः ।। २९ ।।

वास्तुवेदो धनुर्वेदो गान्धर्वो दैविकस्तथा ।
आयुर्वेदश्च पंचैते उपवेदाः प्रकीर्तिताः ।। ३० ।।
दण्डो नीतिश्च वार्ता च विद्या वायुजयः परः ।
एकविंशतिभेदोऽयं स्वप्रकाशः प्रकीर्तितः ।। ३१ ।।

उस पर्वत पर सर्वार्थ व्यक्त करने वाला वेदत्रयी स्वरूप आदि शास्त्र है। वही ऋक्, यजु और सामातमक शास्त्र कार्य सिद्धि के लिए चार नामात्मक हो जाता है। यज्ञकर्म में देवस्वरूपादि तीन का उपभोग होने के कारण उन वेदों की तीन ही गणना करते है। चौथा अथर्वाङ्गि-रस वेद उन तीन वेदों का ही स्वरूप है ।। २१-२३ ।।

'ऋग्वेद की इक्कीस, यजुर्वेद की एक सौ नौ, सामवेद की एक सहस्त्र तथा अथर्व की पाँच शाखाऐं कही जाती हैं। इनमें प्रथम वैखा-नसमत ही प्रत्यक्ष दर्शन माना है। इसीलिए ऋषिगण वैखानस का स्मरण किया करते है। ज्ञानी पुरुष वेदों के साथ कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द इन छः वेदांगों तथा अयन, मीमांसा और न्यायशास्त्र का विस्तार इन तीनों उपांगों आदि का भी अध्ययन करते हैं। इतिहास-पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा आयुर्वेद यह पाँच उपवेद है। इन सब के साथ ही व्यापार, दण्ड, नीति एवं परतत्व में स्थिति आदि विषयों से समन्वित स्वयं प्रकट हुए विभिन्न शास्त्र है ।। २४-३१ ।।

वैखानसऋषेः पूर्व विष्णोर्वाणी समुद्भवेत् ।
त्रयीरूपेण संकल्प्य इत्थं देही विजृम्भते ।। ३२ ।।
संख्यारूपेण संकल्प्य वैखानसऋषेः पुरा ।
उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम् ।।
शश्वद्ब्रह्ममयं रूपं क्रियाशक्तिरुदाहृता ।। ३३ ।।

साक्षाच्छक्तिर्भगवतः स्मरणमात्ररूपाऽऽविर्भावप्रादुर्भावात्मिका निग्रहानुग्रहरूपा शन्तितेजोरूपा व्यक्ताव्यक्तकारणचरण-समग्रावयवमुख वर्णभेदाभेदरूपा भगवत्सहचारिणी अनपायिनी अनवरतसहाश्रयिणो उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषसृष्टिस्थिति-संहारतिरोधानानुग्रहादिसर्वशक्तिसामर्थ्यात् साक्षाच्छक्तिरिति गीयते ।। ३४ ।।

इच्छाशक्तिस्त्रिविधा । प्रलयावस्थायां विश्रमणार्थं भगवतो दक्षिणवक्षःस्थले श्रीवत्साकृतिर्भूत्वा विश्रम्यतीति सा योगशक्तिः ।। ३५ ।।

भोगशक्तिर्भोगरूपा कल्पवृक्षकामधेनुचिन्तामणिशङ्खपद्म-निध्यादिनवनिधिसमाश्रिता भगवदुपासकानां कामनया अकाम-नया वा भक्तियुक्ता नरं नित्यनैमित्तिककर्मभिरग्निहोत्रादिभिर्वा यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभिर्वा गोपुरप्राकारादिभिर्विमानादिभिः सह भगवद्विग्रहार्चापूजोपकरणै-रर्चनैः स्नानादिभिर्वा पितृपूजादिभिरन्नपानादिभिर्वा भगवत्प्री-त्यर्थमुक्त्वा सर्व क्रियते ।। ३६ ।।

'प्राचीन काल की बात है वैखानस ऋषि के हृदय में भगवान् विष्णु की वाणी व्यक्त हुई। वही वाणी वेदत्रयी के रूप में कल्पित हुई। ३२। वैखानस ने उस वाणी को संख्या रूप में इस प्रकार प्रकट किया कि ब्रह्ममय रूप को धारण करने वाली क्रियाशक्ति ही भगवान् की साक्षात् शक्ति है। ३३। भगवान् की इच्छा मात्र से वह ससार के रूपों को प्रकट करती हुई, दिखाई पड़ने वाले इस संसार में स्वयं व्यक्त होती है। वे शान्ति और तेजोमयी, कृपास्वरूपा और शासनमयी, व्यक्त-अव्यक्त की कारणभूता, भगवान् की अनुगामिनी, उनसे अभिन्न, प्रभु-आश्रिता, कथनीय एवं अकथनीय रूप वाली, निमेष-उन्मेष, उत्पत्ति,

स्थिति, विनाश, तिरोधान और अनुग्रह आदि की सामर्थ्यवाली तथा अविनाशिनी होने से साक्षात् शक्ति कही जाती है। ३४।

'सीताजी का इच्छाशक्ति रूप भी त्रिविध है। वे ही योग शक्ति प्रलयकाल में विश्राम के निमित्त भगवान् के दक्षिण वक्ष पर श्रीवत्स की आकृति में विश्राम करती है। ३५। वही भोगरूपा शक्ति हैं। वे कल्पवृक्षादि नौ निधियों में निवास करने वाली है। वे भगवद्भक्तो की इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक भी नित्य नैमित्तिक कर्म से यज्ञादि कर्म, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, चिन्तन, समाधि आदि के द्वारा उपासना करने वालों के उपभोगार्थ विभिन्न भोगों को सम्पादित करती है। वही भगवद् विग्रह के पूजनादि की सामग्रियों, तीर्थ-जलों, अन्नों, रसों आदि का भी सम्पादन करती है। ३६।

अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजाऽभयवरदपद्मधरा किरीटाभरणयुता सर्वदेवैः परिवृता कल्पतरुमूले चतुर्भिर्गजै रत्नघटैरमृतजलैरभिषिच्यमाना सर्वदेवतैर्ब्रह्मादिभिर्वन्द्यमाना अणिमाद्यष्टैश्वर्ययुता संमुखे कामधेनुनास्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरस्त्रीभिः परिचर्यमाणा आदित्यसोमाभ्यां दीपाभिः प्रकाशिष्यमाणा तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासिनीवालीभ्यां छत्रेण ह्लादिनीमायाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरभ्यर्च्यमाना देवी दिव्यसिंहासने पद्मासनारूढा सकलकारणकार्यकरी लक्ष्मीर्देवस्य पृथग्भवनकल्पनालंचकार स्थिरा प्रसन्नलोचना सर्वदेवतैः पूज्यमाना वीरलक्ष्मीरिति विज्ञायत इत्युपनिषत् ॥ ३७ ॥

श्रीसीताजी का वीर शक्ति रूप चार भुजाओं से युक्त है। उनके हाथों में वरमुद्रा, अभयमुद्रा और दो कमल सुशोभित हैं। किरीट-मुकुटों से और अन्य अलंकारों से अलंकृत है। चार श्वेत हाथी रत्नजटित कलशों के द्वारा अमृत-जल से उनका अभिषेक करते हैं। सब देवता

उनके चारों ओर खड़े है तथा ब्रह्मादिक उनकी स्तुति करते है। अणिमादि ऐश्वर्यो से सम्पन्न लक्ष्मी रूपा सीता की कामधेनु वंदना करती है। वेदशास्त्र भी देवरूप में उनकी स्तुति करते हैं। अप्सराऐं और देवांगनाऐं उनकी सेवा कर रही हैं। राका और सिनीवाली देवियाँ छत्र पकड़े खड़ी हैं, ह्लादिनी और माया चँवर डुला रही है तथा स्वाहा और स्वधा पंखा कर रही है। भृगु आदि महात्मा उनका पूजन कर रहे हैं। सूर्य और चंद्र दीपक रूप में वहाँ प्रकाश कर रहे है। तुम्बरु और नारद आदि उनके गुणगान मे व्यस्त है। वे महादेवी दिव्य सिंहासन पर स्थित अष्टदल कमल पर विराजमान है। वे ही सब कार्यो और कारणों की विधायिका है। उन्होंने दिव्य आभूषणों से अपने को अलंकृत किया हुआ है। वे देवताओं द्वारा पूजी जाती हुई प्रसन्न नेत्रों से अवस्थित वीर लक्ष्मी हैं। इस प्रकार भगवान् से पृथक् उनका ध्यान करना चाहिये।'। ३७।

॥ सीतोपनिषद् समाप्त ॥

राधोपनिषद्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा वशिष्यते। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ। यह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है। इस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत को पृथक् करदें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा। ॐ शांति, शांति, शांति।

ओमथोर्ध्व मन्थिन ऋषयः सनकाद्या भगवन्तं हिरण्यगर्भ मुपासित्वोचुः देव कः परमो देवता, का वा तच्छक्तयः, तासु च का वरीयसी भावतीति सृष्टि हेतु भूता च केति॥ सहोवाच! हे पुत्रकाः श्रृणुतेदं ह वाव गुह्याद् गुह्यतरमप्रकाश्यं, यस्मै कस्मै न देयम्॥ स्निग्धाय, ब्रह्मवादिने, गुरुभक्ताय, देव मन्यथा दातुर्महदवम्भीति। 'कृष्ण ह वै हरिः परमोदेव षड् विधैश्वर्य्य परिपूर्णो भगवान गोपीगोपसेव्यो वृन्दाऽऽराधितो वृन्दावनादिनाथः स एक एवेश्वरः। तस्य हवै द्वैततनुः नारायणोऽखिल ब्रह्माण्डाधिपतिरेकोंऽशः प्रकृतेः प्राचीनो नित्यः। एवं हि तस्य शक्तयस्त्वनेकधा। आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञानेच्छा, क्रियाद्या, बहुविधः शक्तयः। तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरङ्गभूता राधा, कृष्णेन आराध्यत इति राधा कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका गन्धर्वेति व्यपादेश्यत इति। येयं राधा यश्च कृष्णे रसब्धिर्देहे नैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत्।

हरि ॐ। किसी समय ऊर्ध्वरेता सनकादिक ऋषियों ने पितामह ब्रह्माजी से स्तुति करके पूछा—'भगवन्! कौन परम देव हैं, उनकी

शक्तियाँ कौन हैं, उन शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ और सृष्टि का कारण रूप कौन सी शक्ति कही गई है ?' ब्रह्माजी ने कहा—'पुत्र ! सुनो मैं इस अति गुह्य वार्ता को तुममें कहताहूँ, पर इसे हर किसीको मत बतलाना। इसे उसी को बतलाना, जो स्नेहशील हो, ब्रह्मचारी हो, गुरु का भक्त हो, अगर इसके विपरीत अनधिकारी को दिया गया तो बड़ा पाप होगा। भगवान् कृष्ण ही सबसे बड़े देव हैं, वे छहों ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, गोपी गोप उनकी सेवा करते हैं, वृन्दा द्वारा आराधना किये जाते हैं, ये वृन्दावन के अधीश्वर है और एक मात्र सर्वेश्वर हैं। श्री नारायण भी उन्हीं के रूप हैं जो समस्त जगत के स्वामी हैं। श्रीकृष्ण ही प्रकृति से पर और अविनाशी है। आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञानेच्छा, क्रिया इत्यादि इनकी अनेक शक्तियाँ है। इन सब में 'आह्लादिनी' सबसे प्रधान है। यह उनकी सर्वाधिक अन्तरङ्ग है, इन्हीं को 'राधा' कहते है। भगवान् कृष्ण स्वयं इनकी आराधना करते है। श्री राधा जी सदैव कृष्ण की आराधना करती हैं। राधिका को 'गन्धर्वा' भी कहा जाता है। समस्त गोपियाँ, श्रीकृष्ण भगवान् की महषियाँ और लक्ष्मी का आविर्भाव भी राधाजी के शरीर से ही हुआ है। रस-सागर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही क्रीडार्थ एक से दो रूपों में विभक्त हो गए हैं।

एषा वै हरेः सर्वेश्वरी सर्वविद्या सनातनी कृष्णप्राणाधिदेवी चेति, विविक्ते वेदाः स्तुवन्ति, यस्या गतिं वक्तुं न चोत्सहे। सैव यस्य प्रसीदति तस्य करतलावकलितम्परमधामेति। एतामवज्ञाय यः कृष्णमाराधयितुमिच्छति, स मूढतमोमूढतमश्चेति। अथ हैतानि नामानि गायन्ति श्रुतयः॥

श्री राधा सर्वेश्वर भगवान् कृष्ण की भी सर्वेश्वरी हैं, उनकी समस्त विद्याओं में सनातनी हैं, ये श्रीकृष्ण की प्राणों से अधिक प्रिय देवी हैं। चारों वेद भी एकान्त भाव से इनकी स्तुति करते हैं। ब्रह्मज्ञानी ऋषि इनकी गति को जानते और कहते हैं। इनकी महिमा

इतनी अधिक है कि मैं चाहे अपनी समस्त आयु उसे कहता रहूँ तो भी उसका पार नही मिल सकता। ये राधाजी जिस पर प्रसन्न होती हैं उसे तुरन्त परम धाम की प्राप्ति हो जाती हैं। यदि कोई राधाजी की अवज्ञा करके कृष्ण भगवान् की आराधना करने की इच्छा करता है तो वह सर्वाधिक मूढ़ है। वेदों में श्रीराधाजी के नाम इस प्रकार गिनाये गए हैं।

राधा रासेश्वरी रम्या कृणण मन्त्राधिदेवता। सर्वाद्या सर्ववन्द्यः च वृन्दावन विहारिणी॥ वृन्दा राध्या रमाऽशेष गोपी मण्डल पूजिता। सत्या सत्य परा सत्यभामा श्री कृष्ण वल्लभा॥ वृष भानसुता गोपी मूल प्रकृतिरीश्वरी। गान्धर्वा राधिका रम्या रुक्मिणी परमेश्वरी॥ परात्परतरा पूर्ण पूर्णचन्द्र निभानना। भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भव व्याधि विनाशिनी॥

राधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्ण मन्त्राधिदेवता, सर्वाद्या, सर्व-वन्द्या, बृन्दावन विहारिणी, वृन्दाराध्या, रमा, अशेष, गोपी मण्डल पूजिता, सत्यासत्यपरा, सत्यभामा, श्रीकृष्ण वल्लभा, वृषभानुसुता, गोपी मूल प्रकृति, ईश्वरी, गन्धर्वा, राधिका, रम्या, रुक्मिणी, परमेश्वरी, परात्परतरा, पूर्णा, पूर्णचन्द्रानिभानना, भुक्तिमुक्तिप्रदा, नित्य, भवव्याधि विनाशिनी।

इत्येतानि नामानि यः पठेत् स जीवन्मुक्तो भवति। इत्याह हिरण्यगर्भो भगवानिति। सन्धिनी तु धाम भूषणशय्या-सनादिमित्र भृत्यातिरूपेण परिणत मृत्युलोकावतरणकाले मातृ-पितृरूपेण चाऽऽसीदित्यनेकावतारकारणाज्ञान शक्तिस्तु क्षेत्रज्ञ-शक्तिरिति इच्छन्तर्भूता मायासत्वषजस्तमोमयी बहिरङ्गा जगत्कारणभूता सैवाऽविद्यारूपेण जीवबन्धन भूता क्रियाशक्तिस्तु लीला शक्तिरिति। य इमामुपनिषदमधीते, सोऽव्रती व्रतीभवति, स वायुपूतो भावति, स सर्वपूतो भवति, राधाकृष्णप्रियो भवति स यावच्चक्षुः पातं पंक्तीः पुनाति। ॐ तत्सत्।

इन नामों का जो पाठ करता है वह जीवन्मुक्त हो जाता है, ऐसा भगवान् ब्रह्माजी का कथन है (यहाँ तक आल्हादिनी शक्ति—राधा जी का वर्णन हुआ) अब सन्धिनी शक्ति का वर्णन करते है कि यह शक्ति धाम, भूषण, शय्या, आसन आदि और मित्र, सेवक रूप से परिणत होती है। मृत्यु लोक में जन्म लेते समय माता-पिता रूप से परिणाम को प्राप्त होती है। जो अनेक अवतारों का कारण है उस ज्ञान शक्ति को ही क्षेत्रज्ञ-शक्ति कहते हैं। इच्छाशक्ति के अन्तर्भूत माया शक्ति है। वह सत्—रज-तम आदि त्रय गुण रूप है और बहिरङ्ग होने से जगत की कारणभूत है। यह माया ही अविद्या रूप से जीव को बन्धन में डालने वाली होती है। भगवान् की क्रिया-शक्ति ही लीलाशक्ति है। जो इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह अव्रती हो तो भी व्रती हो जाता है, वह वायु के समान पवित्र हो जाते हैं, वह सर्वपवित्र हो जाते हैं, वह राधाकृष्ण के प्रिय हो जाता है। जहां कहीं उसकी दृष्टि पड़ती है वहाँ तक वह सबको पवित्र बना देती है। ॐ तत्सत्।

॥ राधोपनिषद्समाप्त ॥

तुलस्युपनिषत्

अथ तुलस्युपनिषदं व्याख्यास्या नारद ऋषिः। अथर्वाङ्गिरश्छन्दः। अमृता तुलसी देवता। सुधा बीजम्। वसुधा शक्तिः। नारायणः कीलकम्। श्यामां श्यामवपुर्धरां ऋक्स्वरूपां यजुर्मनां [?] ब्रह्माथर्वप्राणां कल्पहस्तां पुराणपठितां अमृतोद्भवां अमृतरसमञ्जरीं अनन्तां अनन्तरसभोगदां वैष्णवीं विष्णुवल्लभां मृत्युजन्मनिबर्हणीं दर्शनात्पापनाशिनीं स्पर्शनात्पावनीं अभिवन्दनाद्रोगनाशिनीं सेवनान्मृत्युनाशिनीं वैकुण्ठार्चनाद्विपद्धन्त्रीं भक्षणात् वयुनप्रदां प्रादक्षिण्याद्दारिद्र्यनाशिनीं मूलमृल्लेपनान्महापापभञ्जिनीं घ्राणतर्पणादन्तर्मलनाशिनीं य एवं वेद स वैष्णवो भवति। वृथा न छिन्द्यात्। दृष्ट्वा प्रदक्षिणं कुर्यात्। यां न स्पृशेत्। पर्वणि न विचिन्वेत्। यदि विचिन्वति स विष्णुहा भवति। श्रीतुलस्यै स्वाहा। विष्णुप्रियायै स्वाहा। अमृतायै स्वाहा। श्रीतुलस्यै विद्महे विष्णुप्रियायै धीमहि। तन्नो अमृता प्रचोदयात्॥

अब तुलस्युपनिषद् का विवेचन जरते हैं। इस उपनिषद् का ऋषि नारद, छन्द अथर्वाङ्गिर, अमृतस्वरूप तुलसी देवता, सुधा बीज, वसुधा शक्ति, कीलक नारायण है। इस कृष्ण वर्ण वाली, श्यामसुन्दर प्रिय ऋग्वेद स्वरूप, यजुर्वेद चित्त वाली, ब्रह्माथर्ववेद प्राण वाली कल्प (वेदाङ्ग) की हाथ रूप, पुराण में विख्यात, अमृत से उत्पन्न होने वाली अमृत रस की मञ्जरी के समान अनन्तरूप असंख्य रस तथा भोग देने वाली वैष्णवी विष्णु सम्बन्धी वस्तु विष्णुप्रिया, मृत्यु तथा जन्म को समाप्त करने वाली, देखने से पाप नाशक, छूने से पवित्र करने वाली,

प्रणाम से रोगनाशक, सेवन के मृत्यु दूर करने वाली, विष्णु पूजन करने से (उनके पूजन में चढ़ाने से) विपत्तिनाशिका, खाने से प्राणों में शक्ति देने वाली, परिक्रमा से दारिद्रय नाशक, जड़ में मिट्टी लगाने से (जैसे पौधों की सुरक्षा के लिए मिट्टी लगाई जाती है) महापाप को भञ्जन (समाप्त) कर देने वाली, सूंघने से अन्दर के मैल को नाश कर देने वाली है। तुलसी को जो इस रूप में श्रद्धापूर्वक देखता है, समझता है, वह सच्चा विष्णु भक्त है। इसे व्यर्थ न तोड़ें। कहीं देख लें तो परिक्रमा करें। रात को न छूएँ। पर्व के दिन न तोड़े। यदि तोड़ेगा तो वह विष्णुद्रोही कहलायेगा। श्री तुलसी जो कि विष्णु भगवान् की प्यारी है, अमृत स्वरूप है, उसे नमस्कार पहुँचे। इस विष्णु प्रिय श्री तुलसी का हम ध्यान करते है, इसके प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं, सो वह अमृतस्वरूप हमें अमृतत्व के लिए प्रेरित करें।

अमृतेऽमृतरूपासि अमृतत्वप्रदायिनि।
त्वं मानुद्धर संसारात् क्षीरसागरकन्यके ॥
श्रीसखि त्वं सदानन्दे मुकुन्दस्य सदा प्रिये।
वरदाभयहस्ताभ्यां मां विलोकय दुर्लभे ॥
अवृक्षवृक्षरूपासि वृक्षत्वं मे विनाशय।
तुलस्यतुलरूपासि तुलाकोटिनिभेऽजरे ॥
अतुले त्वतुलायां हि हरिरेकोऽस्ति नान्यथा।
त्वमेव जगतां धात्री त्वमेव विष्णुवल्लभा ॥
त्वमेव सुरसंसेव्या त्वमेव मोक्षदायिनी।
त्वच्छायायां वसेल्लक्ष्मीस्त्वन्मूले विष्णुरव्ययः ॥
समन्ताद्देवताः सर्वाः सिद्धचारणपन्नगाः।
यन्मूले सर्वतीर्थानि यन्मध्ये ब्रह्मदेवताः ॥

हे क्षीर समुद्र की कन्या तुलसी ! तू अमृत स्वरूप है, इसीलिए 'अमृता' कहलाती है। तू अमृतत्व की देने वाली है, तू मुझे इस संसार

से उद्धृत कर ले। हे लक्ष्मी की सहेली तू सदा आनन्दमय है तथा हमेशा ही विष्णुजी की प्रिय है। हे दुष्प्राप्य ! तू मुझे वरदान तथा अभय की मुद्रा से युक्त हाथों से सुशोभित होकर कृपादृष्टि से देख। यद्यपि तू पेड़ नही है, तथापि महात्म्य की अधिकता से वृक्ष ही है, सो तू मेरे अज्ञानता को दूर कर दे। हे तुलसी तू अतुलरूप (जिसके रूप की तुलना नही) है। तू जराहीन है तेरी तुला में करोड़ों तुलाएं भी नहीं हैं, तू ही करोड़ों तुलनाओ स्वरूप है। हे तुलनाहीन ! तेरी तुलना में तो केवल एकमात्र भगवान् विष्णु ही टिकते है और कोई नही। तू ही संसार की पालन करने वाली है तथा तू ही भगवान् विष्णु की प्रिय है। तू ही देवताओं द्वारा सेवा करने योग्य तथा मोक्ष देने वाली है। तेरी ही छाया में लक्ष्मी निवास करती है तथा तेरे मूल में (जड़ में) ही भगवान् विष्णु का निवास स्थल है। सारे देवता, सिद्ध, चारण, नाग, जिससे मूल में चारों तरफ से रहते हैं तथा सारे तीर्थ भी जिसके मूल मे निवास करते हैं एवम् जिसके मध्य में ब्रह्म देवता रहते हैं।

यदग्रे वेदशास्त्राणि तुलसीं तां नमाम्यहम्।
तुलसि श्रीसखि शुभे पापहारिणि पुण्यदे ॥
नमस्ते नारदनुते नारायणमनःप्रिये।
ब्रह्मानन्दाश्रुसजाते बृन्दावननिवासिनि ॥
सर्वावयवसम्पूर्णे अमृतोपनिषद्रसे।
त्वं मामुद्धर कल्याणि महापापाब्धिदुस्तरात् ॥
सर्वेषामपि पापानां प्रायश्चित्तं त्वमेव हि।
देवानां च ऋषीणां च पितृणां त्वं सदा प्रिये ॥
विना श्रीतुलसीं विप्रा येऽपि श्राद्धं प्रकुर्वते।
वृथा भवति तच्छ्राद्धं पितृणां नोपगच्छति ॥
तुलसीपत्रमुत्सृज्य यदि पूजां करोति वै।
आसुरी सा भवेत् पूजा विष्णुप्रीतिकरी न च ॥

यज्ञं दानं जपं तीर्थं वै देवतार्चनम् ।
तर्पणं मार्जनं चान्यन्न कुर्यात्तुलसीं विना ।।
तुलसीदारुमणिभिः जपः सर्वार्थसाधकः ।
एव न वेद यः कश्चित् स विप्रः श्वपचाधमः ।।

जिसके अग्रभाग मे वेदशास्त्र रहते हैं उस तुझ तुलसी को मैं प्रणाम करता हूँ । हे तुलसी ! तू लक्ष्मी की सखि कल्याणमय पापहरण करने वाली तथा पुण्यदात्री है । हे विष्णु के मन को अच्छी लगने वाली, नारद से हमेशा प्रणाम किये जाने वाली स्तुति किये जाने वाली तुलसी ! तू ब्रह्मा के आनन्दाश्रुओं से उत्पन्न है तथा बृन्दावन में निवास करने वाली है । हे सभी अङ्गो-अवयवों से पूर्ण ! तथा तुलस्युपनिषद् की रस रूप हे कल्याणी ! तू मुझे महापाप के दुस्तर समुद्र से उबार ले। सभी पापों की प्रायश्चितभूत तू ही है । तू देवताओं, ऋषियों तथा पितरों की सदा ही अत्यन्त प्रिय है । जो भी ब्राह्मण बिना तुलसी के प्रयोग किये श्राद्ध करते है वह श्राद्ध व्यर्थ हो जाता हैं तथा पितरों को प्राप्त नही होता । यदि कोई तुलसी को छोड़कर (अर्थात् पूजा की वस्तुओं में न रखकर) पूजन करता है तो वह पूजा आसुरी कही जाती है तथा वह पूजा विष्णु को प्रसन्न करने वाली नही होती । यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, देवताओं का पूजन, तर्पण तथा मार्जन तथा अन्य भी इसी प्रकार के धार्मिक कृत्य तुलसी के बिना नही करने चाहिए । तुलसी की लकड़ी के मनकों वाली माला सभी इच्छित वस्तुओं की साधिका है । जो कोई ब्राह्मण इस तथ्य को नहीं जानता वह चाण्डाल के समान अथवा उससे भी अधिक नीच है ।

इत्याह भगवान् ब्रह्माणं नारायणः, ब्रह्मा नारदसनकादिभ्यः, सनकादयो वेदव्यासाय, वेदव्यासः शुकाय, शुको वामदेवाय, वामदेवो मुनिभ्यः, मुनयो मनुष्यः प्रोचुः । य एवं वेद स स्त्रीहत्यायाः प्रमुच्यते । स वीरहत्यायाः प्रमुच्यते । स ब्रह्म-

हत्यायाः प्रमुच्यते । स महाभयात् प्रमुच्यते । स महादुःखात् प्रमुच्यते । देहान्ते वैकुण्ठमवाप्नोति वैकुण्ठमवाप्नोति । इत्युपनिषत् ॥

यह सब भगवान् नारायण ने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने नारद सनकादियों को, सनकादि ने वेदव्यास को, वेदव्यास ने शुकदेव जी को, शुकदेव ने वामदेव को, वामदेव ने अन्य मुनियों को तथा मुनियों ने मनुष्यों को कहा। जो इस को (तथ्य को) जानता है वह स्त्री हत्या से मुक्त हो जाता है। वह वीर हत्या से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्महत्या, महा भय, महा दुःख, आदि से भी छूट जाता है और शरीर समाप्ति पर निश्चित वैकुण्ठ में वास प्राप्त कर लेता है।

॥ तुलस्युपनिषत् समाप्त ॥

नारायणोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति । नारायणात्प्राणो जायते । मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणीं । नारायणाद्ब्रह्मा जायते । नारायणद्रुद्रो जायते । नारायणादिन्द्रो जायते । नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते । नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते । नारायणात्प्रवर्तन्ते । नारायणे प्रलीयन्ते । एतदृग्वेदशिरोऽधीते ॥ १ ॥ अथ नित्यो नारायणः । ब्रह्मा नारायणः । शिवश्च नारायणः । शक्रश्च नारायणः । कालश्च नारायणः । दिशश्च नारायणः । विदिशश्च नारायणः । ऊर्ध्वं च नारायणः । अधश्च नारायणः । अन्तर्बहिश्च नारायणः । नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् । य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति । एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते ॥ २ ॥

ॐ पुरुष रूप नारायण ने कामना की कि प्रजा की सृष्टि होनी चाहिये। तब नारायण मे से प्राण की उत्पत्ति हुई, और मन तथा सब इन्द्रियों की उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई। आकाश वायु, ज्योति, जल और पृथ्वी, जो विश्व को धारण करती है, इन सब पच भूतों की उत्पत्ति भी नारायण से हुई। नारायण से ही ब्रह्माजी उत्पन्न हुये, नारायण से रुद्र की उत्पत्ति हुई। नारायण से इन्द्र उत्पन्न हुये। नारायण से प्रजापति उत्पन्न हुये। नारायण से ही बारह आदित्य, रुद्र, आठ वसु और सब प्रकार के छन्दों की उत्पत्ति हुई। ये नारायण मे से ही आते हैं और उसी में लय को प्राप्त होते है। ऋग्वेद के इस शिरोभाग (श्रेष्ठ अंग) का विद्वान अध्ययन करते हैं॥ १॥

नारायण नित्य रूप है, नारायण ब्रह्मा रूप है, नारायण शिव रूप है, नारायण शक्र रूप है, नारायण काल रूप है, नारायण दिशारूप है, नारायण विदिशा रूप है, नारायण ही ऊपर है, नारायण ही नीचे है, नारायण ही भीतर और बाहर है। जो कोई उत्पन्न हुआ है, और उत्पन्न होगा वह सब नारायण रूप ही है। एक मात्र नारायण ही निष्कलङ्क, निरंजन, निर्विकल्प, निराख्यात (वर्णन से रहित) और शुद्ध देव है, इनके अतिरिक्त और कहीं कोई नही है। जो इस प्रकार जानता है वह विष्णुरूप हो जाता, वह विष्णु के समान हो जाता है। विद्वान लोग यजुर्वेदोक्त इस श्रेष्ठ तत्व का अध्ययन करते है॥ २॥

ॐ मित्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात्। नारायणायेत्युपरिष्टात्। ॐ मित्येकाक्षरम्॥ नम इति द्वे अक्षरे। नारायणायेति पञ्चाक्षराणि। एतद्वै नारायणास्याष्टाक्षरं पदम्। यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति। अनपब्रुवः सर्वमायुरेति। विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्य ततोऽमृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नु इति। एतत्सामवेदशिरोऽधीते॥ ३॥ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुष प्रणवस्वरूपम्। अकार उकारो मकार इति।

ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्म-संसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठ-भुवनं गमिष्यति। तदिदं पुण्डरीक विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभ-मात्रम्। ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युत इति। सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम्। एतदथर्वशिरोऽधी-ते॥ ४॥ प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायम-धीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं प्रातरधीयानो पापोऽपापो भवति। मध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्च-महापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपरायणपुण्यं लभते। नारायणसायुज्यमवाप्नोति श्रीमन्नारायणसायुज्यमवाप्नोति य एवं वेद।

आरम्भ में 'ॐ' का उच्चारण करना, उसके पीछे नमः उच्चारण करना, और अन्त में 'नारायण' का उच्चारण करना। 'ॐ' में एक अक्षर है, 'नमः' में दो अक्षर है, और 'नारायणेति' में पाँच अक्षर है। इस प्रकार यह नारायण का आठ अक्षर का मंत्र होता है, इसका जप और ध्यान करने से मनुष्य अकालमृत्यु से बचकर पूर्ण आयु को भोगता है। उसे प्रजा (स्त्री पुत्र आदि), धन सम्पत्ति की और गौ आदि पशुओं की प्राप्ति होती है। अन्त में वह अमृतत्व को प्राप्त होता है, अमृतत्व को प्राप्त होता है। सामवेद के इस शिरोभाग का विद्वजन अध्ययन करते हैं।

'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार युक्त यह प्रत्यक् (ॐ) आनन्द रूप, ब्रह्मपुरुष रूप और प्रणव स्वरूप है। यह अनेक प्रकार से सम-मात्रा है, इसको 'ॐ' कहते हैं और इसके जप से योगीजन संसार के समस्त बन्धनों और बार-बार जन्म लेने से छूट जाता है। 'ॐ' नमो नारायणेयेति' इस मंत्र की उपासना करने वाला वैकुण्ठ धाम को जाता है। यह पुण्डरीक (हृदय रूपी कमल) विज्ञान रूप है, इससे विद्युत

की आभा प्रकट होती है। ब्रह्म को ही देवकी पुत्र कहा जाता है, वे ही मधुसूदन है, वे ही पुण्डरीकाक्ष हैं और वे ही विष्णु तथा अच्युत हैं। सर्व प्राणी मात्र में वे ही नारायण रहते हैं, वे कारण पुरुष होते हुये भी कारण रहित हैं, वे ही परब्रह्म है। विद्वान लोग अथर्व वेद के इस शिरोभाग (सार भाग) का अध्ययन करते हैं ॥ ४ ॥

प्रातः समय इस मंत्र का जप करने से रात्रि में जो पाप किये हों वे सब नष्ट हो जाते हैं और इसी प्रकार सायंकाल को जप करने से दिन के पाप दूर होते है। इस प्रकार प्रातः और सायं इसका जप करने से मनुष्य निष्पाप हो जाता है। दिन के मध्य (दोपहर) को सूर्य के सम्मुख इसका जप करने से पंच महापातकों और उपपातकों से छुटकारा हो जाता है। उसे सब वेदों के परायण फल प्राप्त होता है और नारायण का सायुज्य प्राप्त होता है। इस प्रकार जानने से नारायण से साक्षात्कार होता है ॥ ५ ॥

॥ नारायणोपनिषत् समाप्त ॥

सूर्योपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करें, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐशांतिः शांतिः शांतिः ॥

हरिः ॐम् अथ सूर्याथर्वाङ्गिरसं व्याख्यास्यामः । ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । आदित्यो देवता । हंसः सोऽहमग्निनारायणयुक्तं बीजम् । हृल्लेखा शक्तिः । वियदादिसर्गसंयुक्तं कीलकम्। चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थे विनियोगः । षट्स्वरारूढेन बीजेन षडङ्गं रक्ताम्बुजसंस्थितं सप्ताश्वरथिनं हिरण्यवर्णं चतुर्भुजं पद्मद्वयाभयवरदहस्तं कालचक्रप्रणेतारं श्रीसूर्यनारायणं य एवं वेद स वै ब्राह्मणः । १ ।

ॐ भूर्भुवः सुवः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् । २ ।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते । सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा ।। ३ ।।

नमस्त आदित्य । त्वमेव प्रत्यक्षं कर्मकर्ताऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि । त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षमृगसि । त्वमेव प्रत्यक्षं यजुरसि । त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि । त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वाऽसि । त्वमेव सर्वं छन्दोऽसि । ४ ।

आदित्याद्वायुर्जायते । आदित्याद्भूमिर्जायते । आदित्यादापो जायन्ते । आदित्याज्ज्योतिर्जायते । आदित्याद्व्योम दिशो जायन्ते । आदित्याद्देवा जायन्ते । आदित्याद्वेदा जायन्ते । आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति । असावादित्यो ब्रह्म । आदित्योऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः । आदित्यो वै व्यानः समानोदानोऽपानः प्राणः । आदित्यो वै श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणः । आदित्यो वै वाक्पाणिपादपायूपस्थाः । आदित्यो वै शब्दस्पर्शरूप रसगन्धाः । आदित्यो वै वचनादानागमनविसर्गानन्दाः । आनन्दमयो विज्ञानमयो विज्ञानमय आदित्यः । ५ ।

अब सूर्य-सम्बन्धी अथर्ववेदीय मन्त्रों की व्याख्या की जाती है । इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द गायत्री, देवता सूर्य है । 'हंसः' 'सोऽहं' अग्नि नारायण युक्त बीज तथा हृल्लेखा शक्ति है । कीलक वियत् आदि सृष्टि से संयुक्त है । इसका विनियोग चारों प्रकार की पुरुषार्थ-सिद्धि में करते हैं । छः स्वरों पर प्रतिष्ठित बीज सहित षडाङ्ग रक्तकमल पर स्थित, सात अश्वों से युक्त रथ पर आरूढ़, हिरण्यवर्ण, चार भुजाओं में दो कमल, वरमुद्रा और अभयमुद्राधारी कालचक्र के विधायक सूर्य को इस भांति जानने वाला ही ब्राह्मण है, । १ । जो सूर्य नारायण प्रणव के अर्थभूत सत्-चित्-आनन्दमय तथा भूः भुवः स्वः रूप से त्रैलोक्यरूप

हैं, उन्हीं विश्व-रचयिता के महान् तेज का हम चिन्तन करते हैं। वे भगवान हमारी बुद्धियों के प्रेरक हैं। २। सूर्य सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम के आत्मा हैं। इन्ही से इन भूतों की उत्पत्ति होती है। उन्हीं से यज्ञ, मेघ और आत्मा आविर्भूत होते है। ३। हे आदित्य ! हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। तुम्हीं कर्म और कर्त्ता हो, तुम्हीं ब्रह्म और विष्णु हो। तुम्हीं रुद्र एवं ऋक्, यजु, साम और अथर्व हो। तुम सम्पूर्ण छन्द रूप हो। ४। आदित्य से वायु, भूमि, जल, ज्योति, आकाश और दिशाऐं उत्पन्न होती हैं। उन्हीं से देवता प्रकट होते हैं। उन्हीं से वेदों की उत्पत्ति है। इस ब्रह्मांड को आदित्य ही तपाते हैं। वही ब्रह्म हैं। वही अन्तःकरण रूप है। वही पांचों प्राण के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वही पंचेन्द्रिय के रूप मे कार्य करते हैं। वही पंच कर्मेन्द्रिय हैं। ज्ञानेन्द्रियों के पांच विषय भी वहीं हैं। कर्मेन्द्रियों के पांच विषय आदित्य ही हैं। वे ही ज्ञान-विज्ञान से युक्त एवं आनन्दमय हैं। ५।

नमो मित्राय भानवे॒मृत्योर्मा पाहि। भ्राजिष्णवे विश्वहेतवे नमः।

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च ॥

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः।
चक्षुर्धाता दधातु नः ॥
आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि।
तन्नः सूर्यः प्रचोदयात् ॥
सविता पुरस्तात् सविता पश्चात्तात्
सवितोत्तरात्तात् सविताऽधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वताति
सविता नो रासतां दीर्घमायुः। ६।

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म । घृणिरिति द्वे अक्षरे । सूर्य इत्यक्षरद्वयम् । आदित्य इति त्रीण्यक्षराणि । एतस्यैव सूर्यस्याष्टाक्षरो मनुः । ७

यः सदाऽहरहर्जपति स वै ब्राह्मणो भवति स वै ब्राह्मणो भवति । सूर्याभिमुखो जप्त्वा महाव्याधिभयात् प्रमुच्यते । अलक्ष्मीर्नश्यति । अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति । अगम्यागमनात् पूतो भवति । पतितसंभाषणात् पूतो भवति । असत्संभाषणात् पूतो भवति । मध्याह्ने सूर्याभिमुखः पठेत् । सद्योत्पन्नपंचमहापातकात् प्रमुच्यते । सैषा सावित्री विद्यां [द्या] न किंचिदपि न कस्मैचित् प्रशंसयेत् । य एतां महाभागः प्रातः पठति स भाग्यवान् जायते । पशून् विन्दति । वेदार्थं लभते । त्रिकालमेतज्जप्त्वा क्रतुशतफलमवाप्नोति । हस्तादित्ये जपति स महामृत्युं तरति स महामृत्युं तरति य एवं वेद । इत्युपनिषत्।८।

मित्र देवता और भगवान् सूर्य को नमस्कार है । भगवन् ! मृत्यु से मेरी रक्षा करो ! विश्व के कारण रूप एवं तेजस्वी सूर्य को नमस्कार है । सूर्य से ही सब चराचर प्राणियों की उत्पत्ति है । वे ही उनका पालन करते हैं तथा अन्त में सब जीव उन्हीं में लीन हो जाते हैं । जो सूर्य हैं, वही मैं हूँ । सविता देव हमारे चक्षु हैं । सब के धारण करने वाले सूर्य हमारे नेत्रों को देखने शक्ति प्रदान करने वाले बनें । 'हम आदित्य को जानते हैं । हम सहस्ररश्मि वाले भगवान् भास्कर का ध्यान करते हैं । वे सूर्य हमें प्रेरणा दें ।' पीछे आगे, इधर-उधर सब ओर सविता देव हैं । वे सविता देव हमारे निमित्त सब कुछ उत्पन्न करें । वे हमें दीर्घायु दें । ॐरूप एकाक्षर मन्त्र ब्रह्म है । 'घृणि' और 'सूर्य' दो-दो अक्षरों के मन्त्र हैं । 'आदित्य' में तीन अक्षर हैं । इन सब के योग से सूर्य नारायण का अष्टाक्षर महामन्त्र हो जाता है । ७ । इस

मन्त्र को नित्य प्रति जपने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है । सूर्य का ओर मुख करके जाप करने से घोर रोग से छुटकारा मिलता है । दरिद्रता दूर होती और पाप नष्ट होते हैं । मध्याह्न काल में सूर्याभिमुख जप करने से हाल में उत्पन्न हुए पंच महापापों से मुक्त होता है । इस सावित्री विद्या की कहीं कुछ प्रशंसा न करे । प्रातः काल पाठ करने वाले की भाग्यवृद्धि होती है । उसे पशु, धन आदि के साथ ही वेदार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है । त्रिकाल जप से सैकड़ों यज्ञों का फल मिलता है । सूर्य के हस्त नक्षत्र पर रहते हुए इसका जप करने वाला महामृत्यु से पार होता है तथा इस प्रकार जानने वाला भी महामृत्यु को लांघ जाता है ।

॥ सूर्योपनिषत् समाप्त ॥

चतुर्वेदोपनिषत्

ॐ अथातो मनोपनिषदमेव तदाहु: । एको ह वै नारायण आसीत् । न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निः न वायुः नेमे द्यावा-पृथिवी न नक्षत्राणि व सूर्यः । स एकाकी नर एव । तस्य ध्याना-न्तस्स्थस्य ललटात् स्वेदोऽपतत् । ता इमा आपः । ता एते नो हिरण्यमयमन्नम् । तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत । स ध्यातपूर्वा-मुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिः गायत्रं छन्द ऋग्वेदः । पश्चिमा-मुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दः यजुर्वेदः । उत्तरा-मुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः । दक्षिणा-मुखो भूत्वा जनदिति व्याहृतिरानुष्टुभ छन्दोऽथर्ववेदः ॥ १ ॥

हाँ तो इसे महोपनिषत् ही कहा जाता है। सर्वप्रथम एक नारा-यण ही था । न तो ब्रह्मा ही, न ईशान (शिव) ही, और न वायु, पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र एवं सूर्य में से कोई था । वह अकेला नर ही था। ध्यान में स्थित उस नर के मस्तक से पसीना गिरा । वही यह ज़लराशि है । यही वह हमारे सुनहरे अन्न हैं । वही ब्रह्मा चार मुख वाला हुआ । उसने पूर्वाभिमुख होकर 'भूः' इस व्याहृति गायत्री छन्द एवं ऋग्वेद, पश्चिमाभिमुख होकर 'भूः' इस व्याहृति त्रिष्टुप छन्द एवं यजुर्वेद, उत्तराभिमुख होकर 'भुवः' इस व्याहृति जगती छन्द तथा सामवेद, और अन्त में दक्षिणाभिमुख होकर जनद् इस व्याहृति अनुष्टुप छन्द तथा अथर्व वेद का उच्चारण किया ॥१॥

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वसम्भवम् ।
विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ॥२॥
विश्वमेवेदं पुरुषं तं विश्वमुपजीवति ।

ऋषिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे तं विश्वरूपिणम् ॥३॥
पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम् ।
हृदये चाप्यधोमुखं सततस्यत्यैशीत्कराभिश्च ॥४॥
तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः ।
तस्य मध्ये बह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥५॥
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ।
स ब्रह्मा स ईशानः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥६॥

हजारों शिर वाले हजारों आँखों वाले, विश्व की उत्पत्ति करने वाले परमदेव जो कि सर्वत्र व्यापक हैं हमेशा सर्वत्र विद्यमान एवम् नारायण, हरि आदि शब्दों से प्रसिद्ध हैं। उस ऋषि स्वरूप संसार के स्वामी समुद्रशायी विश्व रूप परम पुरुष का आश्रय लेकर ही यह संसार जीता है। कमलकोश के समान आकोश की तरह हृदय में अधोमुख होकर लटका है जो अपनी शक्तियों से सर्व कुछ करता है। उसके बीच में महान् अग्नि है जिनकी ज्वाला चारों ओर लपट मारती है एवम् चारों मुख वाली (लपकने वाली) है। उसके बीच में भी बह्निशिखा है जो कि अणीय के ऊपर स्थित है। उस शिखा के मध्य में ही परमात्मा स्थित है जो कि स्वयं ही ब्रह्मा शिव अक्षर (ब्रह्म) एवम् परम प्रभुः स्वयं प्रकाश है ॥२–६॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीतः उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। तेन सर्वैः ऋतुभिरिष्टं भवति। गायत्र्याः षष्टिः सहस्राणि जप्तानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां सहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्ति पुनाति

आसप्तमात् पुरुषं पुनाति । जाप्येन अमृतत्त्वं च गच्छति अमृतत्वं च गच्छति इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः ॥७॥

जो ब्राह्मण इस महोपनिषद् को पढ़ता है वह यदि अश्रोत्रीय हो तो श्रोत्रीय (कर्मकाण्डी) हो जाता है । अनुपनीत हो तो उपनीत (यज्ञोपवीती) हो जाता है । वह अग्नि पवित्र, वायुपवित्र, सूर्य पवित्र, सोम पवित्र, सत्य से पवित्र माना जाता है, हो—जाता है । उसे सभी देव जानते हैं । उसने सभी तीर्थों का स्नान कर लिया, तथा सभी यज्ञ भी कर चुका, उसने तो गायत्री के साठ हज़ार जप कर लिए । इतिहास तथा पुराणों के हजारों जप वह कर चुका । दस हजार ॐकार का जप वह कर चुका । वह पुरुष अपनी दृष्टिमात्र से मनुष्यों की लाइनों को (हजारों मनुष्यों को) पवित्र कर देता है । सातवीं पीढ़ी तक के मनुष्यों को पवित्र कर देता है एवम् जो इसे पढ़ता है वह अमृतत्व को निश्चित ही प्राप्त कर लेता है, ऐसा भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा है ॥७॥

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायंस्ते देवा रुद्रमपृच्छंस्ते देवा ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुवन्ति । भूस्त्वादिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा शान्तिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम् । अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवा नमस्याम धूर्तेरमृतं मृतं मर्त्यं च सोमसूर्यपूर्वजगदधीतं वा यदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं ग्राह्यं ग्राह्येण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण ग्रसति तस्मै महाग्रासाय नमः ॥८॥

देवता स्वर्ग लोक में आये तथा हाथ उठाकर रुद्र की स्तुति करते हुए उनसे पूछा (कहा) तेरा आदि भूःमध्य भुवः शिर स्वः है, तू विश्वरूप है, तू ही एक ब्रह्म है । द्विविध, त्रिविध शक्ति हुत (होम किया गया) अहुत, दिया, न दिया, सर्व (सब कुछ) असर्व, विश्व (संसार) अविश्व, किया न किया, पर, अपर परायण सब तू ही है । हम सोम पान

अमृत होवें, हमें ज्ञान प्राप्त हो, हम देव आपको नमस्कार करते हैं, अमृत, मृत, मर्त्य, सोम, सूर्य, पूर्व संसार, अधीत या जो अक्षर (अविनाशी) प्राजापत्य, सौम्य सूक्ष्म है उसे ग्राह को ग्राह से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से ग्रसित करते हैं उस महाग्रास को (ग्रसित करने वाले को) नमस्कार हैं ।।४।।

।। चतुर्वेदोपनिषद् समाप्त ।।

चाक्षुषोपनिषत्

ॐ अथातश्चाक्षुषीं पठितसिद्धविद्यां चक्षूरोगहरां व्याख्यास्यामः। यच्चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यंति। चाक्षुषी दीप्तिर्भविष्यतीति। तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः। गायत्री छन्दः। सूर्यो देवता। चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव। मां पाहि पाहि। त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय। मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय। यथाऽहं अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय। कल्याणं कुरु कुरु। यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुः प्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय। ॐ नमः चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय। ॐ नमः करुणाकरायामृताय। ॐ नमः सूर्याय। ॐ नमो भगवते सूर्याय-क्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः रजसे नमः। तमसे नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय। उष्णो भगवाञ्छुचिरूपः। हंसो भगवान् शुचिः प्रतिरूपः। य इमां चक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुले अन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति ॥

अब पाठ मात्र से सिद्ध हो जाने वाली चाक्षुषी विद्या का वर्णन करते हैं। यह विद्या नेत्र-रोगों का नाश करने वाली है तथा नेत्रों को तेजयुक्त करने में समर्थ है। इस विद्या के ऋषि अहिबुध्न्य, छन्द गायत्री, देवता सूर्य है। इसका विनियोग नेत्र-रोगों के कामनार्थ होता है।

हे सूर्यदेव ! तुम चक्षु के अभिमानी देवता हो। तुम चक्षु में चक्षु

के तेज रूप से स्थिर होओ। मेरी रक्षा करो, रक्षा करो रक्षा करो। मेरे नेत्र-रोग को शीघ्र शान्त करो, शान्त करो। मुझे अपने स्वर्ण के समान तेज के दर्शन कराओ। जिससे मैं अन्धा न होऊँ ऐसा उपाय करो, उपाय करो। मेरा कल्याण करो। मेरे जितने ऐसे पाप हैं जिनके द्वारा देखने की शक्ति अवरुद्ध हो रही है उन सबको समूल नष्ट कर दो। नेत्रों को तेज देने वाले दिव्य स्वरूप भगवान् भास्कर को मेरा नमस्कार है। करुणा करने वाले अमृतस्वरूप को मेरा नमस्कार है। सूर्य भगवान् को नमस्कार है। नेत्रों के प्रकाश रूप सूर्य नारायण को नमस्कार है। आकाश में विहार करने वाले सूर्य को नमस्कार है। अत्यन्त श्रेष्ठ रूप को नमस्कार है। रजोगुणमय सूर्य को नमस्कार है। तमोगुण के आश्रय-भूत सूर्य को नमस्कार है। हे प्रभो ! मुझे असत से सत् की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलो। उष्णता युक्त भगवान् सूर्य शुचि रूप हैं। हंस रूप भगवान् सूर्य शुचि रूप तथा अप्रतिरूप हैं। जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्या का पाठ नित्य करता है, उसे नेत्रों से सम्बन्धित कोई रोग नहीं होता। उसके कुल में कोई अन्धा नहीं होता। यह विद्या आठ ब्राह्मणों को उपदेशित करने पर इसकी सिद्धि प्राप्त होती है।

ॐ विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं
हिरण्मयं पुरुषं ज्योतिरूपं तपन्तम्।
विश्वस्य योनिं प्रतपन्तमुग्रं
पुरः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिन्यहोवाहिनी स्वाहा। ॐ वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अपध्वान्तमूर्णु हि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्। पुण्डरीकाक्षाय नमः। पुष्करेक्षणाय नमः। अमलेक्षणाय नमः। कमलेक्षणाय नमः। विश्वरूपाय नमः। महाविष्णवे नमः ॥

जो भगवान् सूर्य सच्चिदानन्द रूप है तथा यह विश्व जिनका रूप है, जो सबके जानने वाले और अपनी किरणों से सुशोभित हैं, जो ज्योति स्वरूप, हिरण्यमय, जगत के उत्पत्ति स्थान, पुरुष रूप में तपने वाले हैं, उन प्रचण्ड तेज वाले सूर्य नारायण को हम नमस्कार करते हैं। यह भगवान् सूर्य सम्पूर्ण प्राणियों के सामने प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हो रहे हैं।

छः प्रकार के ऐश्वर्यो से सम्पन्न भगवान् सूर्य को नमस्कार है। उनकी प्रभा दिवस की भारवाहिनी है। हम उन सूर्य भगवान् के लिए श्रेष्ठ आहुतियाँ देते हैं। जिन्हें मेधा से अत्यन्त प्रेम है वे ऋषिगण श्रेष्ठ पंखों वाले पक्षी के रूप में भगवान् सूर्य के समीप जाकर निवेदन करने लगे—'भगवन्! इस अन्धकार को दूर करो। हमारे नेत्रों को प्रकाशमय करो। हम सब प्राणी तमोमय बंधन में पड़े हुए से हैं, हमें अपना दिव्य प्रकाश प्रदान कर मुक्त करो। पुण्डरीकाक्ष को नमस्कार! पुष्करेक्षण को नमस्कार। अमलेक्षण को नमस्कार। कमलेक्षण को नमस्कार। विश्व स्वरूप को नमस्कार। भगवान् महाविष्णु को नमस्कार।

॥ चाक्षुषोपनिषद् समाप्त ॥

कलिसंतरणोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हरिः ॐ द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं संतरेयमिति । स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि । भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति । नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति । स होवाच हिरण्यगर्भः । हरे राम हरे राम राम राम हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।

द्वापर युगके अंत की बात है । नारद मुनि ब्रह्माजी के पासजाकर बोले—'प्रभु ! मैं भू लोक में घूमता हुआ किस तरह से कलि काल से छुटकारा पाने में समर्थ हो सकता हूँ । ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स ! आज तुमने अत्यन्य प्रिय बात पूछी है । समस्त वेद, मन्त्रों का गुप्त रहस्य मैं तुझे बताता हूँ । कलि के दोषों को नाश करने का उपाय भगवान आदिपुरुष नारायण के पवित्र नाम का उच्चारण करना है । नारदजी ने वह नाम पूछा, जिस पर ब्रह्मा जी ने कहा—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम् । नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते । इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम् । ततः प्रकाशते । परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति । पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन्कोऽस्य विधिरिति । तं होवाच नास्य विधिर्रिति । सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति । यदास्य षोडशीकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति । तरति वीरहत्याम् । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । पितृदेवमनुष्याणामपकारात्पूतो भवति । सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात् । सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत् ॥ ॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

कलि के पापों को यह सोलह नाम नाश करते हैं । वेद शास्त्रों में भी इससे अच्छा उपाय दिखाई नहीं देता । इसकी सहायता से सोलह कलाओं से सम्पन्न जीव के पर्दे कट जाते हैं, तभी उस परब्रह्म का वास्तविक स्वरूप साफ-साफ भासने लगता है, जैसे बादल के चले जाने पर सूर्य की किरणों का प्रकाश आ जाता है । इस पर नारदजी ने जप की विधि पूछी । ब्रह्माजी ने उत्तर देते हुए कहा कि इसकी कोई विशेष विधि नहीं है । पवित्र या अपवित्र जिस हालत में हो, इसका जप किया जा सकता है । इसके जप करने से चारों प्रकार की (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) मुक्ति प्राप्त होती है । साधक इस मन्त्र के साढ़े तीन करोड़ जप के पश्चात् ब्रह्महत्याके दोष से निवृत हो जाता है । वह वीरहत्या के दोष से छूट जाता हैं । सोने की चोरी के दोष से मुक्त हो जाता है । मनुष्य, देवता और पिता के प्रति किए गए अपकार के पाप से भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है । सब धर्मों को छोड़ने के दोष से तुरन्त ही छूट जाता है, शीघ्र ही निवृत हो जाता है, शीघ्र ही निवृत हो जाता है—यह उपनिषद् है ।

॥ कलिसंतरणोपनिषद् समाप्त ॥